आधुनिक हिन्दी काव्य में आध्यात्मिक चिन्तन का स्वरूप और विकास

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

शोधकर्ती

श्रीमती अनिता श्रीवास्तव

निर्देशिका

डॉ० मालती तिवारी

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

(सन् 1990)

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध का विषय **''आधुनिक हिंदी काव्य में आध्यात्मिक चितंन का स्वरूप और विकास''** मैंने अपनी गुरू (डा0 मालती तिवारी) के सुझाव से ही चयन किया है । अभी तक इस विषय पर कोई अध्ययन कार्य नहीं हुआ था । अतः ''आधुनिक हिंदी काव्य में आध्यात्मिक चितंन का स्वरूप और विकास'' से सर्वांगीण अध्ययन का यह प्रथम चरण है ।

अभिव्यक्ति की सुविधा के लिए शोध - प्रबंध को छः अध्यायों में विभक्त करना प्रासंगिक लगा । अध्यायों के कई उप विभाग भी स्पष्टीकरण एवं सरलता की दृष्टि से किए गए हैं ।

प्रथम अध्याय का शीर्षक ''आध्यात्मिक चितंनः अर्थ और प्रकृति तथा विकास'' है, जिसके अतंर्गत आध्यात्मिक चितंनके अर्थ, प्रकृति तथा विकास को भली-भांति समझने के लिए इस शीर्ष के दो उप-विभाग भी किए गए हैं । पहले उप विभाग (पारम्परिक विकास - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य) के अंतर्गत वेद, उपनिषद ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वेदान्त आदि का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है । दूसरे उप विभाग (मध्य कालीन काव्य और आध्यात्मिक चितंन का स्वरूप) के अंतर्गत भक्ति-आंदोलन के समय आध्यात्मिकता का क्या अर्थ था ? उसकी प्रकृति कैसी थी ? तथा उसका विकास कैसा था ? इसे दर्शाया गया है ।

अध्याय दो ''आधुनिक युग और आध्यात्मिक नवोन्मेष'' को दो उप-विभागों (धार्मिक पुनरूत्थान और धार्मिक एवं राजनैतिक विचारक) में विभक्त किया गया है । धार्मिक विचारक के अंतगर्त राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक, अरविंद घोष, लाला लाजपत राय आदि तथा राजनैतिक विचारक के अंतर्गत रवींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू तथा बंकिम चंद्र चटर्जी के सहयोग और कृतियों का उल्लेख है ।

अध्याय तीन (भारतेन्दु-युगः आध्यात्मिक चितंन का स्वरूप) को तीन उप विभागों परम्परित दृष्टि और आध्यात्मिक चिंतन, आधुनिक दृष्टि और आध्यात्मिक चिंतन तथा अभिव्यक्ति पक्ष अर्थात् काव्य की संरचना में विभक्त किया गया है । इसमें आध्यात्मिकता के परम्परित और आधुनिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है तथा साथ ही भारतेंदु-युग की आध्यात्मिक कविताओं के भाषा - शिल्प को भी दर्शाया गया है ।

अध्याय चार (द्विवेदी युगीन काव्य में आध्यात्मिकता की पहचान) के अंतर्गत मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय ''हरिऔध', जगन्नाथ दास रत्नाकर आदि की कविताओं, रचनाओं आदि का वर्णन किया गया है, साथ ही उनके आपसी सहयोग को भी दर्शाया गया है ।

अध्याय पाँच (छायावादी काव्य में आध्यात्मिक चिंतन का स्वरूप और विकास)- प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा के विशेष संदर्भ में, को चार उप विभागों में विभक्त किया गया है, जिससे अध्ययन और मनन में सुविधा हो सके । ये चार उप विभाग हैं- छायावादी काव्य की अवधारणा, मानवीय अन्तश्चेतना का प्रभाव, अर्थात् काव्य की अंतर्यात्रा, छायावादी काव्य प्राकृतिक दिव्यता को आध्यात्मिकता की कोटि तक ले जाता है, अभिव्यक्ति पक्ष अर्थात् काव्य की संरचना (बिम्ब योजना, प्रतीक योजना तथा छायावाद की आध्यात्मिक कविता का भाषा और शिल्प विधान) ।

अध्याय छः (नई कविता की आध्यात्मिक दृष्टि) को तीन उप विभागों (प्रगतिवादी काव्य दृष्टि, प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में प्रयोग वाद का उदय, काव्य वस्तुः भाषाःशिल्प, प्रतीक, बिम्ब आदि) में विभक्त किया गया है ।

उपसंहार को अध्ययन के अंतर्गत नहीं रखा जाता है किंतु यहां उसकी प्रकृति स्वतंत्र अध्याय की है । मेरा विश्वास है कि उपसंहार के अंतर्गत अध्ययन की सारी बातें नहीं वर्णित की जा सकतीं,जिसे शोध प्रबंध में प्रस्तुत किया गया है ।

अंत में पुस्तक सूची (हिंदी ग्रंथ-सूची, पत्र-पत्रिकाएं) को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोध - प्रबंध की पूर्णता के लिए मैं उन सभी महर्षियों, कवियों एवं आदर्शजनों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी कृतियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित होकर, मैं अपने शोध - प्रबंध को सम्पन्न् करने में समर्थ हो सकी हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध की पूर्णता पर मैं अपनी गुरू डॉ0 मालती तिवारी, अध्यक्ष हिंदी विभाग (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में मेरा शोध कार्य सम्पन्न हुआ है । वस्तुतः यह शोध - प्रबंध इनके प्रोत्साहन, विद्वतापूर्ण निर्देशन, सतत् प्रेरणा एवं शुभाशीर्वाद का ही प्रतिफल है । हिंदी विभग के अन्य सभी गुरुजनों की मैं ह्दय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे सदैव प्रोत्साहन एवं शुभाशीष प्रदान किया है ।

स्वजनों के प्रति कृतिज्ञता ज्ञापन का प्रयास यद्यपि इनके गौरव के अवमूल्यन का दुःसाहस ही होगा, तथापि प्रेरणा की अजस्र स्रोत आदरणीय अम्मा-पिता जी भइया-भाभी एवं श्वसुर आदि सभी अन्य स्वजनों के प्रति भी मैं इस अवसर पर सादर आभार व्यक्त करती हूँ । मेरे आदरणीय श्वसुर जी की हार्दिक इच्छा थी कि मेरा यह शोध-प्रबंध उनके जीवन-काल में ही पूर्ण हो जाय और इसके लिए उन्होंने मेरा उत्साहवर्द्धन भी किया तथा पग-पग पर हर प्रकार का सहयोग भी दिया । यह उनके सतत् उत्साहवर्द्धन, प्रेरणा और सहयोगका ही परिणाम है जो मैं अपना शोध - प्रबंध सम्पन्न करने में समर्थ हो सकी हूँ । परंतु आज मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि अब जब मेरा यह शोध-प्रबंध पूर्णतया सम्पन्न होने जा रहा है, वो मेरे बीच नहीं हैं । साथ ही मैं अपने पति की भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे हर प्रकार की सुख, सुविधा और सहयोग दिया तथा मेरा उत्साहवर्द्धन किया, जो मेरे लिए सदैव अविस्मरणीय रहेगा ।

इसके अतिरिक्त मैं हिंदी विभाग, विभाग के कर्मचारियों एवं केन्द्रीय ग्रंथालय के समस्त कर्मचारियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने सतत् पुस्तकीय सहयोग देकर प्रस्तुत शोध-प्रबंध को पूर्ण कराया है ।

शोध - प्रबंध के टंकक श्री उमा शंकर पाल को धन्यवाद देती हूँ, जिनके श्रम से यह शोध-प्रबंध टंकित होकर वर्तमान रूप प्राप्त कर सका है ।

अंत में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग' के वाचनालय को भी आभार - क्रम से मुक्त नहीं रखा जा सकता है । जहां मेरे अध्ययन - कार्य का अधिकांश भाग सम्पन्न हुआ है । सम्मेलन के अन्य सभी कर्मचारियों के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके सहयोग से मुझे इस शोध, प्रबंध में सहायक पुस्तकों की प्राप्ति में सहायता मिली ।

मानव - सुलभ न्यूनताओं के कारण इस शोध - प्रबंध में त्रुटियों का रह जाना स्वभाविक है; जिनके लिए विद्वत समाज से सुझाव एवं क्षमा की प्रार्थिनी हूँ ।

ईश्वर के प्रति मैं श्रद्धा पूर्वक नतमस्तक हूँ ।

प्रस्तुत-कर्ती
अनिता श्रीवास्तव
अनिता श्रीवास्तव

विषयानुक्रमणिका

अध्याय एक

आध्यात्मिक चितंन - अर्थ और प्रकृति तथा विकास

(क) पारम्परिक विकास - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य - वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वेदांत आदि ।

(ख) मध्यकालीन काव्य और आध्यात्मिक चिंतन का स्वरूप - भक्ति आंदोलन विशेष

अध्याय दो

आधुनिक युग और आध्यात्मिक नवोन्मेष

(क) धार्मिक पुनरुत्थानवाद और धार्मिक - राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक; अरविंद घोष, लाला लाजपत राय आदि

एवं

(ख) राजनैतिक विचारक - रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, बंकिम चंद चटर्जी

अध्याय तीन

भारतेन्दु युग - आध्यात्मिक चिंतन का स्वरूप
(क) परम्परित दृष्टि और आध्यात्मिक चिंतन
(ख) आधुनिक दृष्टि और आध्यात्मिक चिंतन
(ग) अभिव्यक्ति पक्ष अर्थात् काव्य की संरचनाः-
भारतेंदु युगीन आध्यात्मिक कविता की भाषा
भारतेंदु युगीन आध्यात्मिक कविता में शिल्प विधान

अध्याय चार

द्विवेदी युगीन काव्य में आध्यात्मिकता की पहचान - मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और जगन्नाथ दास रत्नाकर के संदर्भ में

अध्याय पाँच

छायावादी काव्य में आध्यात्मिक चिंतन का स्वरूप (प्रसाद, निराला, पंत, और महादेवी के विशेष संदर्भ में),

(क) छायावादी काव्य की अवधारणा (वैचारिक दृष्टि)
(ख) मानवीय अन्तश्चेतना का प्रभाव - अर्थात् काव्य की अंतर्यात्रा
(ग) छायावादी काव्य प्राकृतिक दिव्यता को आध्यात्मिकता की कोटि तक ले जाता है ।
(घ) छायावादी काव्य की संरचना और आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति में सहायक-भाषा और शिल्प विधान, बिम्ब, प्रतीक योजना ।

अध्याय छः

नई कविता की आध्यत्मिक दृष्टि
(क) प्रगतिवादी काव्य दृष्टि
(ख) प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में प्रयोगवाद का उदय
(ग) काव्य वस्तु- भाषा - शिल्प बिम्ब आदि सभी क्षेत्रों में नवीनता की तलाश

उपसंहार

(क) हिंदी ग्रंथ-सूची
(ख) अंग्रेजी ग्रंथ-सूची
(ग) पत्र-पत्रिकाएं

अध्याय एक

आध्यात्मिक चिंतन - अर्थ और प्रकृति तथा विकास

आधुनिक युग में आध्यात्मिकता का स्वरूप और अर्थ

आध्यात्मिकता कोई स्थायी प्रत्यय नहीं है । युग के अनुरूप आध्यात्मिकता का स्वरूप बदलता रहा है । अर्थात् आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक परिवर्तनों के साथ आध्यात्मिकता का स्वरूप भी बदलता है । वस्तुतः इसका परीक्षण मानवीय अभिव्यक्तियों में देखा और किया जा सकता है और उसी के अनुसार या उसी के द्वारा आध्यात्मिकता के स्वरूप का विवेचन भी संभव हो सकता है । जिस कर्मकाण्ड को रूढ़ मानकर आज या लगातार बदलते हुए युग-संदर्भ में हम छोड़ देने की बात करते हैं; वही कर्मकाण्ड किसी समय आध्यात्मिक प्रत्ययों के प्रत्यक्षीकरण के लिए बनाया गया था । अंततः चिंतन को छोड़कर लोग उसी को आध्यात्मिक स्वरूप मानने लगे। निश्चय ही इन प्रवृत्तियों से आध्यात्मिकता का विकास रुका । लेकिन साथ-ही-साथ मनुष्य ने अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए जो माध्यम चुने, उनमें मानवीय सेवा ही प्रमुख रूप से उभर कर सामने आयी है । तुलसीदास का यह कथन- **परहित सरिस धरम नहीं भाई.....** जैसे प्रत्यय आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति के रूप में हमें सभी धर्मों, सभी कालों में दिखायी देते हैं ।

इस सत्य की खोज के लिए हमें वैदिक काल, आचार्यों के चिंतन और भक्ति के अविरल प्रवाह में जाना पड़ेगा, जहां से हम आध्यात्मिकता के स्रोत को देखने की चेष्टा करेंगे ।

एक वर्ग ऐसा है जो आध्यात्मिकता को सार्वकालिक प्रत्यय मानता है । ईश्वर संबंधी मानवीय चिंतन को ही आध्यात्मिकता कहा जाता है और उसी के चिंतन में आध्यात्मिकता के स्वरूप और अर्थ की पहचान मानता है, किंतु इतिहास साक्षी है कि ईश्वर के संबंध में समय-समय पर विवाद होता रहा है । यद्यपि ईश्वर चिरन्तन है, बदला है तो मनुष्य के सोचने-समझने का ढंग क्योंकि मनुष्य विकास के क्रम में समय और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित हुआ है। परिणामतः मनुष्य के इस बदलाव से ईश्वर संबंधी चिंतन के प्रत्ययों में भी बदलाव आया है ।

भारतीय संस्कृति अपने विकास के अगले चरणों में आध्यात्मिकता के नये और व्यापक अर्थों को स्पर्श करती है । विशेष कर जैन और बौद्ध धर्म के आगमन के पश्चात् एक ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि का विकास होता है, जिसमें यह सोचना संभव हुआ कि बिना ईश्वर के अस्तित्व की चिंता किये भी जीव और जगत् के साथ ऐसे संबंधों की परिकल्पना की जा सकती है, जिसमें हम उन्हीं सत्यों और आचरणों पर बल दें, जिनकी चर्चा उपनिषदों में की गयी है । इस प्रकार एक ऐसे आध्यात्मिक चिंतन और आचरण का विकास हुआ जिसमें ईश्वर के अस्तित्व पर ही विश्वास करना अथवा उसकी चिंता करना अनिवार्य नहीं था, फिर भी जीव मात्र में एकता की

अनुभूति इस नयी आध्यात्मिकता की परिधि में उतनी ही गहराई से संभव हो सकी है जितनी प्राचीन काल में हुआ करती थी ।

मानव जाति अपने विकास के प्रारंभिक चरणों में ही कभी-न-कभी सृष्टि के आश्चर्यजनक और चमत्कृत कर देने वाले पक्षों को देखकर यह सोचने पर बाध्य हुई कि इस विराट व्यक्त जगत् का रचयिता कौन है ? भले ही उसके पास भाषा नहीं रही हो । चिंतन की स्पष्ट रेखाएं भी उसके मन में चाहे साफ-साफ नहीं उभरती रहीं हों, लेकिन अपने अन्तर्मन में वह इस सृष्टि की विराटता, मनोरमता आदि से बहुत गहराई से प्रभावित होती रही होगी । अगाध और निस्सीम सागर अपनी उत्ताल तरंगों से बार-बार उसकी चेतना को खटखटाता रहा होगा । असंख्य पर्वत-शृंखलाएं अपनी ऊंची-ऊंची हिमाच्छादित चोटियों से उसके मन मेंएक विचित्र श्रद्धा का भाव उत्पन्न करती रही होंगी। आकाश अपने वक्ष में असंख्य नक्षत्रों और ग्रहों को धारण करते हुए उसके लिए आश्चर्य बनता रहा होगा । प्रतिदिन प्राची में उदय और पश्चिम में अस्त होने वाला सूर्य उसे आश्चर्य से विभोर करता रहा होगा । चारों ओर प्राकृतिक सुषमका अक्षय कोष मनुष्य की चेतना पर आघात करत रहा है और हर बार उसके भीतर एक प्रश्न उभरता रहा कि इस विराट और अदभुत सृष्टि का निर्माण करने वाला वह परम शक्ति कौन है ? यह जिज्ञासा मनुष्य के मन में क्रमशः समय के साथ और गहरी होती चली गयी होगी और बार-बार अपनी कल्पना में अनुप्राणित होनेवला उस शक्ति के प्रतिएक विचित्र आत्म-समर्पण के भाव से विनत हो उठता रहा । आध्यात्मिक चेतना की यह प्रथम अनुभूति धीरे-धीरे मनुष्य की चेतना के विकास के साथ-साथ अधिक गहरी और व्यापक होती गयी ।

आध्यात्मिक चिंतन - ऐतिहासिक विकास (या परिप्रेक्ष्य)

आदिमकालीन आर्य जीवन की जिस कठिन यात्रा पर निकल पड़े थे उसमें जंगली पशु और प्रकृति की ऐसी शक्तियां, जिनका भेद वे नहीं जानते थे, उनके रास्ते में रुकावटें खड़ी कर रहीं थीं । प्रकृति की घटनाओं को समझना और अपनी आवश्यकताओं के लिए उनका लाभ उठा सकना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात थी। सूर्य और चन्द्रमा, प्रकाश और अंधकार, बाढ़ और सूखा, बिजली और चमक और बादलों की गरज, जीवन और मृत्यु-हर जीच उन्हें प्रतिकूल और भयप्रद प्रतीत होती थी। समझ में न आने वाली इन सभी प्राकृतिक घटनाओं पर उन्होंने देवत्व आरोपित किया ।

प्रकृति और समाज के नियमों से अनभिज्ञ आदिकालीन आर्य यर्थाथ के प्रति अन्धविश्वासों और अवैशनिक तथा काल्पनिक धारणाओं के शिकार बन गये । वे ही पार्थिव शक्तियां, जो उनके दैनिक जीवन को नियंत्रित करती थीं, उनके लिए

अलौकिक शक्तियां बन गयीं । इस प्रकार इन्द्र, वरुण और सूर्य जैसे देवता दृश्यपटल पर आये । आर्य लोग स्वयं इन देवताओं पर अपने गुण, अपनी महत्वाकांक्षाएं और भावावेग आरोपित करते थे । संक्षिप्त में यह कि अपने देवताओं की कल्पना उन्होंने स्वयं अपने रूप में की । आर्येतर लोगों को पराजित करना, जो उनसे अधिक सभ्यता वाले लोग थे, कोई आसान काम नहीं था । अतः उनके विरुद्ध युद्धों में विजय के लिए उन्होंने अपने देवताओं से सहायता की प्रार्थना की । ऋगवेद ऐसी घटनाओं से भरा है। उदाहरण स्वरूप-

अकर्मा दस्युरभि नी अमन्तुरुन्यव्रतों अमानुषः ।
त्वं तस्या मित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय ।। [1]

अर्थात् अत्याचारी, बुद्धिहीन दस्यु हमें चारों ओर से घेरे हैं । वे निर्दयी हैं और झूठे नियम बनाते हैं । हे दस्युओं को नाश करने वाले ! इन दासों के शस्त्रों को खण्डित करों ।

इन्द्र को ऐसा देवता माना जाता था जो शत्रुओं को हराने और उनका नाश करने में मनुष्यों की मदद करते थे । वह पराक्रम, शक्ति और वीरता के प्रतिनिधि थे । उनका वर्णन शत्रुओं का नाश करने वाले, पर्वतों को तोड़ने वाले और दस्युओं को विनाश करने वाले के रूप में किया गया है । युद्ध शुरू होने से पहले और युद्ध के दौरान इन्द्र की प्रार्थना की जाती थीः-

"हे इन्द्र! निश्चल और निर्भीक ! तुमने
शत्रुओं के खिलाफ बिजली की चमक और बादलों की
गरज की अपनी तेज तलवार इस्तेमाल की,
और आकाश के कोने कांप उठे ।
अम्बर को तुमने ही दो भागों में विभाजित कर दिया ।"

ऋग्वेद में वरुण का चित्रण इस संसार के भविष्य का निदेशन और नियंत्रण करने वाले देवता केरूप में किया गया हैः-

वनेषू व्यन्तरक्षि ततान वाणपर्वत्सु पय उस्त्रियासु ।
हृत्सु कर्त वरुणों अप्स्वग्नि दिवि सूर्यमवधात्सोममद्रो ।। [2]

---

[1] ऋग्वेद - 10/22-8

[2] ऋग्वेद - 5/85-2

अर्थात् वरुण ने वनों का सौन्दर्य बिछाया है, मकानों को मजबूत किया है, क्षीरपात्र में क्षीरदिया है! वरुण ने ही हृदयों में अच्छे भाव, जल में अग्नि, आकाश में सूर्य और पर्वतों पर सोम दिया है।

भारतीय चिंता के इतिहास में वेदों का महत्वपूर्ण स्थान है । जहां वह वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न प्रतीकों के प्रति अपने को पूजा-भाव से समर्पित करता है, वहीं वह उषा के सौन्दर्य को देखता है । कहीं वह अज्ञात काल-पुरुष की प्रार्थना में गायत्री मंत्र को उद्घोषित करता है ।

सूर्य और चन्द्र, अग्नि और वरुण, उषा और सन्ध्या उस ऋषि की कल्पना के केन्द्र में बार-बार घुमड़ती रहीं । बार-बार उसे लगता था कि ये व्यक्त प्रतीक उस अव्यक्त सत्ता के ही नाना रूप हैं और इस प्रकार इनके प्रति स्वयं को निवेदित करके वह एक प्रकार से उस स्रष्टा के ही प्रति अपने को अर्पित करता रहा ।

वैदिक आर्य अपने देवताओं से केवल यही आशा नहीं करते थे कि वे शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए उन्हें साहस और बल प्रदान करें, बल्कि वे यह भी चाहते थे कि ये देवता प्रचुर मात्रा में उन्हें जीवन की अच्छी वस्तुएं भी प्रदान करें । भौतिक उन्नति, सुख-समृद्धि, दीर्घ आयु, वर्षा, भोजन, स्वास्थ्य, पशुओं और बच्चें की प्राप्ति के लिए भी वे देवताओं से प्रार्थना करते थे-

> ''हे देव ! हमारे शरीरों को बल दो,
> हमारे भारवाही बैलों को शक्ति दो ।
> हमारी संतान और हमारे वंशजों को बलिष्ठ बनाओ,
> ताकि वे जीवित रहें,
> क्योंकि तुम्हीं बल और शक्ति देने वाले हो ।''[1]

प्राचीन आर्यों के इन्द्र, मित्र और वरुण जैसे देवता उन्हें सुख-चैन का जीवन बिताने और प्रकृति की शक्तियों से संचार स्थापित करने में सहायता करते थे, किंतु तकनीकी प्रगति के साथ-साथ इनका महत्व कम होने लगा । विकास की आदिम कम्युनिस्ट अवस्था का सामाजिक संगठन गणों और गोत्रों-कुलों और कबीलों पर आधारित था । इसमें बाद में बहुत से परिवर्तन हुए और एक ही क्षेत्र की सीमाओं के भीतर बहुत से वर्गों को संयुक्त करने वाले सामाजिक समूहों का उदय हुआ । इन परिवर्तनों के फलस्वरूप एकता की जिस नयी चेतना ने जन्म लिया वह आस्था के मामले में भी प्रतिबिम्बित हुई । देवी और देवताओं की इस जबर्दस्त भरमार में ही एक ईश्वर की

---

[1] **ऋग्वेद - 3/53/28**

अवधारणा ने जन्म लिया और उस पर आस्था ने जड़ें पकड़ीं । इस कारण आर्यों के चिंतन में एक नई शक्तिशाली प्रवृत्ति का उदय हुआ । सतपथब्राह्मण में कहा गया है,- ''देवता भी वैसा ही आचरण करते थे जैसा कि मनुष्य ।''

सामाजिक और राजनैतिक परिवेश में एकीकरण के साथ ही देवताओं का भी एकीकरण हुआ। एक सांसारिक सम्राट (राजाओं के राजा) के समानान्तर स्वर्ग के भी एक सर्वोपरि ईश्वर (देवताओं के देवता) का उदय हुआ । अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग देवताओं को सर्वशक्तिमान परमात्मा का स्थान दिया गया, जो इस ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता और संरक्षक माने गये । विविध देवता की प्रार्थना की गयी और उसमें दूसरे समस्त देवताओं के गुणों को आरोपित किया गया। ऋग्वेद के बाद के भगों में ये बदलती हुई अवधारणाएं निम्नलिखित श्लोकों में दिखलायी पड़ती हैं-

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्यकं वा इदं वि वभूव सर्वम् ।। [1]

अर्थात् एक अग्नि है जो अनेक स्थानों पर जलती है, एक सूर्य है जो सर्वत्र प्रकाशित है। एक उषा है, जो इस सबको प्रकाशमान करती है । वह जो परमेश्वर है, उसमें यह सब है ।

एक पद में इस संसार को 'परम' के रूपांतरण के रूप में चित्रित किया गया है। उस परम की अवधारणा एक ऐसे पुरुष के रूप में की गयी है, जिसके सहस्त्र सिर, सहस्त्र नेत्र तथा सहस्त्र पैर हैं, जो अनुष्ठानों के अवसर पर अर्पित किये गये भोजन के कारण बड़े होते गये हैं। यह संसार उस 'परम' पुरुष का एक अंश मात्र है । आकाश उसका मस्तक है, सूर्य उसकी आंख है, पृथ्वी उसका पैर है, पवन उसकी श्वास है और नक्षत्र उसके बाल हैं । यह संसार उसके शरीर का चतुर्थांश है । यह ब्रह्माण्ड और इसका भूतकाल व भविष्यत् काल सब पुरुष रूप ही हैं-

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतयच्चभाष्यम ।[2]

एक दूसरे सूत्र में कहा गया है कि यह संसार हिरण्यगर्भ से, जो आकाश और पृथ्वी को संभाले हुए है, उत्पन्न है । विश्वकर्मा को , जो हिरण्यगर्भ के समान ही एक देवता है, इस संसार का शिल्पी माना गया है ।

---

[1] ऋग्वेद - 3/53/28
[2] ऋग्वेद - 8/58/2

एक श्लोक में कहा गया है कि देवताओं का जन्म इस संसार के बाद हुआ। वैदिक कर्मकाण्डों का मौलिक उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति अथवा ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं था। उनका उद्देश्य जीवन की अच्छी-अच्छी वस्तुएं, अच्छी संतानें, धन, गाय-बैल आदि प्राप्त करना अथवा शत्रुओं का संहार करना था। जिन देवताओं की पूजा उस समय की जाती थी, वे प्रकृति के साधारण तत्व थे, जो भोग उन्हें चढ़ाये जाते थे, वे दूध, घी, अनाज तथा सोमरस थे।

उपनिषदों में आध्यात्मिकता का स्वरूप

'अधि+आत्म' को यदि हम अन्तर्मुखी होना मान लें तो इस प्रक्रिया के द्वारा की गयी साधना तथा चिंतन या विचार प्रणाली को आध्यात्मिक चिंतन कह सकते हैं।

भारतीय उपनिषद् इस आध्यात्मिक चिंतन के सार कहे जा सकते हैं। इन उपनिषदों में जीवन के निगूढ़ प्रश्नों से टकराने की कोशिश की गयी है। एक वाक्य में उपनिषद् आत्मा-परमात्मा के अन्तःसंबंधों की नाना व्याख्याएं हैं, जिन्हें हम अनेक सूत्रों में अभिव्यक्त होते हुए देखते हैं। एक ही ब्रह्म नाना रूपों में अभिव्यक्त है अथवा 'अहम ब्रह्मासि' जैसे सूत्रों के द्वारा उपनिषद्‌कार कहता है कि कण-कण में उसी ब्रह्म का निवास है। ऐसी परिकल्पनाएं और अद्वैतवाद के गूढ़ तत्व इन्हीं उपनिषदों से प्रस्फुटित हुए हैं।

उपनिषदों के युग में अध्यात्म एक प्रकार से आस्तिकता से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ था। ईश्वर में विश्वास एक प्रकार की आध्यात्मिक अनिवार्यता थी। जीव और परमात्मा के अंतःसंबंध अथवा एकत्व पर ही सारा अध्यात्म-चिंतन केन्द्रित था। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र मूलतत्व है और यही अंतिम तत्व भी है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस भौतिक जगत को माया-रूप में अंकित किया गया है और कल्पना की गयी है कि जीव बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है तथा मरता है — जब तक कि वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर परमात्मा मे विलीन न हो जाए।

'कैनोपनिषद' के आरंभ में ही प्रश्न पूछा गया है...' किसकी इच्छा और किसके निर्देश से मन वस्तुओं पर स्थित होता है ? किसके आदेश से जीवन का प्रथम चरण

चलता है ? किसकी इच्छा से लोग बोलते हैं ? वह कौन-सा देवता है जो आँख और कान को कार्य के लिए संकेत देता है ?[1]

इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में पूछा गया है...''.... हम कहां से उत्पन्न हुए हैं? हम किस आधार पर जीवित हैं ? हम किस पर स्थिर हैं ?.... किसके आदेश से हम सुख में अथवा दुख में अपना जीवन बिताते हैं ?''[2]

''मन चंचल क्यों रहता है ? मस्तिष्क अविश्रांत क्यों है ? जल एक क्षण को भी रुके बिना क्यों निरंतर बहता रहता है ?''[3]

बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रश्न पूछा गया है कि... ''मनुष्य जब सो जाता है तब उसकी बुद्धि कहां चली जाती है ? और कहां से लौट आती है ?''[4]

किंतु इन प्रश्नों के उत्तर सभी उपनिषदों में एक जैसे नहीं दिये गये हैं । भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न उत्तर दिये गये हैं । कुछ कहते हैं कि सत् का उद्भव असत् से हुआ । किंतु दूसरे इसके एकदम विपरीत बात कहते हैं । कुछ दार्शनिकों की अवधारणाएं द्वैतवादी थीं तो कुछ की अद्वैतवादी । कुछ दार्शनिक इस दृष्टिकोण के समर्थक थे कि इस गोचर जगत् से परे कोई अन्य दैवी शक्ति भी है, जबकि दूसरे ऐसी किसी बाह्य अलौकिक शक्ति के अस्तित्व की संभावनाओं तक से इन्कार करते थे । कुछ दार्शनिकों का मत था कि शरीर से स्वतंत्र एक जीवंत आत्मा होती है, जो शारीरिक क्रिया-कलापों की गति रुकने पर अस्तित्वहीन हो जाती है। अन्य दार्शनिकों का विचार था कि भौतिक शक्तियां आध्यात्मिक अथवा तात्विक शक्तियों पर निर्भर हैं।

उप निषदों के विस्तार में बहुत से सूत्रों की अनेक बार आवृत्ति हुई है, किंतु ऋषि वादरायण ने जिस ब्रह्मसूत्र की रचना की है उसमें सारे उपनिषदों का सार-तत्व है । वे बड़ी ही तात्विक दृष्टि से अभूतपूर्ण चिंतन-सूत्रों को एकाकार करसके हैं,जिन्हें उपनिषदों का सार-संक्षेप कहा जा सकता है।

इसी ब्रह्मसूत्र की बाद में अनेक आचार्यों द्वारा फिर अलग-अलग व्याख्याएं होने लगीं । जैसे शंकराचार्य ने इसी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या से अद्वैतवाद का विकास किया । रामानुजाचार्य ने इसी से विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की, किंतु सबके मूल में जो केन्द्रीय

---

[1] डा0 राधाकृष्णन - द प्रिन्सिपल उपनिषद्स, पृ0 581
[2] वही - पृ0 709
3 वही - पृ0 769
4 वृहदारण्यकोपनिषद – 1/16

भाव है, वह है-- आत्मा और परमात्मा के बची एकत्व की अनुभूति और सृष्टि के नाना तत्वों के तरह-तरह के भेदों के बीच उस अभेद का दर्शन करना, जो इस मूल दर्शन परम्परा का केन्द्रीय स्वर है । भारतीय काव्य में मध्य युग से ही हम इस अद्वैत तत्व का दर्शन करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में यह अद्वैतता जीव और ब्रह्म के एकत्व की दृष्टि से नाना रूपों में झंकृत होती है ।

तैतिरीय उपनिषद् में कहा गया है – "तथ्समाद्वा एतस्मादात्मन् आकाशः सम्भूतः । आकाशद्वायुः । वायोरग्निः। अग्नेरापः । अदभ्यः पृथिवी । पृथिव्या औषधयः । ओषधीम्यों न्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुष ।"[1]

अर्थात्, इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु उत्पन्न हुई । वायु से अग्नि उत्पन्न हुई । अग्नि से जल उत्पन्न हुआ । जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई । पृथ्वी से जड़ी-बूटियां और पेड़-पौंधे उत्पन्न हुए । इनसे अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से मनुष्य उत्पन्न हुआ.....।

कठ और ईश उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तस् की स्वार्थी प्रवृत्तियां जब समाप्त हो जाती है तब वह अमृत बन कर ब्रह्म पद को प्राप्त करता है । उपनिषद् कहते हैं कि जब मनुष्य ब्रह्म को जान लेता है तब वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है । इसलिए मुण्डक और वृहदारण्यक उपनिषदों में कहा गया है कि "ब्रह्म" का ज्ञान ही ब्रह्म है । छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि दान, तप, सदाचरण, किसी को हानि न पहुंचने की प्रवृत्ति और सत्य का भाषण जीवन रूपी यज्ञ की दक्षिणा है । उदार मन, पावन विचार, शिष्ट व्यवहार, स्त्रियों का आदर, विद्वानों की सेवा आदि जीवन के महाव्रत माने गये हैं । इन्हीं गुणों से आत्मा को सुख और संतोष मिलता है । उपनदिषदों के अनुसार आध्यात्मिकता का संबंध कर्म से भी उतना ही गहरा है, जितना बौद्धिक ज्ञान से । उपनिषद्कार यह मनाता था कि गृहस्थ जीवन में निवास करके भी मनुष्य बहुत बड़ा सदाचारी और सत्यनिष्ठ बन सकता है । याज्ञवल्वय या ऐसे अनेक ऋषियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं । गृहस्थ धर्म आध्यात्मिक उपलब्धि के ऊंचे-ऊंचे सोपान तक पहुंचने के लए भी सर्वथा उपयुक्त माना जाता था ।

उपनिषदों में कुछ स्थल ऐसे हैं जहां कहा गया है कि स्वयं मनुष्य ही ब्रह्म है, मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है ।

इस प्रकार आधुनिक दार्शनिकों के अनुसार यही परम सत्य था कि आत्मा और ब्रह्म के बीच कोई भेद नहीं है । मनुष्य में बसने वाली आत्मा और समस्त ब्रह्माण्ड में

---

[1] **तैत्तिरीयोपनिषद – दो – 1/1**

संचार करने वाली जीवन-शक्ति दोनों एक ही हैं । अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र है । हर चीज ब्रह्म से व्याप्त है । निस्सन्देह, यह समस्त संसार ब्रह्म है, उससे ही यह उत्पन्न होता है । उसमें ही यह लीन हो जाता है और उससे ही यह अनुप्राणित है । ''सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शांत उपासीत''[1] जीवात्मा और ब्रह्मण्डीय आत्मा में जो स्पष्ट द्वैत दिखाई पड़ता है, वह अज्ञान का परिणाम है । इस अज्ञान से मुक्त हो जाओ, तब तुम देखोगे कि 'तू वही है' और 'मैं ब्रह्म हूं' ।

आधुनिक दार्शनिकों ने इस संसार की एकता को इस रूप में देखा कि वह चेतना की उपज है, ब्रह्म की उपज है । अनेकता में एकता का अर्थ उनके लिए यह था कि प्रकृति की विविध प्रक्रियाएं और उसकी अनेकानेक घटनाएं ब्रह्म की, परमात्मा की अभिव्यक्ति हैं ।

उपनिषदों के बाद आध्यात्मिक चिंतन का विकास आगे किस प्रकार हुआ इसे हम ब्राह्मण धर्म में देख सकते हैं ।

ब्राह्मण धर्म और अध्यात्मिकता का स्वरूपः-

जनता के सामाजिक और आर्थिक जीवन में जो परिवर्तन हुए थेवे वास्तविक तौर से उनकी धार्मिक मान्यताओं और उनके विश्व दृष्टिकोण से भी प्रतिबिम्बित हुए । प्रारंभिक दास प्रथा वाले समाज के आर्यों का धर्म ब्राह्मणवाद कहलाया । ब्राह्मणवाद ने ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दि के पूर्वाद्ध में, अर्थात् ईसा पूर्व दसवीं और सातवीं शताब्दियों में मध्य रूप ग्रहण किया और क्रमशः पुरोहितों के साहित्य में इसे विस्तार दिया गया ।

भारत में धर्म पर आस्था सदा सामाजिक प्रगति के लिए प्रतिकूल नहीं रही । सच माना जाय तो इसने प्रायः ही उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का रूप धारण किया। भारत में कितने ही सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष धार्मिक सुधारों की आड़ में लड़े गये । इस प्रकार धार्मिक आन्दोलनों ने, विशेषकर उस समय जब वे प्रारंभिक अवस्था में थे और उन्होंने किसी पंथ या संप्रदाय का रूप धारण नहीं किया था, एक गतिपूर्ण और प्रगतिशील भूमिका अदा की । जैसा कि हमारे इतिहास के कितने ही मोड़ों पर जनता में धार्मिक शिक्षाओं के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने विलक्षण सृजनात्मक शक्ति को जन्म दिया—ऐसी शक्ति को जन्म दिया जो अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक हुई ।

---

[1] **छान्दोग्य उपनिषद्-तीन, 14/1**

दैवी अन्य तत्व ही नहीं वरन् ऐसी ब्रह्मण्डीय आत्मा भी है जो मानव व्यक्तित्व का आधार है और उसे नित नया बल प्रदान करने वाली शक्ति है । ब्रह्म जो ब्रह्माण्ड का प्रथम तत्व है आत्मन् के द्वारा अर्थात् मनुष्य की अंतरात्मा के द्वारा पहचाना जा सकता है ।[1]

ब्रह्मसूत्र ने उपनिषदों के इस दृष्टि-बिन्दु पर जोर दिया है कि आत्मा ही स्वयं परमात्मा है और यह ब्रह्माण्ड उसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है जिससे ब्रह्म । इसीलिए ब्रह्म को ब्रह्माण्ड का भौतिक तथा सक्षम कारण बताया गया और कहा गया कि ब्रह्म ने ब्रह्माण्ड को स्वयं अपने में से ही उत्पन्न किया, जैसे मकड़ा अपनी अन्तर्वस्तु से जाल बुनता है । बादरायण के अनुसार सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों एक हैं। ब्रह्म ही प्रकृति भी है-

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्[2]

अपने से संबंधित क्रिया के कारण वह अपना रूप बदल देता है और ब्रह्माण्ड बन जाता है । भौतिक तत्वों में ब्रह्म के इस उपान्तरण का उपनिषदों में भी उल्लेख मिलता है-- वह तत्व बन गया--स्थूल तत्व (जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि) और सूक्ष्म तथ्व (जैसे वायु, आकाश) इत्यादि। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है - "सभी जीवों में एक ही ईश्वर छिपा रहता है। वह सर्वव्यापी है, सभी के अंतर में निवास करता है, सभी कर्मों का नियंता और सभी प्राणियों का संरक्षण है, वह सर्वदृष्टा है, चेतन है, अद्वैत है और निर्गुण है"[3] किंतु यदि ब्रह्म ही प्रकृति है अथवा इस ब्रह्माण्ड का मूल पदार्थ है और यदि ब्रह्म, जगत् और परमात्मा एक ही हैं तो इसका अर्थ यह भी होता है कि इस जगत से परे कोई दूसरा चेतन तत्व नहीं है, कि पदार्थ और आत्मा--प्रकृति और ब्रह्म दोनों एक ही, दोनों यथार्थ हैं । इस प्रकार बादरायण का वेदान्त इस जगत के यथार्थ को स्वीकार करता है और माया तथा मिथ्या के सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले बाद के वेदान्तियों के समान पूर्णतः उसका निषेध नहीं करता।

गीता में आध्यात्मिक तत्व

श्रीमद् भागवत् में यह आत्मा तत्व बहुत विस्तार से व्याख्यायित है । आत्मा और परमात्मा के एकत्व का सिद्धांत बड़े ही तर्कयुक्त ढंग से गीता में निहित है । भगवान् विश्व के घट-घट में व्याप्त हो रहे हैं । ऐसा कौन पदार्थ है, जिसमें उनका अंश न

---

[1] एस राधाकृष्णन - पिसिपल उपनिषदम, पृ0 77

[2] ब्रह्मसूत्र-एक, 4/23

[3] श्वेताश्वतर उपनिषद - 6/12

ब्राह्मणवाद प्राचीन भारत में दास प्रथा के आरंभ काल के समाज का धर्म था । इसने राज्यों को सुदृढ़ बनाने और उन्हें दैवी शक्ति से अभिभूत करने में मदद की । राजाओं की मदद के लिए यज्ञ, बलि एवं अन्य कर्मकाण्ड रचाए जाते थे । इनमें पुरोहित प्रधान भूमिका निभाते थे । राज्य की अधिकार-शक्ति को बल पहुंचाने के लिए देवताओं की अनुकम्पा की आराधना की जाती थी । राजा ईश्वर की इच्छा का मूर्त रूप घोषित किया गया था । यदि कोई शिशु भी राजा के पद पर आसीन कर दिया जाय तो सबको उसकी आज्ञा माननी होती थी । जो लोग अनुशासन को नहीं मानते थे इन्हें राजा का क्रोध पूर्णतः नष्ट कर देता था । वर्णाश्रम-व्यवस्था के अंतर्गत शोषण को भी धार्मिक अधिकारों से विभूषित कर न्यायसंगत ठहराने की कोशिश की गयी थी।

ब्राह्मणवाद की मुख्य शिक्षा थी — अवैयक्तिक, शाश्वत, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान ब्रह्म में विश्वास करो । किंतु ब्राह्मणवाद केवल दर्शनमात्र नहीं था । दार्शनिक विचारों को प्रतिपादित करने के साथ ही उसने आदिम सर्वात्मवादी विश्वासों और कर्मकाण्डों को पुनजीवित किया, उन्हें सुदृढ़ बनाया और उन्हें धार्मक मतवादों में परिवर्तित कर दिया ।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है अपने प्रभुत्व को स्थापित करने और श्रमिक वर्गों का शोषण करने के लिए कही गयी इन समस्त चतुराई भरी बातोंके बावजूद ब्राह्मण पुरोहित वर्ग ने भारतीय राजनीतिक जीवन की उस विशेष अवस्था में, समाज के विकास की ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील भूमिका अदा की । उन्होंने उत्पादक शक्तियों की वृद्धि को प्रोत्साहित किया और इस प्रकार समाज के एक उच्च् स्तर पर पहुंचने के लिए मार्ग तैयार किया । चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों को, जो शारीरिक श्रम के सभी दायित्वों से मुक्त थे, बौद्धिक तथा कलात्मक कार्यों पर ध्यान केन्द्रित करने का अवसर और समय मिला । इन परिस्थितियों के अंतर्गत ही, जो अत्यंत उपयुक्त थीं, श्रेष्ठ साहित्यकारों को, वीरगाथाओं के लेखकों, कवियों, वैयाकरणों, स्मृतिकारों, वेदांग-रचयिताओं और सूत्रों के संकलनकर्ताओं को आगे आने और भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने का अवसर मिला। इस प्रकार ब्राह्मणवाद अपने पीछे बहुमुखी उत्थान लाया । यह उत्थान केवल दर्शनमें ही नहीं, वरन् साहित्य और कला, औषधि-विज्ञान, ज्योतिष तथा अन्य प्राचीन विज्ञानों में भी हुआ है । तब पर भी समाज की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तनों ने आगे चलकर ब्राह्मण वर्ग को, जो एक समय प्रगतिशील था, प्रतिक्रियावादी बना दिया। वे उन नयी सामाजिक शक्तियों को समझने में असफल रहे जो दस्तकारी के सामान के उत्पादक की विधियों में भारी प्रगत, व्यापार में वृद्धि और इसके फलस्वरूप दास प्रथा के अंतिम दिनों में प्रकट होने वाले शक्तिशाली नये वर्ग के साथ उभरी थीं । उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वे अपनी उस पुरानी स्थिति से ही चिपके रहे जिसमें उन्हें प्रभुत्व प्राप्त था और जिसे वे स्वयं देवताओं द्वारा प्रदत समझते

थे । वे उन्हीं बातों की शिक्षा देने में जुटे थे जिन्हें वे शाश्वत समझते थे। अपने अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों के जरिये सामान्य जनों का शोषण जारी रखने से वे विमुख नहीं हुए । इस प्रकार ब्राह्मणवाद सामाजिक प्रगति के पैरों में बेड़ियां बन गया और उसके खिलाफ संघष करना समाज का ऐतिहासिक कर्त्तव्य हो गया । इस कर्त्तव्य को उन नयी शक्तियों ने आंशिक रूप से पूरा भी किया है जो अब सामने आ गयी थीं । उन्होंने और उनके दर्शनों ने आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच संघर्ष को उच्चतर स्तर पर पहुंचा दिया ।

यह एक और व्यापक असंतोष का और दूसरी ओर महान बौद्धिक कार्य-कलाप का युग था। एक प्रकार की निराशा और अनिश्चितता चारों ओर व्याप्त थी । इसने तात्विक रूढ़िवाद के खिलाफ साहसपूर्ण परिकल्पनाओं और विद्रोहों का मार्ग प्रशस्त किया । ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत के बौद्धिक वातावरण का राधाकृष्णन ने निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख किया है:-

''संसार और आत्मा की परिमितता अथवा अपरिमितता के बारे में, दोनों के अस्तित्व अथवा एक के भी न होने के बारे में, यथार्थ और प्रतीत के बीच भेद के बारे में, इस संसार के परे परलोक की वास्तविकता के बारे में, मृत्यु के बाद आत्मा के जीवित रहने के बारे में और मनःशक्ति की स्वतंत्रता के बारे में तीव्र वाद-विवाद जारी थे । कुछ विचारक मस्तिष्क और आत्मा को एक ही मानते थे; कुछ अन्य दोनों के बीच भेद करते थे । कुछ लोग ईश्वर को सर्वोपरि मानते थे—जबकि अन्य मनुष्य को। कुछ यह तर्क करते थे कि हम इसके बारे में कुछ नहीं जानते । कुछ अन्य अपने श्रोतागणों को बड़ी-बड़ी आशाएं बंधाते थे और बड़े विश्वसनीय ढंग से उन्हें आश्वस्त करते थे। कुछ विधिवत् तात्विक सिद्धांतों के निर्माण में जुटे थे; अन्य उतनी ही तत्परता के साथ उनका खण्डन करने में व्यस्त थे । वैदिक परम्पराओं से स्वतंत्र कितने ही सिद्धांतों का जन्म हुआ । इसकी मिसालें बंधनों से मुक्त निगंठ थे, शमन थे अथवा ऐसे सन्यासी थे जो ब्राह्मणवाद की पद्धति से संबद्ध नहीं थे; ऐसे लोग भी थे जो संसार के त्याग में ही आत्मा की शांति ,खोजते थे ; कुछ अन्य थे जो अपने को यंत्रणाओं का शिकार बनाते थे, जो आध्यात्मिक आकर्षण के अनुयायीथे । इनके अलावा द्वन्द्ववादी थे, तर्कवादी थे, भौतिकवादी थे और विचिकित्सावादी थे...। यह परिकल्पनात्मक दुर्व्यवस्था का दौर था, जिसमें धर्म, दर्जनों की असंगतियों की और अस्पष्ट तर्क-वितर्कों की भरमार थी'' ।[1]

बौद्ध धर्म और आध्यात्मिकता का स्वरूप

[1] राधाकृष्णन – इण्डियन फिलासफी, खण्ड 1, पृ0 352-353

बुद्ध के समय कुछ ऐसे दार्शनिक थे जो शाश्वत और अपरिवर्तनशील आत्मा की धारणा का प्रचार करते थे । वे कहते थे कि यह आत्मा जन्म और मृत्यु से मुक्त होती है ; वह स्वेच्छा से किसी भी शरीर में प्रवेश कर सकती है । बुद्ध ने दृढ़तापूर्वक इस अवधारणा का खण्डन किया; क्योंकि कोई भी वस्तु, वह चाहे भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक शाश्वत और परिवर्तनशील नहीं हो सकती । उनके अनुसार आत्मा मात्र एक कल्पना थी, जिसे सदा परिवर्तनशील, निरन्तर गतिमान अवस्थाओं के पांच समूहों ने जन्म दिया था । ये अवस्थाएं थीं,-- शरीर अथवा पदार्थ, अनुभूतियां, संज्ञाएं, आवेश और चेतना की क्रियाएं । संसार की समस्त वस्तुएं, जिसमें अपने समस्त झमेलों सहित मनुष्य भी शामिल है, इन पांच स्कन्धों में विभाजित की जा सकती हैं ।

बुद्ध ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे । वह जनता के जीवन और भाग्य का सृजन और नियंत्रक करने वाली किसी सर्वशक्तिमान अलौकिक दैवी शक्ति के अस्तित्व से इनकार करते थे । उनका कहना था --- "कहा जाता है कि उस परम ने हमारी सृष्टि की है । परंतु जो परम है वह कारण नहीं बन सकता । हमारे चारों ओर जो वस्तुएं हैं वे एक-न-एक कारण से उत्पन्न हुई हैं , जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है । परंतु परम कैसे समान रूप से सब चीजों का कारण हो सकता है ? यदि इन सब में व्याप्त है तो निश्चय ही वह इनका सृजन नहीं करता"।[2]

जैन धर्म और आध्यात्मिकता का स्वरूप

जैन मतावलम्बियों की आत्मा की अवधारणा बौद्धों की अवधारणा से भिन्न थी । बौद्ध जहां आत्मा के यथार्थ से इनकार करते थे वहीं जैन आत्मा की अनश्वरता मं विश्वास करते थे । जैनों का निर्वाण आत्म का निषेध नहीं था, वरन् तीर्थकरों या अहंतों की स्थिति प्राप्त करना था -- अर्थात् आत्मा की वह स्वाभाविक स्थिति प्राप्त करना था जब वह अपने मुक्त और अशरीर रूप में रहती है । किंतु जैन मतावलम्बी बौद्धों से इस बात में सहमत थे कि ईश्वर अथवा सर्वोच्च सत्ता जैसी कोई चीज नहीं है । दोनों ही कम के नियमों में विश्वास करते थे । यहां ईश्वरेच्छा का स्थान आत्मनिर्भरतापूर्ण नैतिक नियम के पालन की प्रक्रिया ने ले लिया था ।

आदिकालिक वेदांत में आध्यात्मिकता का रूप

प्रारंभिक गद्य उपनिषदों में राधाकृष्णन् लिखते हैं,- "आत्मा वैयक्तिक चेतना का तत्व है और ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड का अति वैयक्तिक आधार है । दोनों का भेद शीघ्र ही लुप्त हो जाता है और दोनो समेकित कर दिये जाते हैं । ईश्वर अनुभवातीत,

---

[2] कारुस - द गास्पेल आफ बुद्धा, पृ0 23

हो? फिर विभूतिमान, शोभायुक्त तथा अर्जित पदार्थों में भगवत्-शक्ति और अधिक दिखती है ।

"सांख्याशास्त्र में सृष्टि के मूल में अचेतन जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष इन दोनों तत्वों को ही समस्त पदार्थों को उत्पन्न करने वाला कहा गया है परंतु गीता की दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक, अव्यक्त तथा अमृत-तत्व है जिससे चराचर सृष्टि का उदय होता है । सांख्य में वर्णित प्रकृति पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूति मात्र है । परमेश्वर की प्रकृतियां दो प्रकार की हैं--अपरा तथा परा"।[1] गीता ने घोषणा की कि सभी जीव प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं । "इस प्रकृति के दो रूप हैं--जड़ और चेतन । पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार--ये जड़ स्वरूप के द्योतक हैं जबिक जीव चेतन स्वरूप का द्योतक है । पदार्थ से उत्पन्न तीन गुणों से मुक्त कोई अस्तित्व न तो पृथ्वी पर, न स्वर्ग में अथवा आकाशा पिण्डों में अथवा अन्यत्र कहीं है।[2] पदार्थ ही शरीर और इन्द्रियों का मूल कारण है जबिक पुरुष (अथवा आत्मा) सुख और दुख की अनुभूति उत्पन्न करता है। पुरुष प्रकृति में अवस्थित होकर ही प्रकृति की वस्तुओं का भाग करता तथा तीनों गुणों का अनुभव करता है। इस प्रकार सभी वस्तुओं का फिर वे जड़ हों अथवा चेतन--क्षेत्र (पदार्थ) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के संयोग से उत्पन्न हुआ है ।

किसी मनुष्य की अपनी आत्मा अन्य जीवों की आत्माओं के समान है, अतः जो दूसरों को क्षति पहुंचाता है वह स्वयं अपने को क्षति पहुंचाता है । क्योंकि सभी जीवों में एक ही परमात्मा को देखकर मनुष्य स्वयं अपने-आप अपने को (दूसरों में बसी अपनी आत्मा को) क्षति नहीं पहुंचाता , अतः वह परमधाम को प्राप्त करता है ।

गीता ने आध्यात्मिकता को प्राप्त करने के लिए विविध उपाय बताये--कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग । कुछ दार्शनिक जैसे शंकराचार्य ज्ञान मार्ग को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे; रामानुज और रामानन्द भक्तिमार्ग को; तथा तिलक और गांधी कर्म मार्ग को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे ।

इस प्रकार गीता स्वामी विवेकानंद के शब्दों में,— "उपनिषदों से संग्रहीत आध्यात्मिक सत्यों के मनोरम पुष्पों का सुन्दर पुष्प गुच्छ है ।

अद्वैत वेदान्त और आध्यात्मिकता का स्वरूप

---

[1] पण्डित बलदेव उपध्याय-भारतीय दर्शन, पृ057

[2] -वही- पृ076

शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद पर आधारित एक नई आदर्शवादी प्रणाली को जन्म दिया जो अद्वैत वेदांत के नाम से प्रसिद्ध है । प्राचीन भारत के आदर्शवादी दार्शनिक चेतना, विचार अथवा आत्मा को प्राथमिक मानते थे और पदार्थ को उससे उत्पन्न अथवा विकसित मानते थे । किंतु वे भौतिक यथार्थ से इनकार नहीं करते थे । शंकराचार्य ने इस स्थिति को भी स्वीकार नहीं किया । उनके लिए पदार्थ का कोई अस्तित्व है ही नहीं । ब्रह्म जो सत्, चित् और आनन्द से निर्मित है--एकमात्र और सर्वव्यापी यथार्थ है । विविध घटनाओं से पूर्ण यह जगत अयथार्थ अथवा केवल माया है। यहीं शंकराचार्य की शिक्षाओं का केन्द्रीय तत्व है । इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जीव अर्थात् व्यक्तिगत आत्मा स्वयं ब्रह्म है ।(ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या, जीव ब्रह्मैवनापरः)[1]

शंकराचार्य के समान रामानुजाचार्य भी अद्वैत दर्शन प्रेणता थे । शाश्वत और आनन्दमय ब्रह्म को ही उन्होंने सबसे श्रेष्ठ सत्य माना है; किन्तु उनका अद्वैत शंकराचार्य के अद्वैत से भिन्न था क्योंकि रामानुज के मतानुसार यह जगत केवल भ्रम मात्र नहीं है । उनके अनुसार ब्रह्म, जीवात्माएं और भौतिक जगत सभी यथार्थ हैं और एक दूसरे से भिन्न हैं । ब्रह्म जीवात्माओं की भी आत्मा और इस पार्थिव जगत की आत्मा है ।

शंकराचार्य का ब्रह्म किसी विशिष्ट गुण से रहित था । यह निगुर्ण ब्रह्म था । इसके विपरीत रामानुजाचार्य का ब्रह्म न केवल सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी था वरन उसमें ज्ञान, शक्ति, कल्याण, दीप्ति तथा दया आदि गुण मौजूद हैं । रामानुज ने ब्रह्म को सत्य बताया ।

शंकर के मत के विपरीत रामानुजाचार्य का कहना था कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और उसने अपने अंदर से इस संसार की सृष्टि की है । एक मकड़ी जिस प्रकार अपने अन्दर से जाला बुनती है उसी प्रकार ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है ।

मध्व के मतानुसार इस संसार की सभी वस्तुएं प्रकृति में होने वाले विकास संबंधी परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं । मानव शरीर भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं । प्रकृति ही सत्व, रजस् और तमस् नामक तीन आधारभूत गुणों की स्रोत है ।

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म ही सर्वोच्च यथार्थ है । वह सगुण है । वह आनन्दमयता, सौन्दर्य और दया आदि सुन्दर गुणों से विभूषित है । वही संसार का निमित कारण और भौतिक कारण है । जीव और जगत का उद्‌भव ब्रह्म से हुआ है

---

[1] **शंकर वेदान्तभाष -1-3-17**

जो निम्बार्क के अनुसार अवैयक्तिक परमात्मा नहीं वरन् वैयक्तिक ईश्वर है । इस बह्म की उन्होंने राधा के चिर प्रेमी कृष्ण के रूप में अवधारणा की ।

निम्बार्क की द्वैतवाद प्रणाली के अनुसार जीव और जगत का स्पष्ट अलग अस्तित्व है, किंतु स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है ।

वल्लभाचार्य का माया से अकलंकित श्रुद्धाद्वैत वेदांत की प्रणाली के अनुसार आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं । वल्लभाचार्य के अनुसार जगत् और संसार में एक महत्वपूर्ण भेद है । जगत ब्रह्म की वास्तिवक अभिव्यक्ति है । परंतु यह संसार, जन्म और मृत्यु का यह चक्र अज्ञान के कारण है । अज्ञान को दूर करने से संसार भी तिरोहित हो जाता है और ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में केवल जगत् का अस्तित्व बचा रहता है ।

भक्ति आन्दोलन और आध्यात्मिकता का स्वरूप

उपनिषदों में ज्ञान और आचरण के स्तर पर आत्मा और परमात्मा की जिस को परिकल्पित किया गया था, आगे चलकर साक्षात्कारों से वैष्णव-भक्ति की परम्पराओं का विकास हुआ । वैष्णवों का सिद्धांत उस समय व्याप्त सामाजिक, आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति थे । भक्ति की यह धारा भारतीय साहित्य की एक सशक्त धरा बन गयी थी, जो आगे चलकर हिंदी साहित्य में अत्यंत जीवन्त होकर प्रवाहित हुई । हिंदी साहित्य का मध्यकाल इस भक्ति के कई रूपों से संवर्द्धित हुआ है । निर्गुण ब्रह्म के प्रति निर्गुण भक्ति और ब्रह्म के सगुवतार की कल्पना करके राम और कृष्ण (विष्णु अथवा उनके अवतारों) जैसे अवतरित पुरुषों के प्रति सगुण भक्ति का निवेदन हुआ । कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, मीरा जेसे कवि इस भक्तिकाव्य के सशक्त रचनाकार सिद्ध हुए ।

रामानुज का यह कथन था कि सभी मनुष्यों के लिए ईश्वर से अपनत्व स्थापित करना और भक्ति के माध्यम से शाश्वत सुख का अनुभव करना संभव है-- वह सैद्धांतिक आधार था जिसने क्रियाशीलता की नयी लहर को बल प्रदान किया ।

गुरु नानक का आह्वान था कि -- उन लोगों के चरण स्पर्श करने की जरुरत नहीं जो अपने को कहते तो गुरु और पीर हैं, लेकन भीख मांगते फिरते हैं । उन लोगों ने ही जो अपने परिश्रम से अपनी जीविका चलाते हैं और दूसरों के साथ अपने श्रम के फलों को मिल-बांट कर खाते हैं, सच्चा मार्ग पाल लिया है ।

कबीर ने कहा,— ''सभी पुरुष और स्त्री जो इस जगत में निवास करते हैं, उसके (ईश्वर के) सजीव प्रतिबिम्व हैं।'' उनकी शिक्षा थी-- ''केवल सत्य ही स्वाभाविक है । अपने हृदय में सत्य को खोजो क्योंकि बाह्य धार्मिक आडम्बरों में सत्य नहीं है । सत्य प्रेम में, शक्ति में और प्राणियों के प्रति दया में प्रकट होता है । घृणा पर विजय प्राप्त करो, समस्त मानव जाति के लिए अपने हृदय का प्रेम उंडेल दो, क्योंकि सभी प्राणियों में ईश्वर है ।''

कबीर कहते हैं,--- ''सभी शरीरों में, चाहे वह हिंदू शरीर हो या मुसलमान शरीर, एक ही आत्मा है ।''

आध्यात्मिक साधना कभी भी रूप की साधना नीं हो सकती । यह संसार रूपों के भीतर से चंचल रूप के बन्धन का अतिक्रम करके, ध्रुव सत्य की और चलने की चेष्टा करता है ।''[1]

कबीर ने स्वयं अरूप को रूप देने की चेष्टा की थी, परंतु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभी तकथे, जब तक परम प्रेम के आधार प्रियतम का मिलन नहीं हुआ था । गन्तव्य तक पहुंच जाने पर मार्ग का हिसाब करना बेकार होता है ।

''मैं ही सिरजता हूँ, मैं ही मारता हूँ, मैं ही जलाता हूँ, (या जीर्ण करता हूँ) मैं ही खाता हूँ, मैं ही जल और स्थल में रमा हुआ हूँ--मेरा ही नाम निरंजन है।[2] यहां आत्मा में ही परमात्मा निवास करता है । इस भाव में आध्यात्मिक पुट विद्यमान है ।

कहा जाता है कि ''रामानन्द ही पहले-पहल अध्यात्म रामायण, अगस्त्यसुतीक्षण संवाद, अपने साथ लाये थे''।[3] कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में आध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है-

''तरवर एक मूल बन ठाढ़ा, बिन फूल फल लागे ।
साखा-पत्र कछु नहिं ताके, सकल कमल-दल गाजे ।
चढ़ तरवर दो पंछी बोले, एक गुरु एक चेला ।
चेला रहा सो रस चुना खाया, गुरु निरंतर खेला ।
पंछी के खोज अगम परगट, कहें कबीर बडी भारी ।
सब ही मूरत बीज अमूरत, मूरत की बलिहारी ।।''[4]

---

[1] कबीर -- हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ0 203
[2] -वही- पृ0 64
[3] -वही- पृ0 97
[4] कबीर -- हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ0 264

रैदास अपने आपको पूर्णतः ईश्वर को अर्पित कर देने के समर्थक थे । ''हरिमें सब कुछ है और हरि सब कुछ है ।''[1]

रानाडे ने कहा है,— ''महाराष्ट्र का भक्ति आन्दोलन जिन भक्त् संतों के नेतृत्व में चल रहा था, वे कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों, तीर्थाटनों और उपवासों, अध्ययन और ध्यान को गौण मानते थे, और प्रेम एवं भक्ति के द्वारा आराधना को उच्चतर स्थान प्रदान करते थे । इससे बहुदेववाद पर रोक लगाने में सहायता मिली ।''

भक्ति आन्दोलन एक ऐसी प्रक्रिया थी जहां आध्यात्मिक चिंतनके विविध आयाम फूले । ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों रूपों के माध्यम से हमारे चिंतक, साधक और रचनाकारों ने उसकी खोज की और उस तक पहुंचने का प्रयास किया । ज्ञान,भक्ति, कर्म, योग आदि वह साधन थे, जिनके माध्यम से हमारे साधकों ने उन आध्यात्मिक शक्ति का आह्वान किया । इस परम्परा में एक शास्त्रीय मान्यता थी और दूसरे व्यावहारिक । एक का प्रतिनिधित्व आचार्य कर रहे थे और दूसरी का कवि साधक। ब्रह्म से सम्बद्ध चिंतन की जितनी अवधारणाएं संभव हो सकती हैं उन सबका कोना-कोना ये कवि — साधक झाँक आये थे तथा राम और कृष्ण के माध्यम से एक पूर्ण ब्रह्म की प्रतिष्ठा भी उन्होंने की थी । कबीर और उनके अनुयायी संतों ने राम और कृष्ण को साकारत्व की सीमा से ऊपर उठाकर उसे सर्वव्यापी बना दिया -- अर्थात् इन दोनों प्रकार के विचारकों ने मिलकर ब्रह्म की पूर्णता को प्रतिष्ठित कर दिया ।

किंतु इस समृद्ध चिंतन परम्परा का विकास रीतिकालीन कविता में अवरुद्ध हो गया। विषय बदल गया, समाज और राजनैतिक परिदृश्य बदल गए और उसी परिदृश्य का एक अंश बनकर समकालीन कवि श्रृंगारिकता और उसके वैभव में डूब गया । परिणामतः इस युग में आध्यात्मिक चिंतन के बदले सांसारिक भोग-विलास के प्रति कवि साधकों का आकर्षण अधिक देखा जाता है ।

यदि साहित्य के इतिहास के क्रम से ही हम चिंतन के क्रम को रेखांकित करें तो हम पायेंगे कि आधुनिक काल में पुनः स्वस्थ मानसिकता का विकास हुआ । बदलते हुए सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और यहां तक कि ऐतिहासिक तथा भौगोलिक परिप्रेक्ष्य ने पुनः एक बार हमारे रचनाकारों को भक्ति कालीन जागरण से जोड़ने का प्रयत्न किया । परिणामतः पुनर्जागरण या पुनरुत्थान के नाम से रचनाकार एक ऐसे युग में प्रविष्ट हुआ, जहां बदलाव के स्पष्ट रूप से रेखांकित किया

---

[1] कबीर -- हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ0 332

जा सकता है । नयी चेतना, नयी दृष्टि, नये विचार, नयी काव्य-भाषा ने एक बार फिर से जनता के मन में जागृति का आह्वान किया और सामाजिक जागृति के साथ-साथ आध्यात्मिकता की खोज में भी वह संलग्न हुआ।

अध्याय दो

आधुनिक युग और आध्यात्मिक नवोन्मेष

आधुनिक युग और आध्यात्मिक नवोन्मेष

आध्यात्मिक चिंतन के विकास में भौतिकवादी दर्शन के महत्वपूर्ण योगदान के सही मूल्यांकन के लिए भारत की दार्शनिक परम्परा का निष्पक्ष रूप से वास्तविक मूल्यांकन आवश्यक है। आज जब हमारे अनेक मनीषी और शिक्षाशास्त्री एक ऐसे दर्शन की खोज में हैं जो कि आधुनिक वैज्ञानिक चिंतनको हमारी सांस्कृतिक परम्परा से समान्वित करे,ऐसी स्थिति में इसका महत्व और भी बढ़ गया है ।

इन मनीषियों की कृतियों में जो अंतर पाया जाता है वह यह है कि वे प्राचीन प्रणालियों और सिद्धांतों की चर्चा उनके सामाजिक तथा आर्थिक आधार से पृथक करके करते हैं । प्रत्येक दर्शन की व्याख्या ऐतिहासिक ढंग से नहीं वरन इस ढंग से की जाती है मानो वह अपने आप में परिपूर्ण हो । इस प्रकार ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के ईश्वर (कृष्ण) और सोलहवीं शताब्दी के विज्ञान (भिक्षु) दोनो सांख्य प्रणाली के अंतर्गत साथ-साथ रख दिये जाते हैं । बुद्ध और धर्मकीर्ति के बीच के समय का जो व्यवधान है उसे अक्सर लोग भुला देते हैं । बहुत कम लोग ही इस बात का अनुभव करते हैं कि दार्शनिक प्रणालियों और सिद्धांतों को तभी ठीक तरह से समझा जा सकता है, जब उनका अध्ययन उनकी आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि में किया जाय ।

मानव चिंतन अथवा विचारधारा की अन्य किसी अभिव्यक्ति की भांति दर्शन भी, अंतिम विश्लेषण में, जनता के जीवन की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन उसकी विचारधारात्मक अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) को प्रभावित करता है।

''आज हमारे अतीत और विशेषकर हमारी दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन केवल अमूर्त और शास्त्रीय नहीं है । हमारे देश के अनेक बुद्धि जीवियों ने अनुभव किया है कि एक विश्व-दृष्टि का विकास करना जो हमारी जनता की सृजनात्मक शक्ति को उत्तेजित करे, उसके जीवन को आत्म-विश्वास की एक बलवती भावना और जीवन की उद्देश्यपरता प्रदान करे और एक समाजवादी भारत के स्पष्ट दर्शन के साथ-राष्ट्र-निर्माण के क्रिया-कलापों में उसकी पहल को प्रोत्साहित करे, एक मुख्य राष्ट्रीय कर्त्तव्य बन गया है । ऐसे दृष्टिकोण को तेजी से बदलती दुनिया और वैज्ञानिक खोज की भावना के प्रति सकारात्मक होना है। अतः हमारा ध्योय विचार-पद्धतियों के वर्णन और उन मूल्यों के प्रतिपादन तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, जिन्हें हम लोगों

ने विरासत में पाया है, हमें उन्हें सूक्ष्म निरीक्षण और अनूकूलन की तर्कसंगत विधियों के अधीन करना चाहिए ताकि वे आधुनिक मस्तिष्क के लिए स्वीकार्य हो सकें ।"[1]

धार्मिक पुनरुत्थानवाद और धार्मिक एवं राजनैतिक विचारक

धार्मिक पुनरुत्थान में सामाजिक सुधार की दृष्टि से महादेव गोविन्द रानडे ने बहुत से महत्वपूर्ण कार्य किए हैं । उन्होंने बम्बई में ब्रह्म समाज के आदर्श को ध्यान में रखते हुए प्रार्थना समाज की स्थापना की, जिसमें आध्यात्मिकता के स्वरूप और विकास के लिए मुख्य नियम और सिद्धांत अपनाए गएः-

"ईश्वर ही इस ब्रह्माण्ड का रचयिता है ।

ईश्वर की आराधना से ही इस संसार (लोक) और दूसरे संसार) (परलोक) में सुख प्राप्त हो सकता है ।

ईश्वर के प्रति प्रेम श्रद्धा, उसमें अनन्य आस्था-प्रेम, श्रद्धा और आस्था की भावनाओं सहित आध्यात्मिक रूप से उसकी प्रार्थना और उसका कीर्तन ईश्वर को अच्छे लगने वाले कार्यों को करना - यही ईश्वर की सच्ची आराधना है । मूर्तियों अथवा अन्य मानव-सृजित वस्तुओं की पूजा करना ईश्वर की आराधना का सच्चा मार्ग नहीं है ।

ईश्वर अवतार नहीं लेता और कोई भी एक पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसे स्वयं ईश्वर ने रचा अथवा प्रकाशित किया हो अथवा जो पूर्णतः दोष रहित हो । सभी मनुष्य ईश्वर की संतान हैं अतः उन्हें बिना किसी भेद-भाव के आपस में भाई-भाई की तरह व्यवहार करना चाहिए । इससे ईश्वर प्रसन्न होता है और यही मनुष्य का कर्त्तव्य है।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के समाज-सुधारकों, जैसे गोविंद रानाडे आदि ने जिस भारतीय नवजागरण का सूत्रपात किया था उसका एक मात्र लक्ष्य धर्म से पूर्णतः संबंध विच्छेद कर लेना नहीं था, बल्कि पुराने धार्मिक राति-रिवाजों और कर्मकाण्डों को छोड़ना और दूसरी ओर नई परिस्थितियों के अनुरूप धर्म की नई प्रक्रिया को अपनाने पर बल देना ही उनका लक्ष्य था । आधुनिक समाज सुधारक, धार्मिक परम्पराओं का सम्मान करते थे, किंतु वे संस्थापक धर्म के उन सड़े-गले तत्वों के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं थे, जो नई उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा उत्पन्न कर रहे थे । आधुनिक समाज सुधारक, विचारक, साधक पूरी गंभीरता से स्वीकारते थे कि जात-

---

[1] के0 दामोदरन - भारतीय चिंतन परम्परा - पृ0 4

[2] प्रार्थना समाज रिपोर्ट 1911-12, जं0एन0फर्कहार द्वारा मार्डन रिलीजस मूवमेन्ट्स इन इण्डिया में उद्धृत-प0 80

पांत के भेद-भावों, अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष चलाकर मूर्तिपूजा और सती प्रथा का विरोध करके और साथ ही विधवा-विवाह और अर्न्तजातीय विवाहों का समर्थन करके, वे पुराने धर्म को ही पुनरुज्जीवित कर रहे हैं और उसे और भी शुद्ध बना रहे हैं ।

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय ने जनता का आह्वान किया कि वह मूर्तिपूजा और बहुदेववादी कर्मकाण्डों को त्याग दें और शुद्ध निराकार ब्रह्म की उपासना करें, जिसका अर्थ यह था कि प्रत्येक मनुष्य वाणी में ही ईश्वर का साक्षात्कार किया जाए ।

सन् 1833 में राजा राममोहन राय के निधन के पश्चात् उनके सत्कार्यों को देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन जैसे महान नेताओं ने जारी रखा ।

सन् 1843 में देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने अपने प्रतिज्ञा पत्र में कुछ अवधारणाएं निर्धारित की थीं, जो उदाहरण स्वरूप इस प्रकार थीं-

''ईश्वर एक व्यैक्तिक सत्ता है, जो श्रेष्ठतम नैतिक गुणों से विंभूषित है । ईश्वर ने कभी कोई अवतार नहीं लिया । ईश्वर प्रार्थनाएं सुनता है और उनका उत्तर भी देता है। मंदिर तथा पूजा पाठ के निश्चित स्थान अनावश्यक हैं । सभी जातियों और सभी नस्लों के व्यक्तियों को ईश्वर का आराधना का अधिकार है । प्रकृति और अंतःप्रज्ञा ईश्वर ज्ञान के स्रोत हैं । कोई भी ग्रंथ प्रमाणिक नहीं है ।''

पूर्व पश्चिम को संयुक्त करने के लिए केशवचंद्र सेन ने एक विश्व-धर्म का स्वप्न भी देखा था । 'लीड्स' के 'मिल-हिल' चैपल में 1970 में अपने एक प्रवचन में उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की थी ''इंगलैण्ड और भारत के बीच अच्छे संबंधों की स्थापना हो पूर्व के हमारे भाइयों और बहनों तथा पश्चिम के हमारे भाइयों और बहनों के बीच भ्रातृत्व और आध्यात्मिक मैत्री के संबंधों की स्थापना हो ।'' उसी प्रवचन में उन्होंने घोषणा की- ''संकीर्णतावाद घातक है । इसे देखकर मुझे दुःख होता है - अत्यधिक दुःख होता है । भाइयों और बहनों के बीच किसी किस्म की रुकावटें और दीवारें नहीं होना चाहिए ।'' उनके अनुसार आधुनिक विज्ञान से प्राप्त प्रबुद्धता के बिना विभिन्न जनों के बीच आध्यात्मिक एकता का स्थापित होना असंभव था । रामकृष्ण के

शिष्यों में सबसे महत्वपूर्ण नरेन्द्र नामक एक युवक था जो बाद में विवेकानंद के नाम से विख्यात हुआ और जिसे बाद में स्वामी विवेकानंद के नाम से विभूषित किया गया ।

स्वामी विवेकानंद

रामकृष्ण के शिष्यों में सबसे महत्वपूर्ण नरेन्द्र नामक एक युवक था, जो बाद में विवेकानंद के नाम से विभूषित किया गया । स्वामा विवेकानंद ने परमहंस से पूछा-- ''क्या आपने ईश्वर को देखा है ?'' परमहंस ने उत्तर दिया,--- ''हां मैं ईश्वर को देखता हूँ । ईश्वर को देखा जा सकता है । ईश्वर को पाया जा सकता है । लेकिन उसकी लगन किसे है ? अपनी पत्नी, बच्चों और धन सम्पत्ति के लिए लोग कितने कष्ट उठाते हैं, कितनी पीड़ाएं सहते हैं? वे कितना रोते हैं ? यदि कोई ईश्वर के दर्शन के लिए अबोध की तरह आंसू बहाए तो वह उसे अवश्य देख सकता है ।''

स्वामी विवेकानंद के अनुसार आम जनता का आध्यात्मिक उत्थान करने के लिए देश का आर्थिक और राजनीतिक पुनर्निर्माण करना एक पूर्व शर्त थी । वे हमसे रोटी मांगते हैं, एक बार उन्होंने कहा, लेकिन हम उन्हें पत्थर देते हैं । भूख से अधमरे व्यक्ति को धार्मिक सिद्धांत की घुट्टी पिलाना उसके आत्मविश्वास पर आघात करना है । उन मिशनरियों से, जो अविश्वासियों की आत्माओं कीरक्षा की आवाज उठाते थे, उन्होंने घोषणा की,...''मैं आप लोगों को अंधविश्वासी मूर्खों के बजाय पक्के अनीश्वरवादियों के रूप में देखना ज्यादा पसंद करूंगा । अनीश्वरवादी जीवित तो होता है, वह किसी काम तो आ सकता है, किंतु जब अन्धविश्वास जकड़ लेता है तब तो मस्तिष्क ही मृतप्राय हो जाता है, बुद्धि जम जाती है और मनुष्य पतन के दलदल में अधिकाधिक गहरे डूबता जाता है। और भी ''यह कहीं ज्यादा अच्छा है कि तर्क और युक्ति का अनुसरण करते हुए अनीश्वरवादी बन जाये..बजाय इसके कि किसी के कह देने मात्र से अंधों की तरह बीस करोड़ देवी-देवताओं को पूजने लगे ।''[1]

उन्होंने कहा,...''आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है वह है दृढ़ इच्छा शक्ति, इस्पात जैसी मांस-पेशियां और मजबूत स्नायु, जिसे कोई भी ताकत रोक या झुका न सके, जो यदि जरूरी हो तो सागर की अतल गहराइयों को भी अपनी लक्ष्य की पूर्ति के लिए मौत का मुकाबला करने के लिए तैयार रहे ।'' उनके इन विचारों ने तत्कालन भारत के राष्ट्रीय जीवन की मूल धारा में नयी शक्ति का संचार किया और देश भक्ति को एक उन्नत आध्यात्मिक स्तर पर उठाया ।

---

[1] स्वामी विवेकानन्द -- कम्पलीट वर्क्स-खण्ड दो, पृ0 334

विवेकानंद एक अपरिमित सत्ता, ब्रह्म में विश्वास करते थे । किंतु उनके लिए ईश्वर कोई अलौकिक, अतिमानवीय सत्ता.. जो मनुष्य की पहुंच से परे हो..नहीं था । उन्होंने कहा था...''मुझसे कई बार पूछा गया है..'' तुम उस पुराने शब्द ''ईश्वर'' का क्यों प्रयोग करते हो? इसका कारण यह है कि हमारे उद्देश्यकी पूर्ति के लिए यह ही सबसे अच्छा शब्द है....। मानवता की समस्त आशाएं, आकांक्षाएं और सुखानुभूतियां इस एक शब्द में केन्द्रित हैं । अब इसको बदलना असंभव है । जो कुछ भी महान् और पवित्र है, इस शब्द से सम्बद्ध है।'' मनुष्य का सर्वोपरि लक्ष्य आत्मशुद्धि और मानवमात्र की सेवा के द्वारा ब्रह्म से एकत्व था । विवेकानंद के धार्मिक दृष्टिकोण का केन्द्र बिंदु मनुष्य ही था । वह जो ईश्वर की खोज में निकला था, अन्ततः मनुष्य को ही इस संसार का केन्द्र बिंदु मानने को विवश हुआ । उन्होंने जनता का आह्वान किया कि वह मनुष्य में ईश्वर को खोजे । कारण यह कि इस संसार से परे कोई ईश्वर नहीं है। यह ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म है।

विवेकानंद के अनुसार यह ब्रह्माण्ड असृष्ट, शाश्वत और स्व-प्रकाशित है। उन्होंने किसी वैयक्तिक ईश्वर द्वारा इस संसार के सृजन का मजाक ही उड़ाया..... ''पहले तो हम यह देखते हैं कि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि किसी वैयक्तिक् ईश्वर ने इस संसार की सृष्टि की है; क्या आज कोई बच्चा भी ऐसी बात में विश्वास करेगा ? एक कुम्भकार (कुम्हार) चूंकि घड़ा बनाता है इसलिए एक ईश्वर भी संसार को बनाता है । अगर बात ऐसी है तो तुम्हारा कुम्हार भी ईश्वर ही है । और यदि कोई तुमसे यह कहे कि कोई बिना हाथों और मस्तिष्क की सहायकता के कार्य कर सकता है तो तुम उसे सीधे पागलखाने ले जाओ ।''[1] उन्होंने जोर देकर कहा कि, ''यह ब्रह्माण्ड न तो किसी ब्रह्माण्डेतर ईश्वर का बनाया हुआ, न किसी अन्य अलौकिक प्रतिभा का सृजन है । यह अपनी सृष्टि स्वयं करता है, स्वयं विघटित होता है और अभिव्यक्त होता है । एक अपरिमित सत्ता है, ब्रह्म ! तत्वमसि, श्वेतकेतु--वह तुम ही कहो श्वेतकेतु ! इस प्रकार तुम देखोगे कि यह और केवल यह ही, वैज्ञानिक धर्म है, कोई दूसरा नहीं ।[2]''

एक जगह उन्होंने लिखा है --- ''कहीं एक स्वर्ग है या नरक है, इसकी किसे चिंता है ? आत्मा है या नहीं, इसकी किसे परवाह है ? कोई अपरिवर्तनशील सत्ता है या नहीं, इसके बारे में किसे व्यग्रता है । हमारे सामने यह संसार है, और यह दुःख-पीड़ाओं से भरा हुआ है । इस संसार में उतरो, जैसे बुद्ध उतरे थे, और इन दुःख पीड़ाओं को कम करने के लिए संघर्ष करो या प्रयत्न करते हुए मर जाओं । अपने को भूलो यही पहला सबक सीखना है । तुम आस्तिक हो या नास्तिक, अनीश्वरवादी हो

[1] स्वामी विवेकानन्द -- द वेदांत, लाहौर में 1887 में भाषण
[2] सेलेकशन्स फ्राम स्वामी विवेकानन्द - पृ 279

या वेदांती, ईसाई हो या मुसलमान... एक सबक जो सबके सामने स्पष्ट होना चाहिए वह यह है कि अपने नन्हें अहं को नष्ट करो और सच्चे आत्म का निर्माण करो ।"[1]

अतिप्राचीन उपनिषदों के अध्ययन से एक बड़ा लाभ यह होता है कि उससे आध्यात्मिक भावों का ऐतिहासिक विकास मालूम किया जा सकता है । अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषदों में से आध्यात्मिक तत्व एकत्र, संग्रहीत एवं सज्जित पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ भगवत् गीता में, जिसे अतिंम उपनिषद कहा जा सकता है, कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नहीं है । गीता उपनिषदों से संग्रहीत अनेक पुष्पों से निर्मित एक सुन्दर गुच्छे जैसी है । किंतु उसमें इन सब तत्वों का क्रम विकास देखने में नहीं आता, उनका स्रोत नहीं जाना जा सकता । आध्यात्मिक तत्वों के इस क्रम-विकास को वेदों में अच्छी तरह समझाया गया हे । भाष्कारों ने अत्यंत साधारण बातों में भी आघ्यात्मिक तत्व देखने का प्रयास किया था; किंतु वह ज्यों का त्यों रहा, और इसलिए वेद ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अति उत्तम विषय है । हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक धर्म के शास्त्रों में परवर्ती काल की विकासमान आध्यात्मिकता के अनुरूप परिवर्तन किये गये--इधर-उधर एक शब्द बदल दया या जोड़ दिय गया । पर वैदिक साहित्य में संभवतः ऐसा नहीं किया गया है, और यदि हुआ भी हो तो उसका पता ही नहीं चलता । हमें इससे यह लाभ है कि हम विचार के मूल, उत्पति-स्थान में पहुंच सकते हैं और देख सकते हैं कि किस प्रकार क्रमशः उच्च से उच्चतर विचारों का--स्तूल आधिमौतिक धारणाओं से सूक्ष्मतर आध्यात्मिक धारणाओं का विकास हुआ है और अंत में किस प्रकार वेदांत में उन सबों की चरम परिणति हुई है ।

जब हम पाश्चात्य देशों में, पाश्चात्य जातियों के राजनीतिक विकास को देखते हैं तो पाते हैं कि वे किसी का निरंकुश शासन नहीं सहन कर सकतीं; किसी एक मनुष्य के द्वारा अपने ऊपर शासन होने का वे सतत् विरोध करती रही हैं और जनतंत्र प्रणाली एवं शारीरिक स्वाधीनता के उत्तरोत्तर उच्च धारणाओं की ओर बढ़ रही हैं, ठीक इसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी, आध्यात्मिक जीवन के विकास में होता है । अनेक देवताओं का स्थान ईश्वर ने लिया और उपनिषदों में तो इस एक ईश्वर के विरुद्ध भी विद्रो हुआ है । इस जगत के अनेक शासनकर्त उनके भाग्य को नियंत्रित कर रहे हें, केवल यही धारणा उन्हें बर्दाश्त नहीं हुई, बल्कि कोई एक व्यक्ति भी इस विश्व का शासक हो—यह भी उन्हें सह्य नहीं हुआ । यह धारणा धीरे-धीरे विकसित होती हुई अंत में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी । प्रायः सभी उपनिषदों केअंत मेंहम यही परिणति पाते हैं और वह है—विश्व के ईश्वर को सिंहासनच्युत करना । ईश्वर की सगुणता विलीन हो जाती है और निर्गुण धारा आ जाती है। तब ईश्वर एक व्यक्ति अथ्वा एक अनंत गुणसम्पन्न मानव के रूप में जगत् का शासक नहीं रह जाता, बल्कि

---

[1] **स्वामी विवेकानन्द -- प्रैक्टिकल वेदांत**

वह मूल मात्र में, विश्व भर में व्याप्त एक तत्व मात्र रह जाता है । सगुण ईश्वर की क्रमशः निर्गुण धारा होती जाती है और सगुण मनुष्य का भी निर्गुण भाव आ जाता है । तब निर्गुण ईश्वर और निर्गुण मनुष्य की इन दो आगे बढ़ती रेखाओं के क्रमिक मिलन की क्रमागत अवस्थाएं आती हैं । ये दो रेखाएं जिन अवस्थाओं को पार रके अंततः मिल जाती हैं, उनके वर्णन उपनिषदों में संग्रहीत हैं एवं प्रत्येक उपनिषद का अंतिम शब्द है--तत्वमसि । नित्य आनंदमय तत्व एक ही है और वहीं एक इस जगत रूप में अनेक प्रकार से प्रकाशित हुआ है ।'' आध्यात्मिकता ही किसी भी जाति की शक्ति का प्रधान स्रोत है । जिस दिन से इसका ह्रास और भौतिकता का उत्थान होने लगता है, उसी दिन से उस राष्ट्र की मृत्यु प्रारंभ हो जाती है ।''[1]

''असीम की खोज करना, असीम को पाने के लिए संघर्ष करना, इन्द्रियों--मानो भौतिक द्रव्यो--की सीमाओंसे परे जाकर एक आध्यात्मिक मानव के रूप में विकसित होना--इन सारी चीजों के लिए दिन-रात जो संघर्ष किया जाता है, वह अपने आप में ही मनुष्य के सभी संघर्षों में उदात्ततम और परम गौरवशाली है । कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें भोजन में ही परम सुख मिलता है । हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उन्हें वैसा करने से मना करें । फिर कुछ ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे जिन्हें विशिष्ट वस्तुओं के स्वामित्व में आनंद मिलता है और हमें कोई अधिकार नहीं है हम कहें कि उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए । पर किसी को आध्यात्मिक चिंतन में ही परमानन्द मिलता है तो उसे मना करने का भी किसी को कोई अधिकार नहीं है ।''1

जितनी शक्ति हममें आध्यात्मिक आदर्शों पर चलने से आती है उतनी और किसी से नहीं। जहां तक मानव इतिहास का प्रश्न है, हम लोगों के लिए सुस्पष्ट है कि यह सत्य पुष्ट रहा है और इसकी शक्तियां मृत नहीं हैं । केवल उपयोगिता के स्तर पर भी पूर्णतया स्वस्थ, नैतिक और अच्छे महान पुरुष इस संसार में हुए हैं । किंतु वैसे संसार को हिला देने वाले लोग सदा आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि से ही आविर्भूत होते हैं, जो मानो विश्व में एक महान् चुम्बकीय आकर्षण ला देते हैं, जिनकी आत्मा सैकड़ों और हजारों में कार्यशील हैं, जिनका जीवन आध्यात्मिक अग्नि को प्रज्ज्वलित कर देता है । हम देखते हैं कि जैसे-जैसे मानव मस्तिष्क का विकास होता गया, वैसे-वैसे आध्यात्मिकता का भी विकास होता गया । वह समय तो आ ही गया है, जब कोई व्यक्ति पृथ्वी के किसी कौने में कोई बात कहे और वह सारे विश्व में गूंज उठे । मात्र भौतिक साधनों से हमने सम्पूर्ण जगत को एक बना डाला है । इसलिए स्वभावतः ही आने वाले धर्म को विश्वव्यापी होना पड़ेगा ।

---

[1] **स्वामी विवेकानंद – विवेकानंद साहित्य (द्वितीय भाग) पृ0 198**

"जो लोग ईश्वर में एकदम विश्वास नहीं करते थे, अर्थात् हमारे और तुम्हारे ईश्वर में; किंतु वे लोग ईश्वर को हमारी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते हैं ।" ईश्वर संबंधी सभी सिद्धांत सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव धर्म की परिभाषा के अंतर्गत आने चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जाएंगे तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सतोगुणी अधिक हो जाएगी । धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी संकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा अधिक हानि ही हुई है।"[1]

"लोग कहते हैं—धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है, पर मुझे तो लगता है कि अभी-अभी से पनपने लगे हैं । एक सुसंस्कृत एवं उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानव-जीवन में प्रवेश करने जा रही है । जब तक धर्म कुछ इने-गिने पादरियों के हाथों में रहा तब तक इसका दायरा मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर और धर्मग्रंथों तथा धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारों तक सीमित रहा । पर जब हम सचमुच आध्यात्मिक और विश्वव्यापक धरातल पर आ जायेंगे, तब धर्म यथार्थ हो उठेगा, सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जाएगा, हमारी हर गति में रहेगा, समाज की पोर-पोर में भिंद जायेगा, और तब इसकी शिवात्मक शक्ति पहले कभी भी की अपेक्षा अनन्तगुनी अधिक हो जायेगी ।"[2]

मनुष्य के एक शरीर है, आंखें हैं, कान हैं तथा उसकाएक आध्यात्मिक पक्ष है, जिसे हम देख नहीं सकते । अपने आध्यात्मिक सामर्थ्य से वह विभिन्न धर्मों का अध्ययन करके जान सकता है कि सभी धर्म तत्वतः एक हैं, चाहे वे भारतवर्ष के जंगलों में सिखाये जाते हों, चाहे ईसाई-भूमि में ।

ईश्वर की धारणा मनुष्य के मन का स्वाभाविक गुण है । वेदांतमें, मानव मन की सर्वोच्च ईश्वर धारणा सच्चिदानन्द नाम से निर्दिष्ट की गयी है । वह चिद्घन और स्वाभावतः अनान्दघनस्वरूप है । हम बहुत दिनों से उसकी आभ्यन्तरीण वाणी को दबा रखने की चेष्टा करते आये हैं । हम नियम का अनुसरण करने की चेष्टा करके अपनी स्वाभाविक मनुष्य-प्रकृति में बाधा देने का प्रयास कर रहे हैं, किंतु हमारा अंतर्हृदय मानव स्वाभाव सुलभ सहज संस्कार प्रकृति की नियमावली के विरुद्ध हमें विद्रोह करने के लिए बाध्य कर रहा है । हम इसका अर्थ चाहे न समझें, परंतु अचेतन रूप में हमारे मानवीय भाव के साथ आध्यात्मिक भाव का, निम्न स्तर के मन के साथ उच्चतर मन का संघर्ष चल रहा है और यह संघर्ष अपना पृथक अस्तित्व बचा सकने के लिए— जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं—प्रयत्न करता है ।

---

[1] स्वामी विवेकानन्द–विवेकानन्द साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ0 200-
[2] स्वामी विवेकानन्द–विवेकानन्द साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ0 200-201

"ईश्वर सदा ही अपने महिमामय अपरिगामी स्वरूप पर प्रतिष्ठित है । तुम और हम उसके साथ एक होने की चेष्टा कर रहे हैं, किंतु इधर बधन की कारणीभूत प्रकृति, नित्य जीवन की छोटी-छोटी बातें, धन, नाम, यश,मानव-प्रेम प्रभृति प्राकृतिक विषयों पर निर्भर हैं । परंतु यहां जो समग्र प्रकृति प्रकाश पा रही है उसका प्रकाश किस पर निर्भर हैं ? ईश्वर के प्रकाश से ही प्रकृति पाती है--सूर्य, चन्द्र, तारों के प्रकाश से नहीं । उसके प्रकाशमान होने से ही और सब कुछ प्रकाशित होता है ।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिकता के स्वरूप का उल्लेख जिन शब्दों में किया है वे यह हैं- "ईश्वर स्वतः सिद्ध है, निर्गुण, सर्वत्र, प्रकृति का ज्ञाता और प्रभु, सबका प्रभु है । सब उपासनाओं के मूल में वह विद्यमान है, हम चाहे समझें या न समझें, उसी की उपासना हो रही । मैं जरा और भी आगे बढ़ कर कहना चाहता हूँ और इस बात को सुनकर शायद सभी आश्चर्यचकित होंगे कि जिसको अशुभ कहा जाता है, वह भी उसी की उपासना है । वह भी मुक्ति का ही एक खण्ड है । केवल वहीं नहीं, मैं इससे भी भीषण बात कहूंगा, जब तुम कोई अशुभ कार्य करते हो तो वहां भी मुक्ति की अदम्य आकांक्षा ही पीछें विद्यमान रहती है । वह पथभ्रष्ट और भ्रांत हो सकती, परंतु वह विद्यमान है अवश्य । और फिर उस मुक्ति, की--स्वाधीनता की प्रेरणा न रहने से किसी प्रकार के जीवन या किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं रह सकती । समग्र ब्रह्माण्ड में मुक्ति स्वाधीनता का स्पन्दन हो रहा है । इस ब्रह्माण्ड के अन्तस्तल में यदि एकत्व न रहता तो वह विविधता को समझ ही नहीं सकते थे। उपनिषद् में ईश्वर की अवधारणा इसी प्रकार की है ।[2]

एक अन्य जगह उन्होंने आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि- "समग्र संसार धर्ममय ईश्वर का प्रचार चिरकाल से करता आ रहा है । मैं ऐसे ईश्वर का प्रचार करना चाहता हूँ जो एकाधार से धर्मस्य और अधर्ममय दोनों ही है; यदि साहस हो तो इस ईश्वर को ग्रहण करो--यही मुक्ति का एकमात्र उपाय है---इसके द्वारा तुम एकत्वरूप चरम सत्य में पहुंच सकोगे । तभी यह धारणा नष्ट होगी कि एक व्यक्ति दूसरे से बड़ा है। जितना ही हम इस मुक्ति तत्व के पास जाते है, उतना ही हम ईश्वर के आश्रय में आते हैं, उतना ही हमारा दुःख कष्ट दूर होता है । तब हम नरक के द्वार को स्वर्ग द्वारसे पृथक नहीं समझेंगे, तब हम मनुष्य-मनुष्य में भेदबुद्धि कर यह नहीं कहेंगे कि मैं जगतद्य के किसी प्राणी से श्रेष्ठ हूँ । जब तक हमारी ऐसी अवस्था नहीं होती कि हम संसार में उस प्रभु के सिवाय और किसी को न देखें, तब तक हम दुःख-कष्ट से घिरे रहेंगे, तब हम सब में भेद देखेंगे । कारण, हम उस भगवान

---

[1] स्वामी विवेकानंद – विवेकानंद साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ0 297
[2] स्वामी विवेकानंद – विवेकानंद साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ0 297

में--उसी आत्मा में अभिन्न हैं और जब तक हम ईश्वर को सर्वत्र नहीं देखेंगे तब तक हम समग्र संसार के एकत्व का अनुभव नहीं कर सकेंगे।''[1]

''व्यक्ति पापों में मग्न है, जिस व्यक्ति ने नरक के पथ का वरण किया है, वह भी इस पूर्णता का लाभ करेगा, परंतु उसको कुछ विलम्ब होगा । हम उसका उद्धार नहीं कर सकते । जब उस पथ पर चलते-चलते यह कुछ कठिन चोंटें खायेगा तब वे ही उसे भगवान की ओर प्रेरित करेंगी । अंत में वह धर्म, पवित्रता, निःस्वार्थपरता और आध्यात्मिकता का मार्ग ढूंढ लेगा । और दूसरे लोग, जिसका अनजान में अनुसरण कर रहे हैं, उसी धर्म का हम ज्ञानपूवर्क अनुसरण कर रहे हैं ।'' संत पाल ने एक स्थान पर इस भाव को खूब स्पष्ट भाव से कहा है...''तुम जिस ईश्वर की अज्ञान में उपासना कर रहे हो उसी मैं तुम्हारे निकट घोषणा कर रहा हूँ ।''समग्र जगत को यह शिक्षा ग्रहण करनी होगी ।''[2]

यहां पर विवेकानंद ने आध्यात्मिकता के मार्ग को निर्दिष्ट किया है कि किस प्रकार, क्या करने से आध्यात्मिकता का मार्ग ढूंढा जा सकता है ।

स्वामी विवेकानंद जी ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का दर्शन करो-- देखो, वह सब हाथों से काम कर रहे हैं, सब पैरों से चल रहे हैं, सब मुखों से भोजन कर रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति मं वास कर रहे हैं, सब मन के द्वारा वे मनन कर रहे हैं-- वे स्वतः प्रमाण हैं- हमारे निज की अपेक्षा वे हमारे अधिक निकटवर्ती हैं । यही जानना धर्म है—यही विश्वास है, प्रभु हमको यह विश्वास दे । हम जब इस समस्त संसार में इस अखण्ड का अनुभव करेंगे ब हम अमर हो जायेंगे । जब तक एक व्यक्ति भी इस संसार में श्वास ले रहा है तब तक मैं उसके भीतर हूं, मैं यह संकीर्ण क्षुद्र व्यक्ति जीव नहीं हूं मैं समष्टिस्वरूप हूँ । अतीत काल में जितने प्राणीहो गये हैं, मैं उन सभी का जीवनस्वरूप था; मैं ही बुद्ध, ईसा और मुहम्मद का आत्मस्वरूप हूँ ।

पहले साधक उपासना की निम्नतम प्रणाली का अवलम्बन कर उपासना करते-करते जब विषय की चिंता से उच्च्व सोपान पर आरोहण करके आध्यात्मिक उपासना के राज्य में उपनीत होता है, तभी अंत में आत्मा के माध्यम से और आत्मा में उस अखण्ड, अनंत, समष्टिस्वरूप ईश्वर की यथार्थ उपासना संभव होती है । जो कुछ शांत है वह जड़ है । चैतन्य स्वरूप है—मानव भी अनन्त है और अनन्त ही केवल अनन्त की उपासना में समर्थ है। हम उसी अनन्त की उपासना करेंगे, यही सर्वोच्च्व आध्यात्मिक

---

[1] स्वामी विवेकानंद – विवेकानंद साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ0 298-299

[2] स्वामी विवेकानंद – विवेकानंद साहित्य (द्वितीय खण्ड) पृ0 299-300

उपासना है । आध्यात्मिक विकास के इस क्रम को आगे बढ़ाने में आचार्य दयानन्द सरस्वती ने भी अपना सम्पूर्ण योगदान दिया ।

दयानन्द सरस्वती

आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण राजा राममोहन राय और रानाडे जैसे आधुनिक सुधारकों के दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न था । उन्होंने भी राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठायी, किंतु राष्ट्रीय एकता की उनकी अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता और हिंदू धर्म को स्वीकार करने पर आधारित थी।

दयानन्द और उनके द्वारा 1875 में स्थापित आर्य समाज ने जनता में देशभक्तिकी भावनाएं इस पुनरुत्थानवादी नारे के आधार पर जगाने की कोशिश की,-- ''वेदों की ओर लौटो ।'' वह वेदों को ईश्वर का वाक्य मानते थे, अतः उनमें किसी प्रकार की त्रुटि की संभावना नहीं थी । दयानन्द के अनुसार वेद न केवल अतीत के संबंध में वरन् भविष्य के बारे में भी ज्ञान के मूर्त रूप थे ।

स्वामी दयानन्द ने यज्ञों तथा अन्य वैदिक कर्मकाण्डों के पुनरुज्जीवित किया । वे वर्णाश्रम-प्रथा और चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का भी पुनरुत्थान करना चाहते थे । हां,वह अपस्तम्भसूत्रों से सहमत थे, जिनके अनुसार ''सदाचारपूर्ण जीवन बिताने वाला नीचे जाति का मनुष्य उच्च जाति के मनुष्य के स्तर तक पहुंच सकता है और उसे इसी रूप में स्वीकार भी किया जाना चाहिए । इसी प्रकार पाप का भागी बन कर यदि उच्च वर्ग का मनुष्य नीची जाति के स्तर पर पहुंच जाता है, तो उसे नीची जाति का ही मानना चाहिए ।

उन्होंने बहुदेववाद को अस्वीकार किया, निराकार ईश्वर की आराधना का समर्थन किया,परम्परागत ब्राह्मण पुरोहितों की अन्धकट्टरता की आलोचना की, मूर्तिपूजा और बाल-विवाह का विरोध किया तथा शिक्षा के प्रसार द्वारा नीची जाति के हिन्दुओं और स्त्रियों के स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया । किंतु इन सभी कार्यवाहियों के पीछे उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म को सुदृढ़ बनाना था ।

दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में आर्य समाज ने हिन्दुओं में एकता स्थापित करने और अन्य धर्मों के अनुयायियों को हिन्दू बनाने के लिए आन्दोलन चलाया । हिन्दू धर्म पुनरुत्थान के लिए उनके रूढ़िवादी और मताग्रही प्रयत्नों तथा दूसरों का धर्म बदलने की उनकी कार्यवाहियों ने मुसलमानों के विरोध को काफी मात्रा में भड़काया और देश

के समान हितों तथा अपने अधिकारों के लिए संयुक्त होकर लड़नेकी आम जनता की अभिलाषा के रास्ते में रुकावटें पैदा कीं ।

हिन्दू धर्म की हर बात पर तक-वितर्क करके और अन्य सभी धार्मिक पंथों का विरोध करके उन्होंने नवजागरण की परिधि को सीमित कर दिया । इसी क्रम में बाल गंगाधर तिलक ने अपने आध्यात्मिक विचार प्रकट करते हुए इस आध्यात्मिक विकास की परम्परा को आगे बढ़ाया ।

बाल गंगाधर तिलक

तिलक अद्वैत दर्शन के समर्थक थे, किंतु वह संसार को भ्रम नहीं मानते थे । वह वस्तुगत यथार्थ को स्वीकार करते थे । उन्होंने घोषणा की थी कि-- "एक ही, अमर, निर्गुण आत्मतत्व शरीर और ब्रह्माण्ड, दोनों में पूर्णतः और शाश्वत रूप से व्याप्त है ।"[1] उनके अनुसार सभी जीवित प्राणियों में एक ही आत्मा वर्तमान है ।

वेदांत दर्शन की ऐसी सभी व्याख्याओं का वह विरोध करते थे जो मनुष्य में निराशा की भावना उत्पन्न करती हों । उनका कहना था कि जीवन यथार्थ है और मनुष्य को कष्टों और पीड़ाओं को साहस के साथ और शांत मन से झेलना चाहिए ।

बाल गंगाधर तिलक के विचारों से पूर्णतः सहमत न होते हुए, अरविन्द घोष ने अपने विचार प्रकट किये, जो इनके विपरीत था ।

अरविंद घोष

तिलक की भांति अरविन्द घोष ने भी गीता के महत्व पर जोर दिया है । किंतु उनकी दृष्टि में गीता का सारतत्व उसके कर्म पक्ष में नहीं, वरन् योग को दिये गये बल में निहित है । तिलक के अनुसार जहां गीता में मूल महत्व कर्म का था और भक्ति तथा ज्ञान उसके बाद आते हैं, जिसका अर्थ यह है कि अपने कर्त्तव्य की पूर्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, वहां अरविंद घोष का मत था कि भक्त्, कर्म और ज्ञान केवल योग की शक्ति को बढ़ाने के साधन हैं।

उन्होंने लिखा कि-- "अंतिम अथवा उच्चतम उद्भव वह मुक्त मनुष्य है, जिसने अपने अन्दर का साक्षात्कार किया है, जिसने ब्रह्माण्डीय चेतना में प्रवेश कर लिया है, जिसने शाश्वत के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है और जो जीवन और

---

[1] बाल गंगाधर तिलक--गीता रहस्य, पृ0 357

क्रियाशीलता को अब भी स्वीकार करता है, जो अपने अन्दर निहित प्रकाश और शक्ति के आधार पर प्रकृति के मानवीय उपकरणों के द्वारा काम करता है । आध्यात्मिक परिवर्तन और उपलब्धि का श्रेष्ठतम निरूपण आत्मा, मस्तिष्क, हृदय और कर्म की पूर्ण उन्मुक्तता है, उन्हें ब्रह्माण्डीय आत्मा और दैवीय यथार्थ की भावना के साँचे में ढालना है । गीता ने जो आध्यात्मिक आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है और जिसे प्राप्त करना हम सबक कर्त्तव्य है, उसका सारतत्व यही है ।[1]

अरविन्द घोष उपनिषदों के इस विचार से आरम्भ करते हैं कि-- "सब कुछ ब्रह्म है, और इस संसार की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म को अभिव्यक्त करती है और ब्रह्म है।" वह यह मानते थे कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड अलग-अलग नहीं है, वरन् एक ही सर्वव्यापी यथार्थ की भिन्न अवस्थाएं हैं।

अरविन्द घोष ने लिखा है--- "संसार का अस्तित्व शिव का परमानन्दपूर्ण नृत्य है, जिसमें ईश्वर का शरीर अगणित रूपों में दिखायी देता है; वह उस श्वेत अस्तित्व को जहां और जैसा वह था--जैसा सदा रहता है और जैसा सदा रहेगा--वैस ही छोड़ देता है, उसका एकमात्र उद्देश्य तो नृत्यके आनन्द का अनुभव करना मात्र है ।"[2]

अरविन्द के अनुसार पदार्थ स्वयं अस्तित्वमय नहीं है, वह ब्रह्माण्डीय चेतना से स्वतंत्र नहीं है । मनुष्य का अस्तित्व है, किंतु उसका अस्तित्व दैवी शक्ति के एक अंग के रूप में ही है ।" यह दैवी शक्ति जब अपने को बहुत रूपों में प्रकट करती है, तो वही समस्त व्यक्तियों का अपना अलग-अलग अस्तित्व बन जाती है ।"[3] उन्होंने कहा कि दैवी अथवा अलौकिक यथार्थ अलौकिक यथार्थ की सत्त अपरिमित है । वह सर्वत्र व्याप्त है, प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है ।" "एकत्व का यथार्थ स्वयं को अनगिनत रूपों और शक्तियों के यथार्थ में प्रकट कर रहा है-- यही हम हर तरफ देखते हैं ।" और, इस संसार के यथार्थ को स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि "परम को हम अस्तित्व की जिन अवस्थाओं से आगे बढ़ कर प्राप्त करते हैं, उनका अपना सत्य अवश्य होगा, क्योंकि असत्य और अयथार्थ हमें यथार्थ तक नहीं पहुंचा सकते, किंतु परम से जो कुछ उद्भूत होता है, परम जिसको समर्थित, सूचित और अभिव्यक्त करता है, उसका भी यथार्थ अवश्य होगा।[4] इस प्रकार उनके मतानुसार वस्तुगत भौतिक यथार्थ आध्यात्मिक अस्तित्व की उच्चतर अवस्था में पहुंचने के लिए प्रारभिंक अवस्था है ।

---

[1] **अरविंद घोष – एस्से आन द कर्मयोग**
[2] **अरविंद घोष – लाइफ्र डिवाइन, पृ0 119**
[3] **--वही-- पृ0 615**
[4] **अरविंद घोष - लाइफ्र डिवाइन पृ0 427**

उनके अनुसार, ''पदार्थमें ऊपर से दीखने वाली संज्ञाहीनता में दैवी अस्तित्व अथवा आध्यात्मिक यथार्थ का विकास, विकास का आरम्भ-बिंदु होता है।''[1] एक ओर जीवन, आत्मा, मस्तिष्क और प्रकाशमान अतिन्मनस् के माध्यम से दैवी अस्तित्व की ओर पदार्थ का आरोहण है । दूसरी ओर विशुद्ध परम अस्तित्व से अति-मनस् से होते हुए ब्रह्माण्डीय अस्तित्व और अन्ततःपदार्थ की ओर अवरोहण है । वे एक-दूसरे की सहायता करती हैं । पदार्थ से आत्मा की ओर आरोहण, अलौकिक सत्ता को नीचे उतरने में सहायता पहुंचाता है, जबकि अलौकिक का अवरोहण,आरोहण की आकांक्षा की पूर्ति करता है । इस सक्रियतापूर्ण प्रक्रिया से अपने को क्रियात्मक रूप से एकाकार कर लेना ही पूर्ण सफलता का मार्ग है । यह इस तथ्य को माननेपर आधारित है कि --''यह समस्त जगत् उस अलौकिक की एक अभिव्यक्ति, खेल अथवा लीला है ।''[2]

उन्नीसवींसदी के अंतिम दशक में उन्होंने पहले से ही देख लिया कि मानवता में महान् परिवर्तन आने वाले हैं और उन्होंने ऐसा अनुभव किया, मानो उन्हें स्वयं उनके लिए तैयार होने का आह्वान है । श्री अरविन्द ने भौतिकवाद के आधिपत्य-जनित संक्रमण के गर्भ से आध्यात्मिक विचार-बिंदु के आविर्भाव की आवश्यकता देखी थी । तब उनका निजी आध्यात्मिक विचार-बिंदु जीवन और जगत से बहिष्कृत नहीं अपितु उनके अंतर्गत था । ''अध्यात्म'' शब्द उनके लिए वस्तुतः मन के पश्चात जो वर्तमान मानव-जीवन का सामान्य स्तर था, आवश्यक रूप से प्रकट होने वाली विवर्तनकारी प्रगति का नाम था । अतएव आध्यात्म की खोज तथा उपलब्धि उनके लिए मानवता का आह्वान तथा उसकी सभ्यता की समस्त बुराइयों का एकमात्र उपयुक्त समाधान बन गयी ।

श्री अरविन्द का दर्शन आध्यात्मिक होते हुए भी बुद्धि को मान्यता देता है । मनुष्य के वर्तमान विकास की अवस्था में यही बुद्धि जो कार्य तथा संगठन का एक अनिवार्य कारण मानते हैं । इसके बिना हम न तो अपनी बाह्य स्थिति को संगठित कर सकते हैं और न संयत ढंग से कार्य ही कर सकते हैं ।''[3] अरविंद घोष के पश्चात् आध्यात्मिक विकास के इस क्रम को जारी रखते हुए लाला लाजपत राय ने अपने विचार प्रकट किये ।

लाला लाजपत राय

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में जो आर्थिक और राजनीतिक विकास हुए वे पुरानी सड़ी गली मान्यताओं, रूढ़िग्रस्त रस्म-रिवाजों और भीतर से खोखले

---

[1] अरविंद घोष - लाइफ़ डिवाइन पृ0 814

[2] अरविंद घोष - योग एण्ड इट्स् आब्जेक्ट्स पृ0 10

[3] श्री अरविंद का जीवन-दर्शन-इन्द्रसेन, पृ0 124

धार्मिक संबंधों से कतई मेल नहीं खाते थे । किंतु गहरी जड़ें जमाये बैठी धार्मिक मान्यताओं और सामाजिक रीति-रिवाजों ने अलग हटकर युक्तियुक्तता, वैज्ञानिक विचार और रहन-सहन के आधुनिक ढंग को आसानी से स्थान नहीं दे दिया । ऐसी परिस्थितियों में स्वभावतः ही आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों ने धार्मिक आवरण अपनाया । प्रतिक्रियावादी वर्ग अपने निहित स्वार्थों के संरक्षण और सामाजिक असमानताओं को न्यायसंगत ठहराने के लिए ही वेदों और शास्त्रों के उद्धरण नहीं देते थे, वरन् ऐसा वे ब्रिटिश सरकार के समर्थन के लिए भी करते थे । दूसरी ओर प्रगतिशील वर्ग और समूह इन्हीं धार्मिक ग्रन्थों से उद्धरण लेकर सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों को न्यायसंगत ठहराते थे ।

परिवर्तन के समर्थकों में भी दो अन्तर्विरोधी और प्रायः परस्पर टकराने वाली प्रवृतियां दृष्टिगोजर हो रही थीं । बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा पश्चिम के आक्रमणों से 'राष्ट्रीय संस्कृति' की सुरक्षा के लिए पुरानी धार्मिक परम्पराओं के पुनरुत्थान को एक महत्वपूर्ण तत्व मानता था । ये लोग पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति के मुकाबले भारत की आध्यात्मिक संस्कृति को खड़ा करते थे । वे हिन्दू धर्मके परम्परागत रीति-रिवाजों, रस्मों और कर्मकाण्डों के दृढ़ता से पालन पर जोर देते थे । हालांकि वे कुछ पुराने सड़े-गले रिवाजों का विरोध भी करते थे ।

दूसरी प्रवृति के नेता वे बुद्धिजीवी थे, जो समय की आवश्यकताओं के अनुसार हिन्दू धर्म और समाज में सुधार के दृढ़ समर्थक थे । उनका आह्वान यह नहीं था कि देश के अतीत में श्रद्धा और आस्था का पुनरुत्थान किया जाय, वरन् यह था कि आधुनिक विज्ञान और संस्कृति की सहायता से एक श्रेष्ठतर और महानतर भविष्य की ओर उत्सुकता से बढ़ा जाय ।

सुधारों की प्रवृति और पुनरुत्थान में अंतर को समझते हुए लाल लाजपत राय नेकहा था —"इन शब्दों सुधार और पुनरुत्थान— में यदि कोई वास्तविक महत्व है तो वह सामाजिक मामलों में पथ-प्रदर्शन के लिए सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी क्रमशः जिस अधिकार या अधिकारों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, उसमें या उनमें निहित हैं । सुधारवादी तर्क और योरपीय समाज के अनुभव पर अधिक निर्भर करते हैं, जबकि पुनरुत्थानवादी शास्त्रों, अतीत के इतिहास तथा जनता की उन परम्पराओं औरदेश की उन संस्थाओं की ओर अधिक उन्मुख हैं जो उस समय प्रचलित थीं, जब यह राष्ट्र गौरव के शिखर पर था ।[1]

---

[1] लाजपत राय - राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज-खण्ड एक (दिल्ली) 1966, पृ0 54

थियोसाफिकल सोसाइटी ने हिन्दू धर्म को उसके जर्जर रीति-रिवाजों और कर्मकाण्डों तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों सहित ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था । ऐनीबेसेंट प्रायः ही कहा कहती थीं कि वह पूर्वजन्म में हिन्दू थीं । उन्होंने जाति प्रथा तक का समर्थन किया । लाला लाजपत रायने लिखा--- "श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और उनके पंथ ने मुख्य जातियों में उप-विभाजनों के विरुद्ध अभी ही अपना मत प्रकट कर दिया है । चार जातियों की मूल हिन्दू अवधारणा का उनके द्वारा संरक्षण मुख्यतः इस मामले में आर्य समाजियों के विचार से मेल खाता है और वर्तमान जाति-प्रथा पर व्यवहारतः सीधी चोट करता है ...यद्यपि सिद्धांत रूप में ही । अमल में न तो आर्य समाजी और न ये सुधारक ही निन्दा करने से आगे बढ़ सकते हैं । सब इस बारे में सहमत हैं कि शुरुआत उप-जातियों से की जानी चाहिए ।[1]

भारत को स्वयं अपने धर्म और अपनी परम्पराओं पर चलते हुए महानता प्राप्त करनी थी । भारतीय राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्रवाद बन गया ।

किंतु वास्तव में यह जोर भारत की जनता की सांस्कृतिक एकता पर नहीं था; जोर था समाज धर्म पर, अर्थात हिन्दू धर्म पर । उदाहरण के लिए लाला लाजपत राय के अनुसार राष्ट्रवाद का अर्थ था– "समान नाम, समान वंश, समान इतिहास, समान धर्म, समान भाषा और समान भविष्य ।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक पुनरुत्थान में सामाजिक सुधार की दृष्टि से राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद, बाल गंगाधर तिलक, अरविंद घोष, लाला लाजपत राय आदि ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं । भारतीय संस्कृति अपने विकास के अगले चरणों में आध्यात्मिकता के नये और व्यापक अर्थों को स्पर्श करती है। विशेषकर बौद्ध धर्म और जैन धर्म के आगमन के पश्चात् एक ऐसी आध्यात्मिक दृष्टि का विकास होता है, जिसमें यह सोचना संभव हुआ कि बिना ईश्वर के अस्तित्व की चिंता किये भी जीवन और जगत् के साथ ऐसे संबंधों की परिकल्पना की जा सकती है, जिसमें हम उन्हें सत्यों और आचरणों पर बल दें, जिनकी चर्चा उपनिषदों में की गयी है । इस प्रकार एक ऐसे आध्यात्मिक चिंतन और आचरण का विकास हुआ जिसमें ईश्वर के अस्तित्व पर ही विश्वास करना अथवा उसकी चिंता करना अनिवार्य नहीं है, फिर भी जीवमात्र में एकता की अनुभूति इस नयी आध्यात्मिकता की परिधि में उतनी ही गहराई से संभव हो सकी ।

---

[1] लाजपत राय-राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज-खण्ड एक (दिल्ली) पृ0 48

[2] लाला लाजपतराय-द मैन हिज वर्ड-गणेश (मद्रास), पृ0 46

वास्तव में जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है यहां आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति एक ओर तो भक्ति और काव्य में हुई है और दूसरी ओर चिंतन और दर्शन में। आध्यात्मिक चेतना जो काव्य में अभिव्यक्त हुई है उसका भी स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है । भक्तिकाल में तो स्पष्ट रूप से कवि ने सगुण या निर्गुण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करके उसके प्रति अपने को अर्पित किया है ।

-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-

राजनैतिक विचारक

उदार-पंथियों और उग्रवादियों के मध्य टकराव न केवल विदेशी सरकार के विरुद्ध संघर्ष को लेकर था, बल्कि धर्म और सामाजिक सुधारों के प्रति दृष्टिकोण को लेकर भी था। रानाडे और गोखले जैसे उदार पंथी सामाजिक सुधारों और आधुनिकता प्रशंसक थे तथा उसे प्रोत्साहन देते थे। वे हिंदू धर्म में सुधार कर उसे आधुनिक समाज और युग की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहते थे । वे अंधविश्वास और धार्मिक कर्मकाण्ड के विरोधी थे और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के प्रशंसक थे । एक सुसंस्कृति और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का निर्माण करना उनका लक्ष्य था । गोखले ने एक समान परम्पराओं और कड़ियों, समान आशाओं और आकांक्षाओं तथा समान अक्षमताओं से सम्पन्न एकसमान राष्ट्रीयता की भावना में जागृत किया तथा प्रोत्साहन दिया । गोखले का विचार था कि जब तक देश की हर जनता इस बात को नहीं समझे और स्वीकारेगी कि हम भारतीय हिंदुस्तानी पहले हैं और बाद में हिंदू, मुसलमान, पारसी या ईसाई तब तक एक संयुक्त और नवजागृत सुसमृद्ध भारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जो कि संसार के राष्ट्रों के बीच अपने महान अतीत के उपयुक्त स्थान की ओर अग्रसर हो सके ।

दूसरी तरफ उग्रवादी अपनी क्रांतिकारिता और जनसंघर्षों के लिए उत्साह के बावजूद, उदार तथ प्रगतिशील विचारों के विरोधी थे । उनका मुख्य आक्षेप यह था कि पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण करके ये उदारपंथी अराष्ट्रीय हो गए हैं । ये उग्रवादी हर पश्चिम तौर-तरीके के विरोधी थे- यहां तक कि वे मिल, स्पेंसर और बेन्थम जैसी विभूतियों के विचारों का भी विरोध करते थे । दावा करते थे कि 'हिंदू' संस्कृति और सभ्यता, पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता से कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर है और परम्परागत हिंदू धर्म में इतनी क्षमता है कि वह सभी युगों की आवश्यकताओं को पूरा कर सकता

है । इनके अनुसार हिंदू धर्म में न तो उपांतरण की आवश्यकता थी और न सुधार की। आवश्यकता थी तो उसकी पुर्नव्याख्या की, ताकि वह आम जनता की समझ में आ सके । उदारपंथी जहां पूरी तत्परता से सामाजिक और धार्मिक सुधारों के लिए कार्य कर रहे थे और अस्पृश्यता, बाल-विवाह तथा हिंदू समाज की अन्य कुरीतियों के विरुद्ध लड़ रहे थे, वहीं उग्रवादी धार्मिक पुनरुत्थान तथा प्रचलित रस्म-रिवाजों तथा परम्पराओं के संरक्षण के प्रयत्नों में लगे थे । जैसे कि जब गोविंद रानाडे सामाजिक सुधार संगठनों की स्थापना कर रहे थे, तब तिलक गौरक्षा समितियों और गणपति उत्सवों को संगठित करने में व्यस्त थे। उदारपंथी यह मानते थे कि सामाजिक सुधार, राजनीतिक सुधारों के लिए एक अनिवार्य शर्त है । इसके विपरीत उग्रपंथियों का मत था कि भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक पिछड़पन का मूल कारण ब्रिटिश शासन है, सामाजिक सुधार तो हिंदू समाज में फूट के ही बीज बोयेंगे और अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष को कमजोर कर देंगे ।

उग्रवादी जनता की भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए हिंदू धर्म के विगत् गीत गाते थे। वे हिंदू देवों और देवियों से प्रार्थना करते थे कि वे उनके राजनीतिक संघर्ष के महत्व को और उन्नत बनायें । जनता की राजनीतिक अथवा वर्ग चेतना को ललकारने के बजाय, वे प्रायः धार्मिक मान्यताओं तथा ऐसी ही अन्य भावनाओं की दुहाई देते थे, किंतु सामाजिक सुधारों का प्रश्न खड़ा होने पर वे यही तर्क देते थे कि वह तो एक धार्मिक मसला है और इसलिए इसे राजनीति से नहीं मिलाया जा सकता।

इस प्रकार राजनीतिक क्रांतिकारिता और धार्मिक पुनरुत्थानवाद लगभग साथ-साथ चल रहे थे । यहां तक कि आतंकवाद भी हिंदू धार्मिक पंथों से प्रेरणा ग्रहण करता था । देवी माता की पूजा क्रांतिकारियों में अत्यंत लोकप्रिय हो गयी थी । काली, दुर्गा तथा अन्य हिंदू देवियां राष्ट्रीय विकास की विभिन्न मुजिलों की प्रतीक माने जाने लगी थीं । बंकिमचंद का देश भक्ति पूर्ण गान 'बंदे मातरम्' जो कि कांग्रेस का राष्ट्रगीत बन गया था, में भारत माता को दुर्गा माता माना गया है । हमारे मंदिरों में विराजमान प्रत्येक पवित्र प्रतिमा गीत में कहा गया है, "माता है, वह जो सुजलाम है, सुफलाम है, शश्यश्यामलाम् है, फुल्लकुसुमित द्रुमदल शोभनीम् है, सुखदाम है, वरदाम है," इत्यादि ।

इस विचारधारा को आगे बढ़ाने हुए अनेक कवि, लेखक और विचारक आगे आये जिनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी का नाम सर्वोपरि है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा राजनीति और विचारधारा

उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिकि दिनों में भारत को विचारधारात्मक जीवन में जो परस्पर-विरोधी चिंतन धाराएं दिखायी देती थीं, वे उस

काल की आर्थिक तथा सामाजिक वास्तविकताओं के अन्तर्विरोधी तथा जटिल स्वरूप को प्रतिबिम्बित करती थीं । इस काल की विशिष्टता यह थी कि न केवल प्रतिक्रियावादी वरन प्रगतिशील तथा उदीयमान वर्ग भी अपनी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में धर्म को अपनाते थे । केवल राजनीतिक नेता ही नहीं, वरन सुप्रसिद्ध लेखक तथा विचारक भी अपनी--सृजनात्मक कार्यवाहियों को धर्म तथा आदर्शवाद पर आधारित करते थे। निस्संदेह वे संसार के पलायनवादी परित्याग का, अथवा परम्परागत रस्म-रिवाजों तथा कर्मकाण्डों के यात्रिक अनुसरण का, समर्थन नहीं करते थे । उनका आदर्शवाद आशावाद से सराबोर था । वे मनुष्य की आत्मा के यथार्थ को स्वीकार करते थे, किंतु उनके अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा का तादात्म्य मानव व्यक्तित्व की पूर्णता पर निर्भर करता था । रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रगतिशील आदर्शवाद (आध्यात्मिकता) की इसी पद्धति के अनुयायी थे ।

अन्य आदर्शवादी दार्शनिकों की तरह वह भी परम यथार्थ में विश्वास करते थे, जो इस पार्थिव जगत के पीछे निहित माना जाता था । किंतु रवीन्द्रनाथ के लिए यह परम यथार्थ नैतिक तथा सौंदर्यानुभूति विषयक मूल्यों का मूर्त रूप था; मानवता ने जिन श्रेष्ठतम् तथा उदात्तम लक्ष्यों की ओर प्रयास किया है, उनका मूर्तरूप था । दूसरे शब्दों में यह परम यथार्थ एक व्यक्तिगत यथार्थ था जो ईश्वर की अपरिमित अभिव्यक्तियों के रूप में मानव व्यक्तित्वों को प्रभावित करता था । रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते थे, ''यह ब्रह्माण्ड यदि किसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है तो यह एक भयंकर छलावा है इस दर्शन का केन्द्र बिंदु मनुष्य था ईश्वर नहीं । उनके लिए ईश्वर, मानव एकता और मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रतीक मात्र था । उन्होंने घोषणा की थी; ''वह जिसे परम और पूर्ण कहते हैं सर्वोच्च मनुष्य है, मानवीकृत ईश्वर है ।''[1] इस प्रकार सर्वोच्च व्यक्तित्व मूलतः मानवोचित था, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार उसे मानव प्रेम के द्वारा पाया जा सकता था । इस तरह ईश्वर के प्रति प्रेम को मानव के प्रति प्रेम में रूपातंरित कर दिया गया ।

आध्यात्मिक आकांक्षाओं और ईश्वर की अवधारणा का मूल स्रोत व आदिम मनुष्य द्वारा अभिव्यक्त एकता की भावना को मानते थे । उन्होंने कहा था -- ''मेरा धर्म मनुष्य का धर्म है, जिसमें परम अथवा अपरिमित की व्याख्या मानवता के अर्थों में की जाती है ।''[2] स्वयं ईश्वर की अवधारणा उन्होंने मनुष्य के रूप में की थी ।

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर - पर्सनैलिटी, पृ0 71
[2] रवीन्द्रनाथ ठाकुर - पर्सनैलिटी, पृ0 214

ईश्वर "पूर्णता का अपरिमित आदर्श था और मनुष्य "उस आदर्श की पूर्ति की शाश्वत प्रक्रिया"[1] । उनके अनुसार इस विकास के माध्यम से ही अपरिमित, स्वयं को मनुष्य में अभिव्यक्त करता है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना था कि ईश्वर को देखने के लिए किसी मंदिर या गिरजाघर में जाने की जरुरत नहीं, क्योंकि वह तो वहां है, जहां किसान कड़ी जमीन को जोत रहा है और सड़क बनाने वाला पत्थरों को तोड़ रहा है । धूप हो या वर्षा, वह सदा उनके साथ रहता है और उसके कपड़े सदा धूल से सने रहते हैं । यह रामनामी उतरा फेंकों और उसकी ही तरह धूल भरी धरती पर आकर काम करो । इस विचार धारा को कायम रखते हुए महात्मा गांधी आगे आये ।

महात्मा गांधी तथा राजनीति और विचारधारा

प्रथम महायुद्ध के बाद भारत के राष्ट्रीय स्वातंत्रय - संग्राम की नई मंजिल शुरू हुई। विश्व युद्ध के फलस्वरूप औपनिवेशिक व्यवस्था में संकट, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रतिष्ठा में ह्रास, रूस की महान समाजवादी क्रांति, ब्रिटिश शासकों द्वारा बरपा किया गया आतंक जिसका चरमबिंदु जलियावांला बाग का हत्याकाण्ड था, जनता की बड़े पैमाने पर आर्थिक तबाही-इन सब बातों ने एक नये राजनीतिक वातावरण को जन्म दिया । इस संकट की घड़ी में ही गांधीवाद साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की विचारधारा के रूप में सामने आया, जिसका नेतृत्व राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग कर रहा था ।

स्वतंत्रता संग्राम को चलाते हुए गांधी जी आम जनता के उत्थान के लिए सक्रियता से कार्य कर रहे थे । जहां तक दर्शन का मूलभूत प्रश्न है, महात्मा गांधी ने वस्तुनिष्ठ आदर्शवाद की स्थिति अपनायी । उनके अनुसार यह जगत यथार्थ है और मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र, वस्तुगत रूप से मौजूद है । किंतु प्रत्येक वस्तु का उद्‌भव एक आध्यात्मिक सिद्धांत से हुआ है और वह उस पर ही निर्भर है । यह आध्यात्मिक सिद्धांत प्राथमिक है । ईश्वर में, एक रहस्यपूर्ण सत्ता में, एक ऐसी सत्ता में परिभाषा नहीं की जा सकती - जो एक साथ ही सवर्त्र व्याप्त है और मानव अनुभूतियों से बहुत ऊपर और परे है।

दूसरे शब्दों में वह अपरिवर्तनशील शक्ति - वह शक्ति जिसकी परिभाषा नहीं की जा सकती और जो ईश्वर के नाम से जानी जाती है - और कुछ नहीं एक नैतिक विधान है । जो समस्त जीवन को नियंत्रित करता है और समस्त ब्रह्माण्ड के व्यवस्थित स्वरूप में अभिव्यक्त है । महात्मा गांधी उपनिषद् के इस वाक्य की ओर

---

[1] **रवीन्द्रनाथ ठाकुर - यूक्रियेटिव यूनिटी, पृ0 15**

विशेष रूप से आकर्षित थे:- ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्'', अर्थात इस जगत में जो कुछ भी है सब ईश्वरमय है । किंतु इस विचार ने उन्हें सामाजिक यथार्थ से अलगाव की स्थिति में नहीं पहुंचाया; उनके लिए इसका अर्थ एक व्यक्ति का समस्त मानवता से तादात्म्य था । वह इस विचार को प्रकट करते थे कि ईश्वर को मानवता से अलग कहीं दूसरी जगह नहीं पाया जा सकता ।

इस विश्वास को सामने रखकर, उनके लिए यह आसान था कि वह ईश्वर की धारणा को, व्यक्ति और समाज के संबंधों को नियंत्रित करने वाले नैतिक सिद्धांतों की धारणा, तक सीमित कर दें । ''मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है'', उन्होंने कहा था, ''ईश्वर नैतिकता है, ईश्वर भयहीनता है, ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है और इतने पर भी वह इन सबसे उँचा और परे है । वह ही नास्तिकों की नास्तिकता भी है।''[1]

'ईश्वर ही सत्य है' की अवधारणा का स्थान क्रमशः सत्य ही ईश्वर है' कि अवधारणा ने ले लिया । ''किंतु सत्य के बारे में यह दृष्टिकोण वस्तुगत यथार्थ पर आधारित नहीं था । यह मनोगत, अमूर्त, अतर्कपरक था । महात्मा गांधी के अनुसार, ''किसी क्षण एक शुद्ध ह्रदय जो अनुभव करता है, वह ही सत्य है, उस पर अडिग बने रहकर, विशुद्ध सत्य को प्राप्त किया जा सकता।''[2]

जब भी सत्य को ईश्वर के रूप में पाना चाहें, उन्होंने कहा था ''इसका अचूक साधन प्रेम है अर्थात् अहिंसा है । और चूंकि मैं यह जानता हूँ कि साधन और साध्य संपरिवर्तन शब्द हैं, इसलिए मुझे यह कहने में कोइ संकोच नहीं है कि ईश्वर प्रेम ही है।''[3]

मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवाद पर आधारित है, जिसके अनुसार गतिशील पदार्थ ही ब्रह्माण्ड का मूलभूत संघटक है । किंतु परम यथार्थ के संबंध में अनीश्वरवादी अवधारणा अनिवार्यतः आध्यात्मिक मूल्यों अथवा कहा जाय तो, मानव व्यक्तित्व की पवित्रता को अस्वीकार करना नहीं है। सृष्टिकर्ता के रूप ईश्वर पर विश्वास, सदा आध्यात्मिक चितंन के लिए आवश्यक शर्त नहीं रहा है ।

---

[1] **यंग इंडिया - 3 मार्च, 1925**
[2] **हरिजन - 27 नवम्बर**
[3] **तेंदुलकर - दि महात्मा, खण्ड 2, पृ0 312**

जवाहर लाल नेहरू ने कहा "अपने आत्म प्रदर्शन तथा आत्माओं की तथाकथित अभिव्यक्ति आद के साथ आध्यात्मिकता सदा मुझे मानसिक क्रिया-कलापों तथा जीवनेतर रहस्यों के अन्वेषण की एक बहुत ही भोंड़ी और असंगत पद्धति लगी है ।[1]

उनकी रचनाओं में ईश्वर के निषेध का तत्व सदा मौजूद रहा है । यह सच है कि वह मार्क्सवाद की विश्व के प्रति समझदारी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन का बहुत कुछ स्वीकार करने और उसे भारत की परिस्थितियों तथा समकालीन जगत पर लागू करने को तैयार थे । किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि उनके दार्शनिक विचार अडिग रूप से मार्क्सवादी रहे हैं । 'भारत की खोज' में मार्क्सवादी दार्शनिक दृष्टिकोण को बहुत कुछ स्वीकार करते हुए वे कहते हैं- "उसने मुझे पूर्णतः संतुष्ट नहीं किया, न ही मेरे मस्तिष्क में उठ रहे प्रश्नों का उत्तर दिया और लगभग अजाने ही एक अस्पष्ट, आदर्शवादी उपागम ने मेरे मस्तिष्क में प्रवेश किया, जो किसी हद तक वेदांत के दृष्टिकोण से मिलता था । यह मस्तिष्क और पदार्थ के बीच भेद का सवाल नहीं था, वरन् मस्तिष्क से भी परे की किसी चीज का मसला था ।"[2] उनका निरीश्वरवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से इन शब्दों में व्यक्त हुआ है:- "मैं नहीं जानता कि आत्मा जैसी कोई चीज है या नहीं, मृत्यु के बाद कोई जीवन होता है या नहीं, और ये प्रश्न यद्यपि महत्वपूर्ण है, तो भी मुझे कतई परेशान नहीं करते । जिस वातावरण में मेरा लालन-पालन हुआ, उसमें आत्मा को और मृत्यु के बाद जीवन को, कर्म सिद्धांत को और अवतारवाद को, स्वयं सिद्ध माना जाता था । इसका मुझ पर भी प्रभाव पड़ा है, फलतः एक अर्थ में इन संकल्पनाओं की ओर मुझमें भी झुकाव है । हो सकता है कि शरीर की भौतिक मृत्यु के बाद भी आत्मा जीवित रहती हो, और जीवन के क्रिया-कलापों को प्रभावित करने वाला कार्य कारण सिद्धांत तर्कसंगत प्रतीत होता हो, हालांकि जब कोई अंतिम कारण की बात सोचना शुरू करता है तो इससे स्पष्ट कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। आत्मा की संकल्पना करने पर, अवतार का सिद्धांत भी किसी हद तक तर्कसंगत प्रतीत होता है ।"[3]

दूसरी तरफ वह यह भी मानते थे कि मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति को उसकी आध्यात्मिक उन्नति से भी अनिवार्यतः सम्बद्ध किया जाना चाहिए । नेहरू ने यह समझ लिया था कि आधुनिक विज्ञान और तकनीक के आधार पर ही भारत प्रगति कर सकता है । किंतु इसके साथ ही वह इस बात पर जोर देते थे कि नैतिक और आध्यात्मिक विकास के बिना वैज्ञानिक और भौतिक क्षेत्र में तमाम प्रगति निरर्थक सिद्ध हो सकती है ।

---

[1] के0 दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा,पृ0 496
[2] के0 दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा,पृ0 497
[3] के0 दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा,पृ0 497

आधुनिक भारतीय (आध्यात्मिक) चिंतन का उद्‌भव हमारे प्राचीन दार्शनिकों के निश्च्छल मानवतावाद से हुआ और शताब्दियों के दौरान अनेक परिवर्तनों और उपंतरणों सहित इसका विकास हुआ । इसकी नींव काल में भारत के आर्य पूर्व आदिम कबीलों की मान्यताओं और आकांक्षाओं के प्राचीन आर्यों की संस्कृति से - जो ऋग्वेद के सूक्तों में प्रतिबिम्बित है - सम्मिश्रण से पड़ी थी । यह भौतिकवाद और आदर्शवाद, प्रकृतिवाद और आध्यात्मवाद के बीच युगों तक चलने वाले संघर्ष के दौरान हुआ और इस्लाम तथा ईसाई धर्म, पश्चिमी दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान से प्राप्त अनेकानेक नये तत्वों को आत्मसात करके समृद्ध हुआ । यह सच है कि स्वस्थ इहलोकवाद को कभी-कभी विकृत किया गया है और उसका निषेध किया गया है । विशेषकर आर्थिक और सामाजिक संकटों के दौरान, तथा आध्यात्मिक गतिरोध के कालों में, इस जगत को स्वीकार करने की प्रवृत्तियों का स्थान, पलायनवाद और युक्तियुक्तता से विहीन रहस्यवाद ने ले लिया । किंतु, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जीवन की सार्थकता को स्वीकार करने वाले मानवतावाद की उच्च्च भावना इस देश के धार्मिक नेताओं और दार्शनिकों की शिक्षाओं का सारतत्व रही है और वह ही इन शिक्षाओं की श्रृंखलाबद्धता का सूत्र है ।

भक्ति आंदोलन के धार्मिक नेता अन्याय और उत्पीड़न, चिंताओं और विपदाओं के मुकाबले मनुष्यों के बीच आध्यात्मिक समानता और भ्रातृत्व का समर्थन करते थे। जिन आदर्शों और मूल्यों का झंडा उन्होंने बुलंद किया, वे यद्यपि उस काल में व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे, तो भी उन्होंने मनुष्य को शाश्वतता का दर्शन कराया और भविष्य के प्रति उसमें आस्था उत्पन्न की ।

यह बहुत बड़ा सत्य है कि मध्य युग के उत्तर काल के प्रगतिशील मुसलमान और हिंदू संतों की शिक्षाओं ने न केवल कितने ही सामन्तवाद विरोधी संघर्षों को उत्प्रेरित किया, वरन् उन्नीसवीं शताब्दी के एक नये धार्मिक सुधार आन्दोलन के लिए मूलाधार तैयार किया। राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के साथ आधुनिक विचारों का आना और उनका प्रभाव पड़ना अपरिहार्य था, और फलतः मानव क्षमता के प्रति एक नयी चेतना का जन्म हुआ । उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति के विकास, माल के विनिमय, यातायात के साधनों में वृद्धि तथा संचार के साधनों में वृद्धि ने पुराने सुसम्बद्ध ग्राम-जीवन को, जो जाति और कर्म पर आधारित था कमजोर करना शुरू कर दिया था और व्यक्तिवाद, उदारतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा मानवतावाद की शक्तियों को प्रोत्साहित किया । स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मोहम्मद इकबाल इन आधुनिक मूल्यों के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि थे । उन्होंने भारतीय (आधुनिक आध्यात्मिक दार्शनिक) चिंतन को अमूर्तता के निराशावादी बादलों से नीचे उतार कर यथार्थ की आशावादी धरती पर लाने का प्रयत्न किया । उन्होंने किसी दूसरे लोक में बसने वाले ईश्वर को हमारी इस धरती पर ही बसने वाले ईश्वर का रूपदिया । ईश्वर का ब्रह्माण्ड

से ऊपर और परे कोई अस्तित्व नहीं था, वरन् वह अच्छाइयों, सौंदर्य, सत्य और प्रेम की समिष्ट था । इनके विचारों के रूप, प्रतीक और श्रेणियों सभी आदर्शवादी प्रणाली के थे, किंतु इनके विचारों की अर्न्तवस्तु प्रगतिशील थी । भाग्यवाद के सिद्धांत से उद्भूत पुराने मूल्यों का स्थान अब सृजनात्मकता, मानव गरिमा और स्वतंत्रता के नये मूल्यों ने लेना शुरू किया ।

पी0टी0 राजू 1957 में लिखा था- "आर्थिक आवश्यकताएं, जो कि मूलभूत हैं, आध्यात्मिक आवश्यकताओं से अधिक शक्तिशाली हैं । आर्थिक आवश्यकताओं की जब पूर्ति नहीं होती, तो मनुष्य उनकी वास्तविकता को और भी गहराई से महसूस करता है और वह आध्यात्मिक आवश्यकताओं को दरकिनार भी कर सकता है । भारत में यह आर्थिक आशावाद का युग है । इसलिए भारतीय दर्शन को सावधान करना है तथा इस जगत् के लिए आध्यात्मिक दिशा - ज्ञान दिया जाना है तथा जिसका पथ-प्रदर्शन किया जाना है - मूल्यों को समाहित करने के लिए वह अपना विस्तार करे --। दर्शन को सामाजिक रूप से उपयोगी बनाया जाना चाहिए और हमारे परम्परागत आध्यात्मिक दर्शनों के शक्तिशाली व्यक्तिवाद में उपांतरण किया जाना चाहिए । इस विचार का कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, दर्शन में गंभीरता से समावेश किया जाना चाहिए ।"[1]

भारत में तथा अन्य देशों में दूरगामी सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन होने के साथ-साथ भारतीय दार्शनिकों के चिंतन में एक प्रगतिशील विश्व दृष्टिकोण अधिक प्रबल होता जा रहा है ।

जो लोग ईश्वर अथवा धार्मिक मताग्रहों में विश्वास करते हैं । उनके लिए, लगता है, जीवन ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित एक क्रम है । इसके विपरीत वे लोग जो दार्शनिक भौतिकवाद को स्वीकार करते हैं, उनके लिए जीवन महत्व और उसकी उद्देश्यपरता मताग्रहों अथवा इलहाम पर आधारित नहीं, वरन् यथार्थ के वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित होती हैं । वे ईश्वरकी इच्छ के सामने आत्मसमर्पण नहीं करते अथवा मनुष्य के अज्ञान अथवा उसकी मूर्खताओं के लिए कर्म के नियम को दोषी नहीं ठहराते । उनके मतानुसार मनुष्यको नेकी और बदी, स्वार्थपरता तथा स्वार्थहीनता मानवता और बर्बरता, सौन्दर्य और कुरूपता, इनके बीच से किसी एक को चुनना होता है । उन्हें मृत्यु के बाद के जीवन की चिंता नहीं रहता, वरन् उन्हें चिंता होती है स्वयं इस धरती पर सुखी, उदांत और आध्यात्मिक जीवन की संभावना की। वे यह भी जानते हैं कि इस संभावना को मूर्त् रूप देना, मानव कष्टों और पीड़ाओं के सभी वर्तमान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारणों का उन्मूलन करके ही संभव है,

---

[1] **पी0टी0राजू - दि प्रबुद्ध भारत, अगस्त, 1957**

तथा इसके लिए मानव व्यक्तित्व के पूर्ण् और निर्विरोध विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों को तैयार करना है । उनके अनुसार आध्यात्मिक कल्याण, धार्मिक कर्मकाण्डों, तथा अंध-विश्वासों और रहस्यवादी कल्पनाओं अथवा अयुक्तियुक्त निरपेक्ष की शरण लेने मं नहीं निहित है । आध्यात्मिक कल्याण, वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर मानव व्यक्तित्व के विकास से संभव है ।

अति प्राचीन काल से मनुष्य इस धरती पर सुखी जीवन तथा मानवता के उदात्तम नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति केलिए आकांक्षित रहा है । किंतु, मनुष्य की मानवीयता को समाप्त करने वाली परिस्थितियों के अंतर्गत, उसकी ये आकांक्षाएं और ये मूल्य अप्राप्त, और अप्राप्य रहे हैं । इतने पर भी मनुष्य निराश नहीं हुआ । यथार्थ में जिसे वह प्राप्त नहीं कर सका, उसे उसने विचारों में, कल्पना में, जीवित रखा । यह सच है कि ऐसे आदर्शों की भी, जो अप्राप्य थे, एक सामाजिक महत्ता रही है । इन विचारों ने भविष्य के सुखद संदर्शन को जीवित रखा है । किंतु भविष्य की यह कल्पना एक सुखी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती थी । और, मनुष्य का जीवन दुःखों, विपदाओं और यातनाओं से पीड़ित रहा । अपनी तमाम कल्पनाओं और मूल्यों के बावजूद, वह अमानवीय परिस्थितियों द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक रूप से उत्पीड़ित रहा ।

परंतु अब परिस्थिति भिन्न है । हमारे प्राचीन मध्ययुगी विचारकों ने जिन युगों पुराने, सार्वत्रिक, मानवतावादी मूल्यों का दावा किया था उन्हें प्राप्त करने की वस्तुनिष्ठ परिस्थितियां अब दरअसल प्राप्त की जा सकती हैं । बड़े पैमाने पर विज्ञान और औद्योगिकी के विकास ने तथा उद्योग और कृषि में इनके प्रयोग ने, मनुष्य के लिए यह संभव बना दिया हे कि वह संसार से दरिद्रता, बीमारी, गरीबी और दीनता तथा इनसे सम्बद्ध बुराइयों को सदा के लिए हटा दे ।

समाजवाद के अंतर्गत उन तमाम तकनीकी ज्ञान तथा उन उत्पादक शक्तियों को, जो पूंजीवाद के अंतर्गत विकसित की गई हैं, नष्ट नहीं कर दिया जाएगा । उन्हें केवल पूंजीवाद संबंधों के अयुक्तियुक्त बंधनों से मुक्त किया जाएगा । इसी प्रकार सांस्कृतिक तथो आध्यात्मिक मूल्यों को भी यह समाज ग्रहण करेगा तथा उन्हें और विकसित करेगा ।

यह सच है कि आम वातावरण में निराशा और निरुत्साह जैसी भावना व्याप्त हैं। हमारे देश की जनता एक गंभीर नैतिक तथा आध्यात्मिक संकट से गुजर रही है । किंतु इस संकट का कारण यह नहीं है कि ऐसे दार्शनिक नहीं हैं, जो उसे आगे देखने के बजाय अपने भीत देखने के लिए उत्प्रेरित करें । आंतरिक संकट, वास्तव में, बाहरी सामाजिक-आर्थिक यथार्थ का ही एक प्रतिबिम्ब है ।

आदर्शवाद और धर्म के समर्थक जहां यह सोचते हैं कि यदि व्यक्ति नैतिकता के शाश्वत मूल्यों का अनुसरण करने लगे तथा शिक्षा और प्रचार के द्वारा जनता के मन में नैतिक एवं धार्मिक मूल्य जमा दिये जाएं, तो मानव समाज श्रेष्ठतर बन जाएगा, वहीं यांत्रिक भौतिकवादी तथा कठमुल्ले, मार्क्सवादी यह दावा करते हैं कि यदि पूंजीवाद का उन्मूलन कर दिया जाए तो उसके स्थान पर समाजवादी समाज की स्थापना कर दी जाय, तो नैतिक तथा नीतिशास्त्रीय मूल्य फलने-फूलने लगेंगे । यह दृष्टिकोण गलत और अवैज्ञानिक है क्योंकि मनुष्य का आध्यात्मिक विकास, जैसा कि हम देख चुके हैं, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों का स्वतः उत्पन्न गौण-उत्पादन नहीं है । यह सच है कि शोषण तथा उत्पीड़न से मुक्त समाज, मानव व्यक्तित्व के विकास का श्रेष्ठतर परिस्थितियां उत्पन्न कर देगा । किंतु, समाज के भौतिक आधार पर रूपांतरण मात्र इस लक्ष्य की प्राप्ति की गारंटी नहीं कर सकता । इसके लिए स्वयं मानव स्वभाव में - पारस्परिक सहायता तथा समान कल्याण की समझदारी के लिए व्यक्तियों के प्रयत्नों के माध्यम से रूपांतरण जरूरी है । अतः जो चीज अपेक्षित है वह जीवन से पृथक अनुभवातीत नैतिकता नहीं, वरन् ऐसी नैतिकता है जो सदाचार, प्रेम, भ्रातृत्व सौन्दर्य के आदर्शों की आकांक्षा को वास्तविक जीवन में साकार करने के सक्रिय प्रयत्नों में बदलती है - एक श्रेष्ठतर सामाजिक व्यवस्था के लिए जनता के दिन-प्रतिदिन के संघर्ष में बदलती है । भारतीय समाज में आज जो निराशावाद, उदासीनता, निरुत्साह और सिनकवाद व्याप्त है उसका कारण, मुख्यतः - यदि पूर्णतः नहीं तो - एक सुसंबद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण का अभाव है ।

इस प्रकार, परिवर्तन की दिशा तथा हमारे अंतिम लक्ष्य के प्रति स्पष्ट रूप से जागरूक एक उद्देश्यपूर्ण सामाजिक दर्शन, हमारी प्रगति के लिए अपरिहार्य हो गया है । नेहरू ने 'मेरी कहानी' में लिखा था; ''हमारा अंतिम लक्ष्य एक वर्गहीन समाज ही हो सकता है, जिसमें सबको समान आर्थिक न्याय तथा सुविधाएं प्राप्त हों, एक ऐसा समाज जो मानव मात्र को भौतिक और सांस्कृतिक स्तरों तक उठाने के लिए योजनाबद्ध आधार पर संगठित हो, ताकि सहयोग, स्वार्थहीनता, सेवा की भावना, उचित कार्य करने की इच्छा, सद्भावना और प्रेम के आध्यात्मिक मूल्यों को प्रोत्साहित किया जा सके - अंततः एक विश्व व्यवस्था की स्थापना की जा सके।''[1] आज दर्शन का कर्त्तव्य है कि वह जगत् तथा मानव जीवन से जगत् के संबंध, के अधिक गहरे प्रश्नों का उत्तर देकर तथा परिवर्तनशील समाज द्वारा उपस्थित समस्याओं के समाधान के लिए उसे सक्षम बनाकर हम मनुष्यों के जीवन को नया अर्थ तथा नयी अन्तर्वस्तु प्रदान करे । सही अर्थों में यही आध्यात्मिकता है ।

---

[1] **जवाहर लाल नेहरू - मेरी कहानी - पृ0 47**

भारतेन्दु युगीन काव्य धारा में यह विचारधारा और राजनैतिकता पूरी तरह परिलिक्षित दिखायी देती है ।

अध्याय तीन

भारतेंदु-युग : आध्यात्मिक चिंतन का स्वरूप

भारतेन्दु-युग को हिन्दी का शैशव काल कहकर टाला नहीं जा सकता। वास्तव में देखा जाये तो ऐसा चेतन और सजीव युग हिन्दी में पहली और एक ही बार आया है । इस युग के तपस्वियों को तो जो सफलता मिली वह बड़ी है ही, उससे भी बड़ी उनकी साधना है, जो आने वाली पीढ़ियों को बराबर उत्साहित करती रहेगी । आज से कुछ दिन पूर्व उस युग का मूल्य आंकना कठिन भी था । साहित्य में जिस मनोवृत्ति की प्रधानता थी, उसके अनुसार उस युग की क्रियाशीलता उथली-उथली लगती थी; परंतु अब युग ने फिर पल्टा खाया है और साहित्य की वह मनोवृत्ति एक आडम्बर मात्र जान पड़ती है । संक्षेप में हम कह सकते हैं आज साहित्य के आगे जनहित की समस्या प्रधान है, उसी हित को देखकर भाषा का रूप भी निश्चित किया जा रहा है । जनहित को ही ध्यान में रखकर सामाजिक संस्कृति स्थिर हो रही है । इस संबंध में रामविलास शर्मा ने लिखा भी है --भारतेंदु-युग को पुर्नजीवित करने की आवश्यकता नहीं है; उस युग की निर्बलता के रंग-चुन करके सजाने की आवश्यकता नहीं है । हमें केवल इतिहास को क्रमबद्ध करके उससे अपना श्रृंखला-संबंध समझ लेना चाहिए ।''[1]

भारतेंदु ने स्वयं बहुत सा लोक - साहित्य रचा था । ''वैसे तो वे साहित्य के सभी अंगों की ओर सचेत थे, परन्तु जिन शब्दों में उन्होंने ग्राम - साहित्य अथवा लोक - साहित्य की आवश्यकता को व्यक्त किया है, वे हमारे लिए आज भी एक मैनिफैस्टो के रूप में काम आ सकते हैं ।''[2]

भारतेंदु-युग के अंतर्गत **तीन प्रकार** के कवि हुए । **प्रथम तो** वे जिन्होंने प्राचीन परम्परा पर चलते हुए आधुनिकता से अपने आपः को पृथक ही रखा । जिनमें सेवम, सरदार, हनुमान, इस परम्परा के अत्यंत श्रेष्ठ कवि हैं ।

दूसरे प्रकार के कवियों में वे कवि सम्मिलित हुए जिन्होंने अपनी कविता यात्रा प्राचीनता से प्रारंभ करके आधुनिकता में समाप्त किया । इस कोटि के कवियों के नेता स्वयं भारतेंदु जी हैं । इनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख कवि, जैसे चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास इसी प्रकार के कवि हैं ।

1- रामविलास शर्मा - भारतेंदु-युग - पृ० - 2
2- रामविलास शर्मा - भारतेंदु-युग - पृ० - 5

तीसरे वर्ग के अंतर्गत वे कवि सम्मिलित किए गए जिन्होंने केवल अर्वाचीन ढंग की रचनाएं प्रस्तुत कीं । इस वर्ग का प्रतिनिधित्व बाल मुकुन्द गुप्त ने किया है। अन्य प्रमुख कवि हैं अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीधर पाठक ।

भारतेंदु-युगीन काव्य भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से संक्रमणकालीन काव्य है । ''भारतेंदु-युग'' काव्य की दृष्टि से भी एक संक्राति-युग है । इस युग में प्राचीन-काव्य धारा का प्राचुर्य तो रहा ही, नई काव्य-धारा का भी प्रादुर्भाव हुआ । स्वयं भारतेंदु जी जो आधुनिक काव्य के जनक हैं, प्राचीन-काव्य-धारा के अत्यंत सरस एवं श्रेष्ठ कवि हैं ।[1] इसका प्रमाण द्वितीय वर्ग के कवियों की रचनायें हैं । विशेषकर भारतेंदु की । मुख्य रूप से भारतेंदु-युग में आध्यात्मिक चिंतन की दो दृष्टियां थीं - परम्परित दृष्टि और आधुनिक दृष्टि ।

(क) परम्परित दृष्टि और आध्यात्मिक चिंतन

भारतेंदु युग में जितने भी धर्मोपदेशक थे वे जीवन की नश्वरता तथा मोक्ष की आवश्यकता पर जोर दे रहे थे । उपनिषदों के अनुसार जगत् की उत्पत्ति जल, व्योम, मृतिका, अग्नि तथा वायु से हुई है । समस्त हिन्दू यह स्वीकारते थे कि इस लोक में किए गए सभी अच्छे-बुरे कार्यों का शुभ-अशुभ उस लोक में मिलेगा और पूर्व जन्म में किए गए कर्मों का फल हम इस लोक में भोग रहे हैं । उनका कर्मवाद और पुनर्जन्म पर दृढ़ विश्वास था । प्रत्येक हिंदू की यह धारणा थी कि जब-तक भगवान की कृपा दृष्टि नहीं होती तब तक मोक्ष नहीं मिलता तथा जब-तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब-तक मनुष्य अपने कर्म-फलानुसार बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है।

भारतेंदु-युग में हिंदुओं की मान्यता थी कि तीर्थयात्रा परलोक प्राप्ति का उत्तम मार्ग है, वे इस बात में विश्वास रखते थे कि तीर्थयात्रा जितना ही कष्टमय होगा पुण्य की प्राप्ति उतनी ही ज्यादा होगी । अधिकांश हिंदू बहुदेव-देवी के पुजारी थे । ये हिन्दू एक लुटिया जल से अन्नपूर्णा, शनीचर देवता, महाबीर, महादेव, राम, कृष्ण, विष्णु सभी पर थोड़ा-थोड़ा जल चढ़ाकर पुण्य प्राप्ति की कामना करता था । धर्म गुरूओं, साधु-संतों तथा ब्राह्मणों की पूजा करके वह अपने आप को धन्य समझाता था ।

भारतेंदु-युगीन तत्कालीन जनमानस अपनी छोटी-छोटी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर सूर्य, चन्द्रमा, तारे, आकाश, पवित्र नदियां, अग्नि, पृथ्वी, गाय, सर्प, सांड, बन्दर, कुत्ता, गधा, सिंह, उल्लू, वट-वृक्ष, पीपल, केला, तुलसी, सिल, चक्की, ओखली, पुस्तक, आदि की पूजा करता था ।

आदिम-काल में मानव-जाति किसी शहर या गांव में नहीं रहती थी बल्कि कुछ परिवार एक स्थान पर रहने लगते थे और कृषि तथा पशु-पालन द्वारा जीवन-व्यतीत करते थे फलस्वरूप उन्हें खेती, पशु और मनुष्य संबंधी कष्ट भी उन्हें सहने पड़ते थे । ये सभी कष्ट उनके अपने ही कर्म के फल नहीं थे, इसलिए वे किसी परोक्ष शक्ति द्वारा प्रेरित माने जाने लगे और उस शक्ति के प्रति इनमें भय की उत्पत्ति हुई तब ऐसी शक्ति की अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल भावनायें बनी और उन्हें संतुष्ट प्रसन्न रखने के लिए बलिदान आदि देकर वे उनकी पूजा करने लगे। प्रेत पूजा, नाग पूजा आदि उसी आदिम-युग के उपासना के परिणाम हैं । इसके पश्चात केवल दुख दूर करना ही लोगों का लक्ष्य नहीं रह गया बल्कि और अधिक सुख-प्राप्ति की कामना लोगों में जगी । जल देवता वरूण, धन देवता कुबेर, और प्रकाश के देवता सूर्य आदि की उपासना किसी लाभ के लोभ से वशीभूत होकर की जाने लगी कि वे प्रसन्न रह कर सब प्रकार से अपने भक्त जनों को सुखी रखें और सम्पन्न बनाएं । इस प्रकार दो प्रकार के देवताओं की भावना की गई, जिनमें कुछ अनिष्टकारक थे तो कुछ लाभदायक, और यही भावना आज तक बनी हुई है ।

मानव-जाति में यह धारणा बहुत दिनों तक बनी रही कि देवगण पूजा पाने से प्रसन्न होते हैं । साथ ही देवताओं की संख्या में वृद्धि होते-होते यह भी भावना पनपने लगी कि इन सबसे भी बड़ा, इन सब का प्रधान कोई अव्यक्त अचिंत्यादि गुणों से विभूषित कोई परब्रह्म परमेश्वर भी होगा जिससे ये सभी देवता अपनी शक्ति प्राप्त करते होंगे । यह भावना निर्गुण ज्ञान मार्ग की थी, जिसकी उपासना करना साधारण जन समुदाय की शक्ति के बाहर था । वे देखते थे कि मनुष्य का जन्म होता है, उसका पालन होता है और अंत में उसका नाश होता है । उस निर्गुण परब्रह्म को इन तीनों कार्य शक्तियों से युक्त समझ कर उसके तीन सगुण रूपों की भावना की गई जिसके फलस्वरूप सृष्टि रूप में ब्रह्मा, पालक रूप में विष्णु तथा संहारक रूप में शिव नामकरण किया जाने लगा ।

समय के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था उन्नत होती गई । ग्राम-नगर बसने लगे और विचारों के आदान-प्रदान भी बढ़ने लगे । समाज में एक ओर आततायियों की नृशंसता, अत्याचार आदि दृष्टिगोचर हो रहे थे तो दूसरी ओर ऐसे क्रूरों का नाश कर लोक-रक्षा करने वाले आदर्श वीर भी अवतरित होने लगे और लोगों ने उन्हें परब्रह्म के लोक-पालक सगुण-रूप विष्णु का अंशमान लिया और विष्णु ही बार-बार लोक रक्षा के लिए असाध्य नृशंस राक्षसों का संहार करने के लिए पृथ्वी पर आये और इनके ऐसे ही अनेक अवतारों ने श्री रामचन्द्र और श्री कृष्ण चन्द्र ही वैष्णवों के प्रिय उपास्य देव कहे गए ।

वैष्णव सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग - एक रामोपासक और दूसरा कृष्णोपासक हो गए । भारतेंदु जी वैष्णव थे और इनके यहां युगल मूर्ति की पूजा होती थी । अपने 'गोपाल' की मूर्ति का उन्होंने यहां बहुत ही सुन्दर रूप वर्णित किया है -

''सकल की मूलकयी वेदन की भेदमयी,
ग्रंथन की तत्वमयी बादने की जाल की ।
मन बुद्धि सीमामयी सृष्टिहु की आदिमयी,
देवन की पूजामयी जीवमयी काल की ।।
ध्यानमयी ज्ञानमयी सोभामयी सुखमयी,
गोपी - गोप - गाय - ब्रज भागमयी भाल की ।
भक्त - अनुरागमयी राधिका - सुहागमयी,
प्राणमयी प्रेममयी मूरत गोपाल की ।।''[1]

और फिर वे कहते हैं कि संसार में यदि हमें कुछ करना है तो वह सब 'गोपाल' के द्वारा ही संभव है ।

भारतेंदु-युग में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय थे । ''अनेक सम्प्रदाय आत्मा को, ब्रह्मरूपी सागर की बूंद मानते थे । जो मनुष्य की मृत्यु के बाद ब्रह्मरूपी सागर में विलीन हो जाती है । ये संसार को माया मानते थे और कहते थे कि माया से मुक्ति पाकर जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं ।

1- श्री ब्रहरत्न दास - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 266

वेदान्त में मायावाद का हिन्दुओं के आध्यात्मिक जीवन में विशेष स्थान था।[1]

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का प्रचार करने वालों तथा सिद्धांतों में फंसकर जनता के समझने-बूझने की शक्ति क्षीण हो गई । उनके लिए यह चुनना मुश्किल हो गया कि कौन सा सम्प्रदाय अच्छा है और कौन सा बुरा ।

धर्म की चर्चा करते समय वे देश को भी ध्यान में रखते हैं ''वैष्णवता और भारतवर्ष'' में धर्म की प्राचीनता स्थापित करते हुए अंत में लिखते हैं - कि ''उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको कार्य-क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं । वैष्णव, शैव, ब्रह्म, आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं इसी से ऐश्वर्यरूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बंधता । इन सब डोरी को एक में बांध कर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिगदिगंत भागने से रूकेगा । अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें । अब महाघोर काल उपस्थित है । चारों ओर आग लगी हुई है । दरिद्रता के मारे देश जला जाता है । अंग्रेजों से जो नौकरी बच जाती है, उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी नहीं, केवल नौकरी की थी, सो भी धीरे-धीरे खसकी । तो आगे कैसे काम चलेगा । हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तंत्र वरंच भाषा ग्रंथ मानने वाले तक, सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रक्खो कि आर्य जाति में एकता हो । इसी में धर्म की रक्षा है । भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो । धर्म संबंधी उपाधियों को छोड़कर प्रकृत धर्म की उन्नति करो।''[2]

अंग्रेजों के पूर्व भारतवर्ष पर मुसलमानों का शासन था, चारों ओर शोर-शराबा और अशांति का साम्राज्य था । ये मुसलमान लोग हिंदुओं पर और उनके धर्म पर बहुत ही अत्याचार कर रहे थे । हिंदुओं के मंदिर तोड़कर मस्जिदों में परिवर्तित कर दिए । उनके पुस्तकालयों को इसलिए जला दिया कि उनमें कुरान शरीफ की पुस्तकें नहीं थीं, जबकि उस समय के शासकों के अनुसार संसार को केवल एक ही पुस्तक कुरानशरीफ की आवश्यकता थी । हिन्दुओं को लोग काफिर

1- डॉ० कमला कनोड़िया - भारतेंदु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - पृ० -53.

2- ब्रजरत्नदास - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 268

कहकर पुकार रहे थे । जबकि कंपनी के शासन-काल में धर्म पर किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप नहीं हुए थे । इस नजरिये से कंपनी का विदेशी शासन भी धर्मप्राण हिंदुओं के लिए मुसलमानी शासन से ठीक ही था । जबकि कंपनी अपने लाभ के लिए कभी-कभी मनमानी कर बैठती थी । उसने दत्तक पुत्र की प्रथा को खत्म कर दिया जो कि हिन्दू धर्मानुसार मान्य है । परंतु महारानी विक्टोरिया ने अपने घोषणा पत्र में कहा कि धर्म पर कभी भी किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा । भारतेंदु मुसलमानों की धर्मान्धता से बड़े ही दुःखी थे, जबकि अंग्रेजों की धार्मिक उदारता ने उन्हें मुग्ध कर दिया था ।

भारतेंदु उन महाकवियों में से एक हैं, जो अपनी पूर्व परम्परा पर चलते हुए भी स्वयं अपनी एक परम्परा छोड़ जाते हैं । भारतेंदु-युग में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज इत्यादि नवीन धर्म-सम्प्रदायों तथा दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद आदि के नूतन धर्मसिद्धांतों ने भारतेंदु-युगीन नयी जागृति को विकासशील मार्ग पर अग्रसर किया ।

भक्ति काल की कृष्णाश्रयी एवं रामाश्रयी दोनों सगुण धाराओं तथा ज्ञानाश्रयी निर्गुण-धारा प्रवाह हमें उनके भक्ति काव्य में प्रवाहित दिखायी पड़ता है -

''वास्तविक दान, वास्तविक धर्म, मनुष्य की मनुष्य के प्रति सहानुभूति में है, इसलिए धर्म का रहस्य पंडितों के पास न होकर मनुष्य के हृदय में है ।''[1]

उनके भक्ति-काव्य में कबीर, सूर, तुलसी की झलक है, भारतेंदु वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव थे । इसीलिए उन्होंने कृष्ण-काव्य की सर्वाधिक सृष्टि की है ।

कृष्ण लीला तथा कृष्णराधा के प्रेम संबंधी भक्ति-रचनाओं में वियोग-संयोग तथा दाम्पत्य रति का जो उल्लेख हुआ है वह साधारण सांसारिक नायक-नायिकाओं के आपसी प्रेम तथा श्रृंगार सा ही दृष्टि-गोचर होता है -

---

1- रामविलाय शर्मा - भारतेंदु-युग - पृ० - 91

''आजु कंज मंदिर अमन्द अनन्द भरि बैठे श्याम,
श्यामा-संग रंगन उमंग अनुरागे हैं ।
घन घहरात बरसात होत जात ज्यौं-ज्यौं,
त्यौं-त्यौं अधिक दोऊ प्रेम-पुंज पागे हैं ।
हरिचन्द अलकें कपोल पे सिमिटि रहीं
बारि बुन्द चूअत अतिहि नीके लागे हैं ।
भींजि-भीजिं लपटि-लपटिटसताराई दोऊ
नील पील मिलि भए एकै रंग बागे हैं ।''[1]

भारतेंदु बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित कृष्ण वैष्णव थे, जिसके फलस्वरूप ही वे मायावाद के विरोधी थे । वे पंचदेवोपासक नहीं थे । ''तुलसीदास जी ने जहां'' विनय-पत्रिका में सभी देवताओं का स्मरण किया है, वहां सूरदास जी ने अपने ग्रंथ का शुभारम्भ 'चरन कमल बन्दौ हरिराई' से किया है और अन्य देवों को 'और देव सब रंक भिखारी' कहकर अपमानित किया है और इसी विचार से भारतेंदु जी भी प्रभावित थे । उन्होंने अपने पिता के स्मरण में 'सब-कुल-देवन-मेंटि एक हरिपंथ दृढ़ायौ, कहकर कृष्ण के प्रति अपनी मान्यता को प्रकट किया है ।

भक्त अपने को पतित और भगवान को पतित-पावन मानता है । अपनी पतितता दर्शाते हुए भारतेंदु जी ने लिखा है -

''जगत् जाल मैं नित बंध्यो, परयौ नारि के फंद
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचंद ।''[2]

उनका कहना था कि भगवान की माया से प्रेरित होकर ही जीव पाप करता है और ईश्वर की कृपा से उनसे मुक्ति प्राप्त करता है ।[3] उनका विचार था कि भक्त का

1- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली, भाग द्वितीय - प्रेममाधुरी - पृ० - 150

2- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली(द्वितीय भाग) उत्तरार्द्धभक्तमाल छन्द सं०-197, पृ० - 270

3- 'कहौ किमि छूटै नाथ सुभाव ।
काम, क्रोध, अभिमान, मोह, संग, तन को बन्यौ बनाव ।।
ताहू मैं तुवमाया सिर पैं, औरहु करन कुदांव ।
'हरीचंद' बिनु नाथ कृपा के नाहिन और उपाव ।।''
भारतेंदु ग्रंथावली(भाग द्वितीय) छंद - 12, पृ० - 276

अपने आराध्य पर पूर्ण विश्वास है और इसीलिए उसका उस पर अधिकार होता है कि वह अपनी मुक्ति के लिए अपने आराध्य से कहे । वल्लभाचार्य को तो वे कृष्ण का अवतार ही समझते हैं और इसीलिए मीरा के ''गिरधर गोपाल की नाई'' ये भी गाते हैं -

> ''हमतौ श्री वल्लभ को जाने,
> सेवन वल्लभ-पद पंकज को वल्लभ ही को ध्यानें ।''[1]

जैसे रामचरित मानस का अनुसरण करके मध्ययुग में कृष्ण-काव्य परम्परा के अंतर्गत कृष्ण काव्य की श्रृंगार और माधुर्य-भावना को दर्शाने की कोशिश की गयी। कवियों को कृष्ण काव्य की श्रृंगार और माधुर्य भावना जितनी मधुर और सरस प्रतीत हुई उतनी तुलसीदास की मर्यादित और दास्यभक्ति नहीं । इस भावना के फलस्वरूप आयोध्या तथा कुछ अन्य जगहों में अनेकानेक रामोपासक सम्प्रदाय बने जिसका उदाहरण स्वमुखी सम्प्रदाय और तत्सुखी सम्प्रदाय है । इसके अंतर्गत सपत्नी या राखी भाव से राम की उपासना की गई तथा राम और सीता की विलास क्रियाओं तथा रति क्रियाओं को उसी प्रकार चित्रित किया गया जिस प्रकार कृष्ण-काव्य के अंतर्गत राधाकृष्ण की प्रेम क्रियाओं और रति क्रियाओं को चित्रित किया गया था । और तत्वस्वरूप सीताराम के युगलस्वरूप की उपासना भी राधाकृष्ण के युगल जोड़ी की ही तरह की जाने लगी, परंतु ऐसा भी नहीं था कि राम-काव्य पर से लोगों के सन्त भाव और मर्यादा भाव का अन्त हो गया था ।

भारतेंदु जी जैन धर्म और हिन्दू धर्म में कोई अन्तर नहीं मानते थे । विभिन्न धर्मों को मानने वालों ने ईश्वर को विभिन्न रूपों में देखा है, भारतेंदु जी के अनुसार वे सभी रूप एक ही परमात्मा के हैं, उनका कहना था कि ईश्वरता केवल वेदों की ही वस्तु नहीं है । भगवान झगड़ों में निवास नहीं करते, अत- अद्वैतवाद के विरोधी थे, जीव और ब्रह्म दोनों की अलग-अलग सत्ता के आधार पर ही भक्ति खड़ी होती है । वे अद्वैतवाद के 'ब्रह्म सत्यं जगमिथ्या' सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार यदि ईश्वर सत्य है तो उसकी सृष्टि भी सत्य है । भारतेंदु ब्रह्माडंबरों में विश्वास नहीं करते थे, वे ईश्वर को केवल प्रेम में पाते हैं, बाह्याडंबर, खंडन, मंडन, ज्ञान-ध्यान करम-कुल-नेम महाभारत, रामायण, वेद, मनुस्मृति, झगड़ा, मुक्ति, मतवाद, मंदिर पूजा, घंटा आदि में नहीं । वे संसार को नश्वर मानते हैं ।

1- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली (द्वितीय भाग) प्रेममालिका - छंद संख्या 33, पृ० - 55

भारतेंदु-युग के अन्य कवि हैं - बद्रीनारायण उपाध्याय, चौधरी 'प्रेमधन', प्रताप नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, ठाकुर जगमोहन सिंह, बाबा सुमेर सिंह, साहबजादे आदि । इनमें सबसे श्रेष्ठ और प्रमुख भारतेंदु जी ही हैं, जिन्होंने आधुनिक काव्य को अध्यात्मिकता के सहारे विकासात्मक रूप दिया ।

बद्रीनारायण उपाध्याय चौधरी 'प्रेमधन' जी के काव्य में प्राचीनता का तत्व कम, नवीनता का अधिक है, जब कि भारतेंदु जी के काव्य में परिणाम की दृष्टि से पुरानापन अधिक और नवीनता कम, परंतु नवीनता के आदि स्रोत वही हैं ।

इन कृष्ण भक्त कवियों ने पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुकूल कृष्ण-राधिका के मंगलमय युगल स्वरूप की ही उपासना की है -

''मंगल राधा कृष्ण नाम शुचि सरस सुहावन ।
मंगलमय अनुराग जुगल मन मोह बढ़ावन ।।
मंगल गावनि भाव सुमंगल बेनु बजावन ।
मंगल प्यारी मोद विहंसि मुख चन्द्र दुरावन ।।[1]

'प्रेमघन' ने भी भारतेंदु के समान राधाकृष्ण के युगल रूप को ही महत्व दिया है ।

इसके पश्चात प्रताप नारायण मिश्र में भारतेंदु एवं 'प्रेमघन' की तुलना में पुरानापन और ही कम है । उनमें नवीनता बहुत है । भारतेंदु के समान इन्होंने भी संसार की निस्सारता को महत्व दिया है तथा भारतेंदु की ही तरह ये भी ईश्वर की वंदना दाम्पत्य भाव से ही करते हैं और एक विरहिणी की भांति अपने प्रियतम से मिलने के लिए बेचैन है -

''बस बस बहुत भई अब आवो ।
हा हा सहि न जात दुख कैसेहु बेगिहि मुख दिखरावो ।।
प्राणहि लियौ चहत तौ प्यारे और जुगुति उहरावो ।
विरह वाण सो बेधि दयामय निज नामहि न लजावो ।।
कै निज हाथन विषहि देहु कै अधर सुधारस प्यावो ।
काहू विधि अपने 'प्रताप' को जरत जीव जुड़वावो ।।''[2]

1- प्रेमधन - प्रेमधन सर्वस्व (प्रथम भाग) युगल मंगल स्रोत- पृ० - 131

2- प्रताप नारायण मिश्र - प्रेम प्रसाद - ब्राह्मण खण्ड 3 - पृ० - 11

भारतेंदु की भांति मिश्र भी स्वामी दयानंद के विचारों के विरोधी थे । परंतु उन कट्टरपंथियों के वह और भी विरोधी थे जो अपनी उदरपूर्ति के लिए समाज में प्रचलित कुरीतियों को बनाये रखने के लिए आर्यसमाज का विरोध करते थे ।

जो देवता अपनी मूर्तियों का विनाश देख कर भी संतुष्ट नहीं हुए उन्हें कवि ने निर्लज्ज कहा है । विष्णु भगवान लक्ष्मी के पति हैं, परंतु देश मे लक्ष्मी का नामो-निशान नहीं है । रूद्र शक्ति के देवता माने जाते हैं, परंतु यहां तो लोगों को चाकू छूते भी डर लगता है । प्रजापति का कार्यभार संभालने वाले लोग अब निर्बल दूसरे के अधीन और बेकार हो गए हैं । छंद देवता के नाम पर लोग यहां राजा हरिश्चन्द्र के गुणों को भी भूल चुके हैं जब महंगाई और कर के मारे साग-पात तक का मिलना मुश्किल है तो ऐसे में कोई नाग देवता को दूध कहां से पिला सकता है? यह सोचकर कि मरे हुए लोगों को तो खाने को मिलता है और जीवित लोग भूखों मर रहे हैं, यह देखकर उन्होंने बड़े ही कड़वाहट के साथ लिखा है -

"मरेहु खाउ तुम खीर खांड, हम जियहिं छुधा कृश निपट निकाम ।"[1]

भारतेंदु-युगीन अन्य कवियों के समान अंबिकादत्त व्यास ने भी उस काल के अनुरूप अनेक नये विषयों पर फुटकर कविताएं लिखी थीं, जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही । आज इन कविताओं की उपलब्धि का भी कोई साधन नहीं है ।

राधाचरण गोस्वामी जी भी भारतेंदु-युगीन अन्य कवियों की भांति भारतेंदु जी के अनन्य भक्त थे और इनकी कविताओं में भी नयापन ही ज्यादा है ।

भारतेंदु-युगीन कवियों के अनुसार भगवान भक्तों के कल्याण के लिए नाना प्रकार के रूप धारण करके अपने भक्तों को लुभाते, मोहित करते हैं तथा उनका उद्धार-कल्याण करते हैं । अवतारवाद और ईश्वर के सगुण-निर्गुण रूप का विवेचन भी इन कवियों के निम्नपद द्वारा दर्शाया है -

---

1 - रामविलास शर्मा - भारतेंदु युग - पृ० - 146

''अहो तुम बहुविधि रूप धरो ।
जब जब जैसों काम परै तब तैसो भेख करो ।।
कहुं ईश्वर कहुं बनत अनीश्वर नाम अनेक परो ।
संत पंथहि प्रगटावन कारन ले सरूप बिचरो ।।''[1]

इस युग के वैष्णव भक्त कवियों ने अन्य सभी धर्मों के देवी-देवताओं के अस्तित्व को स्वीकारा भी है और उनकी स्तुति भी की है ।

प्राचीन परम्पराओं के साथ-साथ भारतेंदु युग में नवीन विचार-धाराएं भी प्रवाहित हुईं । कविता जो जन-जीवन से पृथक हो गयी थी, अब पुनः उससे जुड़ गई और इसका श्रेय भारतेंदु जी को ही है । भारतेंदु जी ने न केवल प्राचीन काव्य प्रणालियों में ही अपनी कविता की नदी बहाई, वरन् इसके लिए उन्होंने नई-नई काव्य प्रणालियां निकाली । उन्होंने काव्य के मार्ग को बदल कर उसका विषय विस्तार किया और इसका पहला मार्ग राजभक्ति का मार्ग बताया ।

भारतेंदु जी के संबंध में राधाचरण गोस्वामी जी ने लिखा है -

''उनके लिखे ग्रंथ हमको वेद वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे । हमारे सब कामों में वे आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिए उदाहरण थी ।

---

1 - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली (द्वितीय भाग) जैन कुतूहल - पृ० - 133-134

(ख) आधुनिक दृष्टि और आध्यात्मिक चिंतन

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतवर्ष में विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन के फलस्वरूप एक नवयुग का शुभारंभ हुआ, और देश की जनता ने धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं को एक फटे-पुराने वस्त्र की तरह त्याग दिया ।

इसी समय युग प्रवर्तक और युगपिता श्री राजा राममोहन राय ने भारतीय जनता और संस्कृति में नयी चेतना और सुधारों की नव-ज्योति प्रज्जवलित की । उन्होंने हिन्दू धर्म और समाज की कुरीतियों का विनाश करके देश की जनता को अंध विश्वासों की बेड़ियों से मुक्त किया । राजा राममोहन राय ने इसी समय मूर्तिपूजा, धर्म संबंधी कठिन तौर-तरीकों, बलिप्रथा तथा सतीप्रथा जैसी सामाजिक बुराइयों का विरोध कर, जातिभेद का अंत कर, विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया ।

इनके पश्चात देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन ने राजा राममोहन राय के शेष कार्यों को आगे बढ़ाया । इनके बाद आर्यसमाज के संस्थापक श्री दयानंद सरस्वती जी ने अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, बहुविवाह, बालविवाह, जातिप्रथा आदि का विरोध करके सर्वशक्तिमान एक ईश्वर की आराधना-उपासना पर जोर दिया । स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने देश की समस्त जनता के सभी धर्मों की एकता, ईश्वर की अलौकिक सत्ता तथा आध्यात्मिक जीवन का महत्व बतलाते हुए उसमें विश्वास करने और मनन करने की शिक्षा दी । तत्पश्चात् स्वामी विवेकानंद ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस के नाम पर ही रामकृष्ण मिशन का शिलान्यास किया, इस मिशन का लक्ष्य था, जन-सेवा, मानवकल्याण और आध्यात्मिक एवं भौतिक उत्थान । थियोसोफिकल सोसायटी ने समस्त धर्मों की एकता, आध्यात्मिक जीवन तथा विश्वबंधुत्व का महत्व बतलाते हुए सच्चे हिंदू-धर्म का पुनरूत्थान, समाज सुधार तथा शिक्षा का प्रचार किया । राधास्वामी संस्था के अंतर्गत जिसकी स्थापना शिवदयाल जी ने की, में गुरूभक्ति की श्रेष्ठता पर बल दिया गया, जिसके फलस्वरूप इस संस्था को मानने वाले बिना किसी प्रकार के जातिभेद के ईश्वर की आराधना और उपासना करते हैं ।

भारतेंदु युग में जितने भी सामाजिक धार्मिक परिवर्तन हुए उन सभी में एक अद्भुत एकता थी । इन सभी परिवर्तनों के सिद्धांत विचार समान थे । लोगों ने

सर्वसम्मति से सार्वजनिक उपासना - पद्धति पर बल दिया जिससे लोगों में संगठन और एकता की भावना जागृत हुई । सभी संस्थाओं ने विशुद्ध आचार-व्यवहार, आध्यात्मिक उपासना तथा नैतिकतापूर्ण जीवन का महत्व बतलाते हुए लोगों में उदार और सहिष्णुतापूर्ण समन्वयवादी नीति को जगाकर समस्त जातियों को धर्म के उस सार्वजनिक सिंहासन पर पहुंचा दिया, जहां सभी को समान अधिकार मिला ।

भारतेंदु जी आधुनिक काव्य के प्रवर्तक कवि हैं । उन्होंने एक स्थान पर लिखा है - ''जो लोग परमात्मा में मानवीय गुणों को देखते हैं, उन्हें भारतेंदु याद दिलाते हैं कि मानवीय दुर्गुण भी परमात्मा के ही बनाये हुए हैं ।''[1]

एक विशेष सम्प्रदाय से संबंध रखते हुए भी भारतेंदु हरिश्चन्द्र साम्प्रदायकिता में विश्वास नहीं रखते थे । कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी वे सब धर्मों के प्रति व्यापक और उदार दृष्टिकोण रखते थे । उनका धर्म उन्हें धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का वादविवाद और मत-मतान्तरों का संघर्ष नहीं सिखाता था । वे सब धर्मों की समान गति में विश्वास रखते थे । अपने धर्म को ही सब-कुछ और संसार में उसे ही सर्वोपरि समझने वाली संकुचित मनोवृत्ति और अंधविश्वास के पाश से वे पूर्णत्या मुक्त थे। उनके संबंध में 'लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी' ने लिखा है - ''हिन्दी नवोत्थान की प्रतीक और नवयुग के संदेश वाहक भारतेंदु हरिश्चन्द्र का यही सच्चा स्वरूप है । उन्होंने अपनेपन पर, हिन्दुओं के निज स्वत्व पहिचानने पर, भारतीयता पर जोर अवश्य दिया है किन्तु उनके इस अपने की परिधि निरन्तर प्रसारोन्मुख थी न कि संकर्णोन्मुख ।[2]

भारतेंदु वर्गाश्रम धर्म को मानने वाले बहुत हद तक पुराने विचार के हिंदू थे परन्तु साथ ही वे नये विचारों को अपनाने में भी कोई संकोच नहीं करते थे । वे स्वामी दयानंद के विरोधियों में से थे, फिर भी सनातनधर्मी उनसे प्रसन्न नहीं थे । और दयानंद की भांति उन्हें भी किस्तान कह कर सम्बोधित करते थे । इससे उस समय के धर्मार्थियों की कट्‌टरता का पता लगता है ।

1- रामविलास शर्मा - भारतेंदु युग - पृ० - 92-93

2- लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 169

भगवान की भक्ति में मगन रहकर स्वर्ग पाने की कामना करने वालों से उन्होंने कहा भी है ''जब पेट भर खाने को ही नहीं मिलेगा तो धर्म उदर-पूरण पर अब ध्यान देना चाहिए ।''[1]

वैष्णवता की यह एक विचित्र व्याख्या थी, जिसका अर्थ बहुत से लोगों में उस समय नहीं आया, विशेषकर उन ब्राह्मणों की, जो वैष्णवता की बड़ी-बड़ी आध्यात्मिक व्याख्याएं करते हुए भी अपने जीवन में उसका भोजन वृत्तिवाला अंश ही अधिक चरितार्थ करते थे । भारतेंदु एक उदार और विकासोन्मुख परम्परा में सारी जनता को संगठित करना चाहते थे ।

पश्चिमी देश की भांति अपने देश की उन्नति भी उन्हें प्रिय थी । राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में संतोष को भारतेंदु जी अवनति का मूल कारण मानते थे । उन्होंने सार्वजनिक प्रौढ़-शिक्षा, विशुद्ध धर्म और परिवर्तित समय के अनुसार रीति-रस्मों और अन्य ऐसी ही अनेक अच्छी-अच्छी बातें वे पश्चिम से अपनाना चाहते थे। समस्त भारतीयों, हिन्दुओं, मुसलमानों और जैनों तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का अनुसारण करने वालों में वे एकता स्थापित करना चाहते थे । वे चाहते थे कि मुसलमान अपने को इसी देश की संतान समझ कर हिन्दुओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील हों ।

''वास्तव में हिन्दी नवोत्थान द्विमुखी होकर अवतरित हुआ था । एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी, तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुए थी। सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलनों ने नवोत्थान के भव्य नवीन मार्ग का निर्माण किया और धर्म के विशुद्ध 'मूल' रूप पर जोर दिया । इसके पीछे दो प्रधान शक्तियां काम कर रही थीं - एक तो देश के प्राचीन गौरव की स्मृति और दूसरी उन्नति के नए-नए मार्गों की सूझ । इस संबंध में विदेशी सभ्यता का प्रभाव भी कुछ कम न था । साथ ही वैज्ञानिक शिक्षा और औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप समाज के विचारों और उसके जीवन का क्रम भी बदला । लोगों के सामने नए-नए क्षेत्र खुलने लगे । उन्होंने दुनिया नई आंखों से देखी । नवयुग की स्थापना के साथ विचार स्वातंत्र्य और सब प्रकार के बंधनों से हीन व्यक्तित्व का जन्म हुआ । मनुष्य ने मनुष्य को पहिचाना ।''[2]

1- रामविलास शर्मा - भारतेंदु युग - पृ० - 99

2- लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 265

इसी समय हिन्दी के कवि पश्चिमी दुनिया से प्रभावित हो चुके थे और वे प्राचीन-काव्य परम्परा के चलन के साथ-साथ नवीन भावों, विचारों तथा अपने चारों तरफ की दुनिया की ओर भी ध्यान देने लगे । हिन्दी-कवियों का हृदय नवोदित राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आंदोलन के परिणामस्वरूप उत्पन्न नये विचारों से आंदोलित होने लगा । चारों ही तरफ सुधार प्रगति और विकास की आवाज गूंज उठी । इन कवियों ने जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़ी अनीतियों, अत्याचारों, कुरीतियों और कुप्रथाओं आदि का प्रचार देखा जो देश के सामूहिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहीं थीं । अतः उनमें विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ और वे भारत की स्वाधीनता के लिए जागरूक हो उठे । भारतेंदु हरिश्चन्द्र एक ऐसे ही आदर्श देश-भक्त कवि थे । उन्होंने देश भक्ति लोक-हित, समाज-उद्धार, मातृभाषोद्धार, स्वतंत्रता आदि की आवाज उठाई और अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया । भारतेंदु-युग एक ऐसा युग था, जहां देशभक्ति और राजभक्ति साथ-साथ चलती थी । इन लोगों की राजभक्ति भी देशभक्ति का अंग हुआ करती थी । किशोरीलाल गुप्त जी ने इसी बात को 'बद्रीनारायण उपाध्याय चौधरी' 'प्रेमधन' के ऊपर चरितार्थ करते हुए कहा है -

''जहां तक विचारधारा का प्रश्न है, प्रेमघन जी भारतेंदु से पूर्ण प्रभावित थे । वे उन्हीं की तरह देशभक्त और राजभक्त दोनों थे । उनकी भी राजभक्ति देश-भक्ति का ही अंग थी । भारतेंदु की ही भांति वे भी अनन्य हिन्दी प्रेमी थे । उनकी भी राष्ट्रीयता हिन्दु राष्ट्रीयता थी । उन्हें भी भारत के स्वर्ण अतीत का गर्व, विषण्ण वर्तमान पर विषाद और मंगलमय भविष्य की शुभाषा है ।''[1]

महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबली के अवसर पर श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने हर्षादर्श शीर्षक काव्य-रचना करके उसमें जहां महारानी विक्टोरिया के सुशासन की एक ओर मुक्त कंठ से प्रशंसा की है वहीं दूसरी ओर उन्होंने महारानी विक्टोरिया को अपने देश की आर्थिक दृष्टि से हीन-दीन दशा का परिचय भी करवाया और उनकी यश वृद्धि की कामना करते हुए उनसे ब्रिटेन की तरह भारत की उन्नति पर भी ध्यान देने की प्रार्थना की है ।

1- किशोरी लाल गुप्त - भारतेंदु और उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवि - पृ० - 69

चहत न हम कछु और दया चाहत इतनी बस ।
छूटैं दुख हमारे, बाढ़ै जासों तुमरो जस ।।
जिहि ममत्व अरू जिहि प्रकार सों ग्रेट-ब्रिटेन पर ।
कियो राज तुम अब लगि दया दिखाय निरंन्तर ।।
ताहि विधि, ताहि ममत्व तिहि दया भाव सन ।
अब सों राजहु भारत पर दै और अधिक मन ।।
कीनी सब प्रकार जिमि ग्रेट ब्रिटेन की उन्नति ।
तैसहि भारत की करियै भरि कै सुख सम्पत्ति ।।[1]

इस प्रकार 'प्रेमधन' ने अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करते हुए, बड़ी सफाई से विनयपूर्ण शब्दों में जनता के स्वशासन के अधिकारों की मांग करके अपनी उत्कृष्ट देशभक्ति का परिचय दिया है । भारतेंदु युगीन राजभक्ति कविताओं में देशोन्नति के लिए जागरण एवं उद्बोधन के लिए जो स्वर हैं उनका विशेष महत्व है ।

प्रताप नारायण मिश्र ने लोगों को काल को लगातार गति प्रदान करने की शिक्षा देते हुए उन्हें ईश्वर की ओर ध्यान लगाने की प्रेरणा दी -

''जागो भाई जागो रात अब थोरी ।
काल चोर नहीं करन चहत है जीवन धन की चोरी ।।
औसर चूके फिर पछतैहो हाथ मींजि सिर फोरी ।।''[2]

भारतेंदु-युगीन प्रत्येक हिन्दी कवि देशभक्त और राजभक्त था । मिश्र जी कट्टर देशभक्त थे । स्वदेशी काव्यवहार अपनाते थे । भारतेंदु एवं प्रेमघन की भांति इनकी भी राष्ट्रीयता, हिन्दू राष्ट्रीयता थी । इन्होंने 'हिन्दी हिन्दु हिन्दुस्तान' का नारा लगाया ।

अंग्रेजों की आर्थिक शोषण नीति के कारण भारतेंदु युगीन कवियों ने देश की जनता को अपनी राष्ट्रीय कविताओं के माध्यम से आर्थिक-हीनता की ओर संकेत करते हुए स्वावलम्बी बनने का उपदेश दिया । इस समय लोग झूठी प्रशंसा और यश लाभ के लालचवश ब्याह, जनेऊ इत्यादि सामाजिक संस्कारों में धन का खूब अपव्यय करते थे ।

1- प्रेमधन - प्रेमधन सर्वस्त (प्रथम भाग) - पृ० - 291
2-प्रताप नारायण मिश्र-प्रताप लहरी-जागो भाई जागो-पृ0-19

यहां तक कि इसके लिए कर्ज लेते थे और घर के बर्तन तक बेच देते थे । प्रताप नारायण मिश्र ने ऐसे लोगों पर खूब व्यंग्य किया है ।[1]

श्रीधर पाठक ने राष्ट्रीय गीतों की परम्परा का सूत्रपात करके प्राचीन भारत का गुणगान करते हुए तथा स्वाधीनता का नारा लगाते हुए स्वाधीन भारत की जय-जयकार की -

''जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द,
जय जयति जयति प्राचीन हिन्द,
हिन्द अनुपम अगम बन, प्रेम बेल रस पुँज,
श्रीधर मन मेधुकर फिरत गुंजत नित नव कुँज ।''[2]

इस समय तक भारवासियों में देश में फैली हुई नवराष्ट्रीय भावनाओं के कारण स्वाभिमान जाग उठा था । वे अब निडर होकर अंग्रेज सरकार के जनहित विरोधी तथा भारतीयता पर प्रहार करने वाले स्वार्थपूर्ण कार्यों की निंदा करने लगे थे ।

राधाचरण गोस्वामी जी भारतेंदु युगीन अन्य कवियों के ही समान अत्यंत भारत-भक्त थे, जबकि राजभक्ति का पूर्णतया अंत नहीं हुआ था । इन्होंने अपनी रचनाओं में देश-दुर्दशा का अंकन किया है तथा शासन की कटु आलोचना करके स्वदेश की प्रशंसा की है । उस समय जबकि भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी आधुनिक संस्कृति ने अपना आधिपत्य कर लिया था तब ऐसा लगता था जैसे भारतीय संस्कृति की नौका डूब ही जाएगी । इसका चित्रण गोस्वामी जी ने निम्न प्रकार से किया है -

''मैं हाय हाय दै धाय पुकारौ कोई,
भारत की डुबी नाव उबारो कोई,
उड़ गए वेद के बादबान अति भारे,
ऋषिजन रस्सा नहीं रहे खैंचनेहारे,
यामैं चिंतामणि सदृश रत्न की ढेरी,
यामैं अमृत सम औषधीन की फेरी,
वह चली सकल यूरोप, हाय मति भोई,
भारत की डूबी नाव उबारो कोई ।''[3]

1- प्रतापनारायण मिश्र - ''लोटिया थारी काल्हि ही लहनदार लें ढोय ।
होय तारीफ बारात की जन्म सुफल तब होय ।।
प्रताप पीयूष, जनम सुफल कब होय - पृ० - 191

2- श्रीधर पाठक - हिन्द वन्दना - पृ० - 48

3- किशोरी लाल गुप्त - भारतेंदु और अन्य सहयोगी कवि - पृ० 422

बालकृष्ण भट्ट भारत वर्ष के उन इने-गिने विद्वानों में से हैं, जिन्होंने आधुनिक हिंदू धर्म के अवैदिक और अनार्य रूप को समझा था । भट्ट जी में भारतेंदु-युग की सहज उदारता और विचार-स्वाधीनता भी थी ।

भट्ट जी का लक्ष्य यूवकों को ब्रह्मचर्य का उपदेश देना नहीं था । युग की स्वाभाविक उदारता से उन्होंने जीवन का ध्येय पूर्ण, मनुष्यत्व का विकास रखा था । और उनका विचार था कि यह विकास इसी जीवन में, इसी संसार में होना चाहिए । धर्म, अर्थ और काम का उचित सामंजस्य मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक है । अपने लक्ष्य का महत्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने संस्कृत में कहा भी है -

''धर्मार्थकामा : सममेव सेव्या :
यस्त्वेकसेव्यः स नरो जघन्यः ।''[1]

उनका मत था कि धर्म, अर्थ और काम तीनों को ही जीवन में चरितार्थ करना उचित है, जो केवल एक की ही सेवा करता है, वह व्यक्ति जघन्य है । इस प्रकार भट्ट जी धर्मभीरू उपदेशकों से अलग हैं । वे शंकराचार्य के विचारों के इसीलिए विरूद्ध थे कि उन्होंने मनुष्य को इसी संसार में पूर्णता पाने को न कहकर, उसके सामने वैराग्य और उदासीनता का एकाकी आदर्श प्रस्तुत किया था ।

भारतेंदु-युग से पूर्व मनुष्य की विचारधाराएं व्यक्ति अथवा मानव तक ही संकुचित थीं । लोग अपने गांव शहर को ही जहां कि उन्होंने जन्म लिया, को ही अपनी जन्मभूमि मानते थे । लेकिन भारतेंदु युगीन नवजागरणशील कवियों ने अपने व्यापक भावनाओं के आधार पर समस्त भारत को जन्मभूमि की संज्ञा दी और लोगों को भी इसके लिए प्रेरित किया कि वह सभी संपूर्ण भारत और देश को अपनी मातृभूमि समझें और मानें । उन्होंने ईश्वर से देश की सर्वतोमुखीहीनता और दुर्दशा से रक्षा के लिए उनकी प्रार्थना की ।

इस तरह भारतेंदु-युगीन देशभक्त कवियों ने प्राचीन भक्त कवियों के समान एकमात्र अपनी ही मुक्ति के लिए भगवान से प्रार्थना न करके समस्त भारतवासियों के उद्धार और कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करके अपनी ईश्वर भक्ति को भी राष्ट्रीय रूप प्रदान किया । उन्होंने अपने व्यक्तिगत कल्याण की साधना का मार्ग छोड़कर सम्पूर्ण देश के कल्याण और उद्धार के लिए भगवान से प्रार्थना की -

---

1- रामविलास शर्मा - भारतेंदु युग - पृ० - 130

"कहाँ करूणानिधि केशव सोए ।
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए ।।
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई ।
भक्त बछल करूणानिधि तुम कहुँ गायो बहुत बनाई ।।
हाय सुनत नहीं निठुर भए क्यों परम दयालु कहाई ।
सब विधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई ।।"[1]

समस्त धर्म आंदोलन कारियों ने वर्गव्यवस्था की बुराइयों और संस्थाओं मतमतान्तरों के आपसी विभेदों का विरोध करके एक सूत्रीय सुसंगठित समाज की स्थापना की कोशिश की । सम्पूर्ण धर्म सुधारकों ने देश के प्राचीन वैभव, महान संस्कृति का गुणगान करके देशवासियों में आत्मचेतना और आत्मनिर्भरता को जागृत किया तथा पाश्चात्य जड़वाद की अवहेलना करके भारतीय अध्यात्म के महान् मार्ग पर जीने की दिशा दिखायी ।

1- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली (द्वितीय भाग) नील देवी - पृ० - 536-537

अभिव्यक्ति पक्ष अर्थात काव्य की संरचना

भारतेंदु-युगीन आध्यात्मिक कविता की भाषा : भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने जिस समय अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत की, उस समय गद्य के क्षेत्र में खड़ी-बोली का स्थान बिना किसी वाद-विवाद के स्थापित हो चुका था, परंतु उर्दू और अंग्रेजों की भाषा नीति के कारण उसका रूप अभी भी विवादास्पद है । सरकार की शिक्षा नीति के फलस्वरूप भी हिन्दी उर्दू का संघर्ष आरंभ हो गया जिसके परिणामस्वरूप लोग हिन्दी भाषा और नागरी लिपि भूलते गए । हिन्दी केवल उस भाषा का नाम रह गया था जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी और केवल हिन्दी जानने वाले गँवार समझे जाते थे ।

ऐसे ही समय में भारतेंदु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ । उन्होंने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक साहित्यिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया। भाषा के क्षेत्रमें भी वे न तो संस्कृत क्लिष्ट पदावली के प्रयोग के पक्ष में थे और न ही अरबी फारसी अप्रचलित शब्दों के ही पक्ष में थे । उन्होंने हिन्दी की स्वाभाविकता, उसकी जातीय शैली की रक्षा करने की कोशिश की जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई ।

गम्भीर-से-गम्भीर भाव और विचार भी उन्होंने सरल भाषा में ही व्यक्त किया है। यदि कहीं वे किसी समस्या पर विचार करते हैं अथवा किसी तात्विक विवेचन में संलग्न होते हैं या फिर क्षोभपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते हैं, वहां उनकी भाषा कुछ संयत और गंभीर अवश्य हो जाती है, किन्तु कुछ अपवाद छोड़कर, संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से सर्वथा मुक्त ही रहती है । उनकी भाषा, विषयानुकूल, भावानुकूल, परिस्थिति के अनुकूल और पात्रानुकूल, जैसे -'नीलादेवी' में मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं और 'भारत दुर्दशा' में बंगाली 'बंगाली भाषा' का । भारतेंदु ने भरसक कर्णकटु शब्दों का प्रयोग नहीं के ही बराबर किया है । उनकी भाषा में एक अद्‌भुत माधुर्य है जो उनके समकालीन लेखकों की भाषा में बहुत कम ही दिखायी पड़ता है । कवि होने के कारण जब उनकी भाषा शैली में यथास्थान कवित्व के दर्शन भी हो जाते हैं तब उस समय उनकी भाषा रसपूर्ण हो जाती है और वह पाठकों का अंतरतम स्पर्श करने लगती है । कहीं-कहीं तुकान्त-युक्त भाषा का प्रयोग भी दिखायी पड़ता है ।

सच्चे अर्थों में मातृभाषा-प्रेमी भारतेंदु ने भाषा को न तो अकारण संस्कृत गर्भित रूप दिया और न अकारण ही विदेशी शब्दों की भरमार कर उसे खिचड़ी ही बनाया । उन्होंने हिन्दी का 'हिन्दीपन' बनाये रखकर उसे शिष्ट और परिमार्जित रूप दिया । मुहावरों और कहावतों का भी उन्होंने अपनी रचनाओं में सुन्दर प्रयोग किया है। भारतेंदु के वाक्य छोटे-छोटे किंतु भाव और विषय के अनुकूल शब्दावली से समन्वित और सरल किंतु मर्मस्पर्शी होते हैं । उनकी भाषा में रस रहता है जो उनके सरस हृदय और जिन्दादिली का परिचायक है ।

हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति की ओर उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया है । उनका विश्वास था कि जब तक यह व्याख्यान लोगों के व्यावहारिक जीवन में परिणत नहीं होगा तब-तक देश की उन्नति भी असम्भव है, क्योंकि भाषा ही सभी प्रकार की तरक्की का मूल है । उन्होंने अपनी कविता में यही संदेश दिया है कि -

> ''निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
> बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ।।
> करहु बिलम्ब न भ्राता अब उठहु मिटावहु सूल ।
> निज भाषा उन्नति करहु, प्रथम जो सबको मूल ।।
> लहहु आर्य भ्राता सबै विद्याबल बुधि ज्ञान ।
> मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन-खान ।।''[1]

भारतेंदु ने यद्यपि हिन्दी का शिष्ट और 'जातीय' रूप ही जनता के समक्ष रखा, तब पर भी उनकी भाषा ब्रज़ और पूर्वी बोलियों के प्रयोगाकं तथा यत्र-तत्र व्याकरण संबंधी अशुद्धियों से युक्त हैं । वास्तव में भारतेंदु को इतना अवकाश नहीं मिला कि वे भाषा के सुघड़ रूप की तरफ अधिक ध्यान दे पाते । तब पर भी उन्होंने भाषा का जो रूप रखा वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । उसमें उसका सारा पिछला इतिहास छिपा है ।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने काव्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग करना चाहा, जिसके लिए उन्होंने स्वयं खड़ी बोली में कुछ कविताओं की रचना भी की -

---

1- लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 180 - 181

''कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे ।
किधर तुम छोड़ मुझको सिधारे ?
बुढ़ापे में 'यह' दुख भी देखना था ?
इसी को देखने को मैं बचा था ?''[1]

इसके अतिरिक्त उनकी ब्रज-रचनाओं में भी खड़ी बोली के रूप, यहाँ तक कि वाक्यांश भी बराबर मिलते हैं । परंतु उन्हें खड़ी बोली की कविता भौंडी प्रतीत हुई और प्रायः दीर्घ मात्रा के आ जाने के कारण उन्हें वह कर्णप्रिय भी नहीं लगी । अतः उन्होंने कविता की भाषा ब्रजभाषा को ही माना । उनके व्यक्तित्व का प्रभाव इतना अधिक था कि उनके जीवनकाल में किसी को भी ब्रजभाषा के विरूद्ध आवाज उठाने की हिम्मत नहीं हुई । कुछ समय पश्चात कुछ कवियों ने काव्य क्षेत्र में भी खड़ी बोली का प्रयोग करना आरंभ कर दिया लेकिन पूर्णतया खड़ी बोली का कवि भारतेंदु के जीवनकाल में ही नहीं पूरे भारतेंदु-युग में भी नहीं हुआ ।

भारतेंदु जी हिन्दू-मुसलमान विरोध के परिपोषक भी नहीं थे परन्तु स्वदेश भक्ति तथा स्वमातृ भाषा-प्रेम से उनका हृदय इतना परिपूर्ण था कि उन्होंने एक ऐसी खिचड़ी भाषा का जिसमें अभारतीय शब्दों की अकारण भरमार हो, का समर्थन न करके, शुद्ध सरस भाषा को ही अपनाया । इनके अनुयायी-मंडल के कवियों ने भी इसी भाषा को अपनाया । इस प्रकार भारतेंदु जी ने भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलताऊ मधुर और स्वच्छ रूप दिया ।

''उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य-पद्य के प्रवर्तक माने गए । वर्तमान हिन्दी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इसका जन्मदाता कहने में भी अत्युक्ति न होगी ।''[2]

प्रशस्ति वाक्यों और विविध स्थलों पर की गई प्रार्थनाओं का एक-एक सारगर्भित और भारतेंदु की हार्दिक आकांक्षाओं का द्योतक है -

---

1- लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 200
2- श्री ब्रजरत्न दास - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ - 203

''खलगनन सों सज्जन दुखी मत होई, हरिपद रति रहै ।
उपधर्म छटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख वहै ।।
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, सब जग सुख लहै ।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृतबानी सब कहै ।।''[1]

भारतेंदु जी ने काव्य में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया, उन्होंने ब्रजभाषा का निर्माण नहीं किया बल्कि उसके सहज सुन्दर रूप का प्रयोग कर फिर से उसे गौरव प्रदान किया । इससे स्पष्ट है कि भारतेंदु की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, यद्यपि एकरूपता का उसमें अभाव है । उनके भाव और भाषा दोनों ही सशक्त हैं । उनकी ब्रजभाषा मानसिक भावों की यथार्थता स्पष्ट कर देती है । भारतेंदु ने नवीन विषयों के वर्णन के लिए भी ब्रजभाषा को ही अपनाया । उनकी अनेक काव्य-रचनाओं द्वारा यह साबित हो जाता है कि ब्रजभाषा भी आधुनिकता का साथ देने में सक्षम थी ।

भारतेंदु ने केवल साहित्य के प्राचीन युगों का ही प्रतिनिधित्व नहीं किया वरन् नवोत्थान-कालीन भारत को स्वर प्रदानकिया, उसकी आशाओं तथा आकांक्षाओं की पूर्णतया अभिव्यंजना भी की ।

भारतेंदु युग हिन्दी खड़ी बोली काव्य एवं काव्य-भाषा के विचार से एक संक्राति-कालीन युग था । हिन्दी में परंपरानुसार व्यक्तिगत काव्य-सृष्टि की अपेक्षा व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से 'निज-भाषा की उन्नति' के प्रमुख प्रश्न को हल करना ही उस काल के साहित्यकारों का एकमात्र उद्देश्य था और इसके माध्यम से उन्होंने उस राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया जो पराधीन एवं पतित 'भारत' में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक नवजागरण का सूत्रपात कर सके । यही नहीं इस उद्देश्य से हिन्दी की विभाषाओं के अतिरिक्त राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय भाषाओं के प्रति समादर की भावना उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी रचनात्मक प्रयोग किए । इस प्रकार भारतेंदु-युगीन साहित्यकार परंपरागत साहित्यिक रूढ़ियों का परित्याग कर सहित्य को जन-जीवन के समीप लाने में सफल हुए तथा समकालीन जनभाषाओं को साहित्यिक महत्व देते हुए सामंती युग का प्रयत्न किया उन्होंने यद्यपि काव्य-भाषा पद की प्रधान अधिकारिणी ब्रजभाषा को ही माना और जनमानस के अधिक अनुकूल बनाने के लिए

1- लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 181

आवश्यकतानुसार उसे विषयानुकूल बोलचाल की भाषा में ही प्रस्तुत किया, साथ ही खड़ी बोली में जो कुछ थोड़ी बहुत रचनाएं हुईं, उनमें भी वही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ, वे उसमें अधिक संस्कृत-निष्ठता अथवा उर्दू-निष्ठता के खिलाफ थे; यद्यपि विषयानुसार उन्हें यह भी पसंद था । ज्ञान और वैराग्य तथा भक्ति संबंधी पदों में कबीर, सूर, विद्यापति, नानक और तुलसी आदि संतों की सधुक्कड़ी खड़ी बोली के पुनः दर्शन हुए । धर्म, नीति और देशभक्ति संबंधी पद एवं गंभीर भाषा में होने के कारण संस्कृत पदावली से युक्त हैं । इस युग की खड़ी बोली काव्य-भाषा की एक सामान्य विशेषता है । भारतेंदु ने जिस खड़ी बोली को गद्य स्वीकारा था उसके अनुसार ही इसमें भी चलताऊ उर्दू ब्रजभाषा तथा प्रांतीय भाषा शब्दों के प्रयोग कम या अधिक मात्रा में सर्वत्र मिलते हैं। भारतेंदु मंडल के निम्नांकित उदाहरणों में निम्नांकित शब्द उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं -

''किन वे रूठाया मेरा यार ।
कहाँ गया छोड़ गया मोहि, तोड़ गया क्यों प्यार ।''[1]

''हम जो चाहते हैं निबाहते हैं प्रेमघन, उन दिलदारों से ही मेल मिला लेते हैं । दूर दुदकार देते अभिमानी पशुओं को गुनी, सज्जनों की सदा नेह नाव खेते हैं ।''[2]

''चौक किनारे लम्बी एक दलान ।''[3]
''होशियार गो इसके सबब से दीवाने बन जाते हैं ।
मौज में आकर, नाचते हैं, रोते हैं, गाते हैं ।।''[4]

अंग्रेजी राज्य और मुसलमानी पृथकत्व नीति के कारण हिन्दू भी सजग होने लगे थे, दोनों में जहां एक ओर एकत्व था वहीं दूसरी ओर पृथकत्व का भी रोष उमड़ रहा था । इस युग के साहित्यकारों ने नागरी-लिपि में बोल-चाल की उर्दू मिश्रित अथवा ठेठ उर्दू कविता को भी महत्व दिया ।

1- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली भाग-2 - पृ० - 186
2- प्रेमघन - प्रेमघन सर्वस्व - प्रेमपीयूष वर्षा - पृ० - 202
3- अम्बिकादत्त व्यास - कंसबध साहित्य नवीनीत - पृ० - 62
4- प्रताप नारायण मिश्र - प्रताप लहरी - पृ० - 91

जनसाधारण के कवियों ने पद्य में खड़ी बोली की परम्परा बहुत दिनों से कायम रखी थी । भारतेंदु के नाटकों में खड़ी बोली के गीतों आदि के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जनता में खड़ी बोली के पद्य विद्यमान थे । वैदिकी हिंसा में 'राजा गाता है'- पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रस का रे ।

खड़ी बोली की सामान्य रचनाओं के अतिरिक्त उसमें जहां तहां संस्कृत प्रधानता के भी लक्षण दिखायी देते हैं, बल्कि संस्कृत के भी प्रयोग मिलते हैं -

जैसे - ''हरि हरि धीर समीरे विहरति राधा कालिंदी तीरे ।
कूजति कल कलरव केकावलि - कारंडव - कीरे ।।''[1]

''प्रज्ञा परिपूर्ण पितृ एकमात्र मान्य मित्र, परमेश्वर प्रेम पात्र पूज्य प्रणवनामी ईश्वरालम्बित नित याचत करिशीश, नमित होहु प्राण प्रियतम मम मानस विश्रमी ।''[2]

''कर्षक के उत्साहक दाहक आश्चर्य है जवासा के ।
शुण्डादण्डोदृण्डित, दाये अति चंड दीर्घ दिग्गज से ।।
पर्वत गर्व निवारक, लूम रहे हैं अखर्व रूप धरे ।''[3]

जहां पर रचनाओं में भाषा के विशुद्ध नागरी रूप को महत्व दिया गया है, वहां-वहां विशुद्ध खड़ी बोली की काव्य-भाषा का अधिक निखरा हुआ रूप सामने आया है । उर्दू, ब्रज, अवधी एवं संस्कृत आदि के शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है । विशुद्ध खड़ी बोली के उदाहरण निम्न हैं -

''सांझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है,
हम सब एक दिन उड़ जाएंगे यह दिन चार बसेरा है ।
आठ बेर नौबत बज-बज कर तुझको याद दिलाती है ।
जाग-जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है ।''[4]

1- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली भाग - 2 - पृ० - 492
2- प्रतापनारायण मिश्र - प्रताप लहरी - प्रेम पुष्पावली - पृ० - 147
3- अम्बिकादत्त व्यास - साहित्य नवनीत - पृ० - 93
4- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथ - भाग 2 - प्रेम-प्रलाप - पृ० - 299

"निराकार है या कि साकार है, गुणगार या निर्गुणाकार है;
निराधार का जो कि आधार है, उसे ही हमारा नमस्कार है ।"[1]

"मुरली मधुर सुनावौं हमसे भी तो आंख मिलावो रामा ।
हरि हरि गिरधारी, बनवारी यार मुरारी रे हारी ।
अलकें घूंघरवारा लहरें जैसे नागिन कारी रामा ।।"[2]

अम्बिकादत्त व्यास की कविताओं में भी खड़ी बोली का प्रयोग परिलक्षित होता है -
"पहाड़ों से भिड़ती और खाड़ी को भरती
चली है नदी नापती मानों धरती ।"[3]

"वैसे समग्रतः बोलचाल एवं साहित्यिक दोनों दृष्टिकोणों से उपर्युक्त पदावली सुबोध एवं सुपुष्ट है । कला के दृष्टिकोण से भी उसमें उतनी न्यूनता एवं कृत्रिमता नहीं है । भाषा एवं भाव शब्दों के प्रायोगिक दोषों से परे कवियों के अभिव्यक्ति साफल्य के द्योतक हैं ।"[4]

इस प्रकार इस युग की भाषा में (संशोधित भाषा में भी) जाने या अनजाने मिश्रण बचाए नहीं जा सके हैं । प्रतापनारायण जी की भाषा तो पूर्णतः वैसवाड़े की धूल लपेटे रही है ।

1- प्रतापनारायण मिश्र - प्रताप लहरी - पृ० - 256
2- बद्री नारायण प्रेमधन - प्रेमधन सर्वस्व - पृ० - 608
3- अम्बिकादत्त व्यास - साहित्य नवनीत - पृ० - 24
4- राजकुमार सिंह - आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा - पृ० - 328

भारतेंदु-युगीन आध्यात्मिक कविता में शिल्प विधान

ब्रजभाषा के क्षेत्र में साहित्य सर्जन करते हुए भारतेंदु भावरीतिकालीन रीति मुक्त, रस सिद्ध कवियों (धनानन्द, रसखान) की ही परम्परा में थे यद्यपि उन्होंने अवधी मैथिली अथवा भोजपुरी आदि अन्य लोक सामान्य हिन्दी के प्रतिनिधि कवियों का भी प्रतिनिधित्व किया । वे एक तरह से संपूर्ण हिन्दी साहित्य के अतीत वैभव के एकाकार प्रतिनिधि थे, किन्तु परिष्कृत आधुनिक भाषा शैली को लेकर उन्होंने प्राचीनता का बहुत कुछ नवीनीकरण किया था ।

उन्होंने बहुप्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया । किंतु उस समय उनके सामने उसके लिखने के कई रूप थे । अपने 'हिन्दी भाषा' नामक निबंध में उन्होंने उन विभिन्न शैलियों के उदाहरण भी दिए हैं । प्रथमतः वह शैली जिनमें संस्कृत के शब्द बहुत हैं, दूसरी वह जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं, तीसरे वह जो शुद्ध हिन्दी है, चौथी शैली वह जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का कोई नाम नहीं है, और पांचवी वह जिसमें फारसी के शब्द विशेष हैं, इत्यादि ।

भारतेंदु की दृष्टि में राष्ट्रोत्थान की मूल भूमिका राष्ट्रभाषा की उन्नति में ही विद्यमान थी । अतः वे इस दिशा में ही अग्रसर हुए । किंतु वर्तमान काल की राष्ट्रभाषा समस्या की भांति उनके सम्मुख भी समस्या यह थी कि उपर्युक्त पांचों शैलियों में से किसको स्वीकारा जाए ।

ऐसी परिस्थिति में भाषा की उपयुक्त शैलियों पर अपना मत व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा कि दूसरी शैली (जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़ हैं) और तीसरी शैली (जो शुद्ध हिन्दी है) ही लिखने के काबिल है । श्री ब्रजरत्नदास जी के शब्दों में - "स्वदेश भक्ति तथा स्वमातृ भाषा प्रेम से उनका हृदय इतना भरा था कि वे एक ऐसी खिचड़ी भाषा का जिसमें अभारतीय शब्दों की अकारण भरमार हो, समर्थन न कर सके और उन्होंने शुद्ध पर सरल भाषा को ही अपनाया ।[1]

1- ब्रजरत्न दास - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - पृ० - 105

इस काल में कविता की भाषा (ब्रज या खड़ी बोली) तथा काव्य-भाषा संबंधी दो प्रकार के मत पाये जाते हैं । भारतेंदु-मंडल की तरफ से कविता की भाषा ब्रजभाषा ही स्वीकारी गयी और भारतेंदु जी ने उसे युगधारा के अनुसार ही परिमार्जित करके खड़ी बोली के समकक्ष भी बनाने की कोशिश की । भारतेंदु-युग के काव्य-भाषा संबंधी विचारक स्वयं भारतेंदु जी, श्री प्रताप नारायण मिश्र, श्री जगमोहन सिंह, श्री अम्बिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक आदि ही स्वीकारे गए । उनमें भी श्रीधर पाठक के अतिरिक्त बाकी लोग भारतेंदु-मंडल से संबंधित उन्हीं के अनुयायी थे ।

हिन्दी साहित्य को खड़ी बोली के भाषा तथा शिल्प के नवीन धरातल पर आसीन कर विकसित करना भारतेंदु और उनके मंडल की ही सबसे बड़ी देन है ।

भारतेंदु तथा उनके सहयोगी कवि काव्य में माधुर्य एवं सरसता को सदैव अपेक्षित मानते थे । श्री प्रतापनारायण मिश्र ने कहा है ''फिर यदि काव्य-रसिक लोग ब्रजभाषा ही को मधुर कविता योग्य मानते हैं तो क्या अन्याय करते हैं ।''[1] इससे सिद्ध होता है कि वे ब्रजभाषा का समर्थन उसके माधुर्य गुण के कारण ही करते थे । प्रताप नारायण मिश्र का विचार था कि यदि कवि लोग आवश्यकता पड़ने पर माधुर्य एवं लावण्य के अनुरोध से शब्दों में कुछ परिवर्तन न करें तो नीरसता कानों और प्राणों में खटकने लगती है ।

श्री बदरीनारायण 'प्रेमघन' का भी ऐसा ही मत था ''कवि जब अपनी भाषा में किसी शब्द का अभाव पाता या अन्य भाषा का शब्द उसे किसी स्थान पर विशेष उपयुक्त या अर्थप्रद लगता तभी वह उसका प्रयोग करता है और प्रयोग करके भी उसे अपना सा बना लेता है, जो कि पढ़ने और सुनने में कर्कश या अनोखा नहीं जंचता और न उससे प्रायः उसका भाव दूषित ही होता है ।''[2] परंतु सामान्यतः "वे इस दृष्टिकोण के पक्षपाती नहीं थे, जितना कि भाषा की सरलता और शुद्धता के ।[3]"

1- प्रताप नारायण मिश्र - प्रताप ग्रंथावली भाग-1 (भ्रम) है - पृ० - 432-433

2- तृतीय हिन्दी सम्मेलन, कार्य विवरण पहला भाग - पृ० - 29

3- ''शुद्ध ब्रजभाषा में कविता करना कुछ सहज नहीं है । उसमें बड़ी प्रवीणता की आवश्यकता पड़ती है। समझाने में भी उसके सामान्य जनों को कुछ कठिनाई पड़ती है, उसी से सरल कविता में सुकवि जन भी मिश्रित भाषा को काम में लाते थे ।'' - प्रेमघन सर्वस्व - भाग 2 - पृ० - 399

भाषा की शुद्धता की दृष्टि से वे काव्य-भाषा में संस्कृत निष्ठ पदावली और अरबी-फारसी शब्दों से घनीभूत पदावली के पक्षपाती नहीं थे, आवश्यकता पड़ने पर वे अरबी-फारसी शब्दों की अपेक्षा हिन्दी की आदि मूल, सरल, सरस एवं सुप्रयोज्य संस्कृत पदावली के ग्रहण के पक्ष में थे ।

प्रताप नारायण मिश्र 'भाषानुकूल भाषा' के पक्षपाती थे, परंतु लोक भाषाओं के समर्थक होकर भी उनके ग्राम्यत्व दोष और भोड़ेपन के नहीं । श्री प्रेमघन जी का विचार भी इनसे कुछ मिलता-जुलता ही था -

"रहनि सहनि सुमुखीन की सुजैसें और वैसे सुकवीन की कहनि कुछ औरहैहैं"[1]

अतः इस युग के कवि सामान्य भाषा और काव्य-भाषा में स्पष्ट भेद मानते थे।

जहां पर सामान्य भाषा की अपेक्षा काव्य-भाषा अलंकृत होती है, वहीं उसका कृत्रिम अलंकरण उसके सौंदर्य एवं अर्थ का द्योतक सिद्ध होता है "तात्पर्य यह कि जो अनुप्रास बिना प्रयास आ जाए तथा जिसके द्वारा अर्थ में भी अधिक सौंदर्य बढ़ जाए तो वह सर्वथा ग्राह्य है । पर जिस अनुप्रास के पीछे अर्थ चातुरी की हत्या करनी पड़े तो वह अनुप्रास किस काम का ?"[2] वह कवि कर्म में बाधा डालते हुए भाषा की भी विकृति का कारण बनता है ।

भारतेंदु के उपरांत काव्य-भाषा के माध्यम से ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली को लेकर चलने वाले विवाद में खड़ी बोली के प्रमुख समर्थक विद्वान कवि श्रीधर पाठक ही थे जो अपनी सरस खड़ी बोली की रचनाओं तथा अकाट्य संयततर्कों द्वारा एक महारथी की तरह विरोधियों का मुंह बंद करते रहे ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "ये (पाठक जी) वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली भावुक और सुरूचि सम्पन्न कवि थे । भद्दापन इनमें न था न रूप रंग में, न

1- प्रेमघन - प्रेमघन सर्वस्व - प्रथम भाग - पृ० - 202

2- बालकृष्ण भट्ट - साहित्य सुमन - पृ० - 74 (सं० 1994)(गंगा ग्रंथागार लखनऊ)

भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में ।''[1] पांचवे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ के अध्यक्षीय भाषण में श्रीधर पाठक जी ने खड़ी बोली का समर्थन करते हुए ब्रजभाषा के सहयोग पर भी जोर देते हुए कहा ''इससे यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रजभाषा का कभी किसी प्रकार का संसर्ग खड़ी बोली पद्य में न होने पावे । कवि अपनी रूचि के अनुसार अत्यंत आवश्यकता पड़ने पर ऐसे शब्द या पद उसे भाषा के भी व्यवहार में ला सकता है, जिनसे उसके कथन में लोकोत्तर सुन्दरता सम्पादित होती है किंतु ऐसे प्रयोगों का बार-बार अनियंत्रित व्यवहार निंद्य है ।''[2] काव्य कृतियों में इस प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं, अतः श्री पाठक जी का उक्त कथन उतना असंगत नहीं था । हां, उनका अनियंत्रित प्रयोग अवश्य क्षमा करने योग्य नहीं होगा ।

श्री अम्बिकादत्त की तरह पाठक जी भी संस्कृत शब्दावली के बगैर हिन्दी गद्य-पद्य की उन्नति संभव नहीं मानते थे । लेकिन वे उसके अप्रचलित शब्दों और लंबे समासों के प्रयोग की अधिकता के खिलाफ थे ।

श्री पाठक जी भाषा में व्याकरण संबंधी शुद्धता के भी समर्थक थे । व्याकरण शुद्धि के अतिरिक्त भाषा संबंधी अन्य दोषों जैसे - अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की ओर उनकी दृष्टि कठोरता की थी ।

इससे स्पष्ट होता है कि वे भारतेंदु-मंडल के कवियों के विपरीत ग्राम्य बोलियों के स्थानीय प्रयोगों को साहित्य क्षेत्र में महत्वहीन मानते थे और शिष्टजन के उपयुक्त भव्यता को काव्य-भाषा में देखना चाहते थे तथा उसमें भी वे कोमलकांत पदावली के ही आकांक्षी थे ।

काव्य में छंद के संबंध में सिद्ध कवियों की तरह वे छन्द को भावाभिव्यक्ति के अवसर पर स्वतः स्फुरित ही मानते थे । काव्य चिंतन का लगाव होते हुए भी उनकी अभिव्यक्तियां एवं उनके बिखरे विचार उनकी काव्य-शिल्प-संबंधी प्रवृत्तियों का संकेत देते हैं ।

1- आचार्य रामचंद्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 605

2- पंचम हिंदी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण लखनऊ . प्र० भाग - पृ० - 26

लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी भारतेंदु युग में समग्रतः विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली का स्थान काव्य-भाषा के रूप में नहीं के बराबर ही रहा, बल्कि उस स्थान पर ब्रजभाषा ही विराजमान थी ।

अंततः हम कह सकते हैं कि भारतेंदु-युग में श्रृंगार भक्ति और आधुनिकता तीनों प्रवृत्तियों का एक साथ समावेश 19वीं शताब्दी की विशेषता है । जिसके चलते इस काल की प्रारंभिक रचनाएं तो रीति और श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति को लेकर चली जहां कृष्ण के बहाने भक्ति तथा आध्यात्मिक चिंतन की बात की गयी । तो दूसरी दृष्टि उन-उन भक्तिपरक रचनाओं पर डाली जा सकती है, जिनमें भक्ति कालीन सूर, तुलसी, कबीर और मीरा जैसी समर्पण भावना और निश्च्छलता भी दिखायी पड़ती है । इनके प्रतिपाद्य भी प्रायः राम और कृष्ण ही हैं । भाषा के परिवर्तन को यदि न देखें तो कहीं-कहीं तो ये रचनाएं अनुवाद सी लगती हैं, किंतु इनमें आस्था प्रतीति और विश्वास का सघन रूप देखने को मिलता है । इसी युग का तीसरा संदर्भ नवजागरण का संदर्भा है, जहां समकालीन स्थितियों के दबाव के फलस्वरूप पुरातन मान्यताएं बदल रही थीं । इसलिए विषय परिवर्तन भी हुआ और विशुद्ध आध्यात्मिक चिंतन की जगह मनुष्य की सामाजिक और आर्थिक समस्याएं प्रमुख होने लगीं । परिणामतः भौतिक जीवन के मूल और मान्यदण्डों के पीछे परम्परित आध्यात्मिक चिंतन भी अपने स्वरूप में थोड़ा बहुत बदला । डॉ० चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे का विचार है कि भारतेंदु पर मध्यकालीन भक्ति परम्परा की निवृतिवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव दिखायी देता है । उन्होंने उनमें मायावादी विचारधारा का प्रभाव देखा है, तो दूसरी ओर 'भारतेंदु कला' के सम्पादकों का विचार है कि - वे मायावाद के विरोधी थे । उनका कहना है - ''जब कारण सत्य है तो कार्य भी अवश्य सत्य होगा ।'' -

''जो पै ईश्वर साचों जान ।
तौ क्यों जग को सगरे मूरख झूठों करन बखान ।''[1]

वस्तुतः वल्लभ मत में 'संसार' मिथ्या है और 'जगत्' सत्य और चूंकि भारतेंदु वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे - अतः इस सिद्धांत को न जानने से ही यह मतभेद है । 'संसार' केवल अनादिकालीन जीवगत 'गलतफहमी' का नाम है । 'जगत्' का अविद्यावश अन्यथा ज्ञान ही 'संसार' है ।

1- भारतेंदु हरिश्चन्द्र - भारतेंदु ग्रंथावली - भाग द्वितीय

पुष्टिमार्गी भारतेंदु आराध्य का 'अनुग्रह' चाहते हैं । दैन्य विवशता विनय और प्रार्थना की इन विभिन्न भूमियों पर संचरण करते हुए कवि. भारतेंदु राधा-कृष्णपरक भाव की विभिन्न भूमियों पर भी उतरते हैं, इनमें राधा-कृष्ण की युवावस्था की लीलाओं का समावेश अधिक है और वात्सल्य भूमि का कम । भारतेंदु के अनुसार भक्ति में आराध्य के प्रति लघु भाव या दीनभाव का बोध अनिवार्य है, परंतु हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि भारतेंदु में बुद्धि पक्ष शिथिल है - बल्कि वह भी यत्र-तत्र परिलक्षित होती दिखायी देती है ।

''वस्तुतः वल्लभ मत में दीक्षा या ब्रह्म संबंध के अनन्तर जो राग भोग और श्रृंगारात्मक 'वित्तजा' तथा 'तनुजा' सेवा आरंभ होती है उसका पर्यवसान 'मानसी सेवा' में होता है । मानसी सेवा या सर्वात्मभाव पर्याय है । मानसी सेवा साधनरूपा नहीं, फलरूपा है । इसी की प्रतिष्ठा होने पर अहंता ममता रूप अविद्या - जनित संसार की निवृत्ति होती है । तभी भगवान को प्राप्त करने की स्वरूप योग्यता उत्पन्न होती है - यह ब्रहमविद्य भक्त अक्षर ब्रह्मरूप धाम में स्थित होता है । यहां अविद्याजनित अहंकार की निवृत्ति से कर्तव्यभाव निवृत हो जाता है और उसकी निवृति से अब 'भावभक्ति' का शुभारम्भ होता है ।''[1]

अतः भारतेंदु-युग के साहित्य में भारतीय संस्कृति, प्राचीनता और राष्ट्रीयता के प्रति लोगों में आकर्षण पैदा हुआ तथा साथ ही सामाजिक विकारों का उल्लेख भी होना शुरू हुआ । आदर्श और यथार्थ, प्राचीनता तथा नवीनता के प्रति कवि जागरूक हुए, जिसके फलस्वरूप उनके नवीन विषयों के चित्रण आकृत्रिम और आडम्बर विहीन हैं। लोक-जीवन का सम्पर्क पुनः काव्य से बढ़ने लगा । भारतेंदु-काल अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संघर्षों और विचार क्रांति का काल है । यद्यपि समस्त नवीन प्रवृत्तियां भारतेंदु-युग में ही उजागर हुईं, परंतु इनका समुचित विकास द्विवेदी-युग में ही हुआ ।

1- शंभूनाथ, अशोक जोशी - भारतेंदु और भारतीय नवजागरण - पृ० - 113-114

अध्याय चार

द्विवेदी युगीन काव्य में आध्यात्मिकता की पहचान

द्विवेदी - युगीन काव्य में आध्यात्मिकता की पहचान

भारतेंदु-युग के पश्चात हिन्दी - साहित्य में द्विवेदी-युग का आगमन हुआ । जिसके फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार होने लगा तथा मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि जैसे अनेक रचनाधर्मी व्यक्तित्व उभरने लगे । 'द्विवेदी' जी स्वयं एक माली की तरह उनकी कांट-छांट करके उनके सम्यक विकास में सहयोग दे रहे थे । अनेक दृष्टियों से यह काल आध्यात्मिकता की नयी पहचान का काल था ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में, विभिन्न आंदोलनों के बीच में, भी संस्कारजन्य धार्मिक भावना ने द्विवेदी जी के हृदय को प्रभावित किया । भारतेंदु-युग की धार्मिक कविता में भक्ति-काल की परम्परा का निर्वाह, जनता की धार्मिक भावना का प्रतिबिम्ब और उपदेशक का स्वर स्पष्ट है । धर्मों के परस्पर संघर्षकाल में भी द्विवेदी जी मतमतान्तरों और धार्मिक वाद-विवाद से दूर ही रहे । उनकी रचनाएं युग की धार्मिक भावना से पृथक और एकान्त भक्ति प्रधान हैं । उनमें अपने आराध्य देवता के प्रति स्तवन और उसके प्रति आत्मनिवेदन है । उनका यह निवेदन कहीं तो निजी कल्याण भावना से और कहीं लोक कल्याण की भावना से अनुप्राणित है । उदाहरण स्वरूप 'देवीस्तुतिशतक' में उन्होंने अपने अमंगलनाश के लिए और अन्य कविताओं में स्थान-स्थान पर देश, जाति, समाज आदि के मंगल के लिए देवी-देवताओं और ईश्वर से प्रार्थना की है -

''किए विलम्ब प्रलय पूरी, इत हवैहै तब पछितैहो
स्वकर बनाये को बिगारी के अंत ताप हिय पैहौ ।
नहीं नहिं अस कदापित करिहौ नहिं, दयादृष्टि तुम दैहौ,
प्रणतपाल यहि काल उबारन ऐहौ, एहौ, एहौ ।।''[1]

बालविधवाओं की दयनीय दशा से अभिभूत द्विवेदी जी ने हिन्दी धर्म की कठोर रूढ़ियों के विरूद्ध अपनी लेखनी चलाई तथा विधवा विवाह को धर्मसंगत बतलाया । उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि परम्परागत धर्माचार के नाम पर बालविधवाओं को जबरदस्ती अविवाहित रखना समाज की मूर्खता, हठधर्म, धर्माडम्बर और नृशंसता है । ईश्वर की

1- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - द्विवेदी काव्यमाला - पृ० - 181

प्रसन्नता मूर्तिपूजन, गंगास्नान या विधिपूर्वक सन्ध्योपासना करने में नहीं है । सत्यनिष्ठा में ही मंत्रजप की पावनता सज्जनों के प्रति भक्ति भाव में ही भगवद्भक्ति, उनकी पूजा में ही देवपूजा और प्राणिमात्र के प्रति दया तथा परोपकार में ही समस्त व्रतों का फल एवं शाश्वत शांति है । एकमात्र करुणा ही सभी सधर्मों का सार है ।

भारतेंदु-युग से ही हिंदी कवि समाज आसाधरण मानवता से साधारण समाज की ओर उन्मुख होता आ रहा था । इसका प्रभाव द्विवेदी जी पर भी पड़ा और उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा समाज सुधार का प्रयत्न भी किया । कहीं तो उन्होंने पीड़ित और दयनीय वर्ग के प्रति सहानुभूति जतायी, कहीं समाजसुधार का उपदेश दिया तो कहीं धार्मिक कट्टरपंथियों आदि का व्यंग्यात्मक उपहास किया और कहीं समाज के पथभ्रष्ट हठधर्मियों की कठोर आलोचना की ।

भारतेंदु-युग के कवियों ने, यज्ञ, श्राद्ध, जाति-पांति, वर्णाश्रम धर्म स्त्री शिक्षा, छुआछूत, अन्धविश्वास, धर्म परिवर्तन, विधवाविवाह, बाल-विवाह, गोरक्षा,. विदेशगमन, मूर्तिपूजा आदि पर अपनी लेखनी चलायी थी ।

द्विवेदी-युग के कवियों ने अतीत की अपेक्षा वर्तमान पर ही अधिक ध्यान दिया तथा भगवान से सहायतार्थ प्रार्थना करने के साथ ही साथ अपने आत्मबल का भी अनुभव किया । द्विवेदी जी के लिए ज्ञान की परम्परा विकासमान है और उनका सर्वज्ञ ईश्वर इस विकास परम्परा से एकदम तटस्थ रहता है । वह वेदों को ईश्वरकृत नहीं मानते इसलिए सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान ईश्वर के पास ही रहता है । द्विवेदी जी वेद, उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, किसी भी प्राचीन धर्मग्रंथ को ऐसा प्रमाण नहीं मानते जो तर्क से परे हो । इसके अलावा वह ज्ञान की एक विकासमान परम्परा पर जोर देते हैं । अतिः ईश्वर को सर्वज्ञ कहने पर भी, वह ज्ञान का भौतिकवादी, विकासवादी विवेचन ही प्रस्तुत करते हैं ।''[1]

जिन दिनों स्वामी विवेकानंद के प्रभाव से अध्यात्मवादी भारत, भौतिकवादी यूरोप और अमरीका को परास्त करने में लगा हुआ था, उन दिनों द्विवेदी जी ने देश की वर्तमान समस्याओं से इस अध्यात्मवाद को दूर रखने का आग्रह किया । इलाहाबाद के

1- रामविलास शर्मा - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी का नवजागरण काल - पृ० - 144

रायबहादुर लाल बैजनाथ ने 'धर्मविचार' नामक एक छोटी से पुस्तक लिखी । इसकी लम्बी आलोचना मई, 1904 को 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई । इस आलोचना में कहा गया है कि आध्यात्मिक उन्नति से यदि आत्मा की उन्नति का ही मतलब हो तो आलोचक को कुछ नहीं कहना - ''परन्तु कहीं-कहीं इसमें देशोद्धार और देशोन्नति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे कुछ और ही अर्थ निकलता है । निष्काम कर्म, अनन्य भक्ति और अभेद ज्ञान आदि । आध्यात्मिक उन्नति ही में लगे रहने के कारण भारत विदेशियों द्वारा चिरकाल से पददलित होता आया है और अब भी हो रहा है । अतएव यदि सभी भारतवासी चैतन्य, तुलसीदास और तुकाराम का अनुकरण करेंगे तो उनका सांसारिक बंधन एक झटके में शीघ्र ही टूट जाएगा और यह सारा देश ही दण्डकारण्य हो जाएगा। फिर देश की उन्नति क्या होगी ?''[1] भारत को अध्यात्मवादी कहकर उसकी जिस संस्कृति पर लोगों को गर्व करना सिखाया गया है । द्विवेदी जी उसे देश की उन्नति के प्रश्न से अलग रखते हैं ।

''काव्य में रहस्यवाद'' निबंध में रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था - ''योरप ने कहा 'भारतवासी' बड़े आध्यात्मिक होते हैं, उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की परवाह नहीं होती। बस दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता । देखिये हमारे काव्य में भी आध्यात्मिकता है; यह देखिए हमारी चित्र विद्या की आध्यात्मिकता; यह देखिए हमारी मूर्तिकला की आध्यात्मिकता ।''[2]

युग-निर्माता का आसन ग्रहण करने से पूर्व ही द्विवेदी जी ने हिन्दी कवियों को युगान्तर करने की सूचना दे दी थी । अपने 'कवि-कर्त्तव्य' (सरस्वती 1911 ई०) लेख में उन्होंने समय और समाज की रूचि के अनुसार सब बातों का विचार करके कवियों को उनका कर्त्तवय बतलाया था ।

द्विवेदी-युग के प्रमुख कवि हैं - नाथू राम शर्मा 'शंकर', श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' राय देवी प्रसाद पूर्ण, राम चरित उपाध्याय, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', मैथिलीशरण 'गुप्त', रामनरेश त्रिपाठी । अन्य कवियों की श्रेणी में बालमुकुन्द गुप्त, भगवानदीन, सैयद अमीर अली मीर, कामता प्रसाद 'गुरू', गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', रूप नारायण पाण्डेय, लोचन प्रसाद पाण्डेय,

1- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - सरस्वती - पृ० - (पत्रिका)

2- आचार्य रामचंद्र शुक्ल - काव्य में रहस्यवाद

गोपाल शरण सिंह, मुकुटधर पाण्डेय आदि आते हैं तथा इनके अतिरिक्त अन्य कवि हैं - लोकमणि, सत्यशरण रतूड़ी, मन्नन द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिव कुमार त्रिपाठी, पार्वती देवी, तोष कुमारी आदि । रायदेवी प्रसाद पूर्ण और नाथूराम शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' को आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी मंडल के बाहर की काव्य भूमि के अंतर्गत रखा है । किंतु उनकी जिन प्रवृत्तियों, देश-दशा, समाज-दशा, आचार-विचार, त्याग-वीरता, ऐतिहासिक प्रसंग आदि का उन्होंने उल्लेख किया है वे स्वयं द्विवेदी मंडल या उन दो दशकों की विशेषताएं हैं ।

द्विवेदी जी ने कवियों को विषय परिवर्तन की प्रेरणा दी । वैसे तो - भारतेंदु-युग कवियों ने भी श्रृंगारोतर रचनाएं की थीं, परंतु वे अपेक्षाकृत बहुत कम थीं । द्विवेदी-युग ने श्रृंगारिकता से आगे बढ़कर जीवन के अन्य पक्षों पर भी उचित ध्यान दिया । श्रृंगार प्रधान रचनाओं में भी उसने प्रेम को व्यापक, विश्वजनीन या रहस्योन्मुख रूप देकर उसे उत्कृष्ट बना दिया । वर्ण्य-विषय की दृष्टि से उस युग की कविताओं का दुहरा महत्व है । एक तो उन कवियों ने नवीन विषय पर रचनाएं कीं और दूसरे परम्परागत मानव, प्रकृति आदि विषयों को नवीन दृष्टि से देखा ।

धार्मिक कविता (आध्यात्मिकता) के क्षेत्र में उस युग के कवियों की मनोदृष्टि की नवीनता अनेक रूपों में व्यक्त हुई है । पौराणिक अवतारवाद से प्रभावित भक्तिकाल ने राम और कृष्ण को ईश्वर के रूप में चित्रित किया था । बीसवीं शती ई० के विज्ञान-युग में उनके मानवीकरण की प्रक्रिया सर्वथा स्वाभाविक थी । इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें 'प्रियप्रवास ''साकेत' और 'पंचवटी' में कृष्ण और राम का मानवरूप में चरित्र-चित्रण करने वाले अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने उन्हें अवतार न मानकर मनुष्य रूप में ही ग्रहण किया है । उन कवियों के आत्मनिवेदन से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने कृष्ण और राम को ईश्वर माना है । उदाहरण स्वरूप 'प्रियप्रवास' की भूमिका में 'हरिऔध जी' ने कृष्ण को महापुरुष माना है ईश्वर का अवतार नहीं । 'साकेत' के आरंभ में ही गुप्त जी भी कहते हैं -

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?"

उन्हें महापुरुष के रूप में चित्रित करने का कारण यह है कि आधुनिक-युग का विज्ञानवादी संसार उन्हें ईश्वर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था और उन कवियों को साहित्य-जगत् को ऐसी वस्तु देनी थी, जो अवतारवादियों तथा अनवतारवादियों को

समान रूप से रोचक और उपयोगी हो । ईश्वर के रूप में राम और कृष्ण का चरित्र अंकित करने से एक हानि भी हुई है । 'रामचरित मानस' या 'सूरसागर' का पाठक ईश्वररूप राम और कृष्ण का अनुकरण करने का कभी प्रयास नहीं करता, क्योंकि वह मान चुका है कि राम और कृष्ण ईश्वर थे, अतएव उनके कर्म भी अतिमानवीय थे और उन कर्मों का अनुकरण् करना मनुष्य के लिए असम्भव है । बाल्मीकि और व्यास की भांति राम और कृष्ण को महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करके द्विवेदी-युग ने हिन्दी जनता के समक्ष अनुकरणीय चरित्र का आदर्श उपस्थित किया है ।

द्विवेदी-युग के कवियों की दृष्टि अवतार तक ही सीमित नहीं रही । उन्होंने विश्व कल्याण और लोक-सेवा को भी ईश्वर का आदेश और उसकी प्राप्ति का साधन समझा । इस रूप के प्रतिष्ठापक कवियों ने यह अनुभव किया कि भगवान का दर्शन विलास और वैभव की आनंदभूमि में रहकर नहीं किया जा सकता वह तो दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति और उनके दुःख निवारण से ही मिल सकता है, जैसे कि -

"मैं ढूंढ़ता तुझे था, जब कुंज और वन में ।
तू खोजता मुझे था, तब दीन के सदन में ।।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था ।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में ।।
मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू ।
मैं बांट जोहता था तेरी किसी चमन में ।।"[1]

दार्शनिक कवियों ने ईश्वर को किसी मंदिर या अवतार में न देखकर और भावना के संकुचित घेरे से निकालकर विराट रूप में उसका दर्शन किया ।

अवतारों और देवी-देवताओं, राजाओं तथा अन्य ऐतिहासिक महापुरुषों, कल्पित नायक-नायिकाओं और प्रेम-कथाओं आदि का वर्णन करते-करते हिन्दी कवि थक गए थे । इसी समय आचार्य द्विवेदी जी ने उन्हें विषय-परिवर्तन का आदेश दिया । उनके युग के कवियों की दृष्टि परम्परागत स्थान पर ही आदेश दिया । उनके युग के कवियों की दृष्टि परम्परागत स्थान पर ही केंद्रित नहीं रही और उन्होंने असाधारण मानवता तथा देवता से आगे बढ़कर सामान्य-मानव-समाज को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया ।

1- रामनरेश त्रिपाठी - अन्वेषण, माधुरी भाग - ।, खण्ड ।, संख्या-। - पृ० - 31

सहानुभूति के प्रधान-पात्र अछूत किसान, मजदूर अशिक्षित नारियां, विधवा, भिक्षुक आदि हुए :-

"खपाया किए जान मजदूर, पेट भरना पर उनका दूर ।
उड़ाते माल धनिक भरपूर, मलाई लड्डू मोतीचूर ।।
सुधरने में है जाके देर, अभी है बहुत बड़ा अंधेरा ।
अन्नदाता है धीर किसान, सिपाही दिखलाते हैं ज्ञान ।।
डराते उन्हें तमाचा तान, तुम्हें क्या सूझी हे भगवान ।
आंवले खट्टे मीठी वेर ? किया है क्यों ऐसा अंधेरा ।।"[1]

किसान और मजदूर की ओर विशेष ध्यान दिया गया । द्विवेदी जी ने 'अवध के किसानों की बर्बादी' नामक पुस्तक में जमींदार द्वारा किसानों पर किए गए अत्याचारों का चित्रण किया था, परंतु वह पुस्तक गद्य में थी । कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण 'गुप्त' के 'किसान' गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' के 'कृषक-क्रन्दन' और सियारामशरण गुप्त के 'अनाथ' में किसान और श्रमजीवी के प्रति जमींदार, महाजन और पुलिस आदि के द्वारा किए गए घोर अत्याचारों का निरूपण हुआ । द्विवेदी-युग में की गई इस प्रकार की कविताएं आगामी प्रगतिशील काव्य की भित्ति के रूप में प्रस्तुत हुई ।

कहीं तो नई सभ्यता, संस्कृति और नए आचार-विचार को अपनाने वाले नवशिक्षित बाबुओं की हंसी उड़ाई गई, कहीं अपरिवर्तनवादी धार्मिक कट्टरपंथियों के समय विरूद्ध धर्माडम्बर पर हास्य मिश्रित व्यंग्य किया गया और कहीं अपनी ही बात को पर्याप्त एवं प्रधान मानने वाले साहित्यकों, समालोचकों सम्पादकों आदि पर आक्षेप किया गया ।

कवियों ने अपने मन में भली-भांति विचार करके देखा कि 'पराधीन' सपनेहुं सुख नाही' । कहीं तो अपना दुख रो-रो कर उससे मुक्त करने के लिए शासकों से प्रार्थना की गई, कहीं यांत्रिक यंत्रणा का अंत करने के लिए देवी-देवताओं और आदर्श मानवों की दुहाई दी गई, कहीं गिरी हुई दशा से ऊपर उठने के लिए देश वासियों को विनम्र प्रोत्साहन दिया गया, कहीं अवनति से उन्नति के मार्ग पर चलने के लिए मेल-जोल की रागिनी गाई गयी और कहीं बाहुबल से कीर्तिकर देने का संदेश सुनाया

1- गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' - मर्यादा, भाग-15, संख्या - 2, - पृ० - 49

गया । भारत के गौरवमय अतीत, दीनहीन वर्तमान और आशापूर्ण भविष्य का सुन्दरतम चित्रांकन मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत–भारती में हुआ ।

'द्विवेदी–युग' के कवियों की प्रेम–भावना, परिवर्तित और संस्कृत रूप में हुई। यह द्विवेदी जी के आदर्श का प्रभाव था, उनके युग की प्रेम–प्रधान कविताओं में घोर श्रृंगारिकता, असंयम, व्यक्तिगत, वासना आदि के स्थान पर शिष्टता, संयम व्यापकता, लोकपावनत्व आदि का समावेश हुआ । 'प्रियप्रवास' की राधा या 'साकेत' की उर्मिला का प्रेमांकन उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है । आलम्बन की दृष्टि से यह प्रेम निरुपण तीन प्रकार का हुआ – लौकिक, अलौकिक और मिश्र । उदाहरणार्थ सुमित्रानंदन पंत, की ग्रंथि में प्रेमपात्र लौकिक, 'निराला' की 'तुम और मैं' में अलौकिक एवं 'प्रसाद के आंसू में कहीं लौकिक और कहीं अलौकिक भी है । आश्रय की दृष्टि से प्रेमव्यंजना दो प्रकार की हुई – वस्तु वर्णनात्मक आत्माभिव्यंजक, प्रेमपथिक और 'मिलन' आदि में रति के आश्रय कवि के अतिरिक्त व्यक्ति हैं, अतः ये काव्य वस्तुवर्णनात्मक हैं । 'ग्रंथि', 'आंसू' आदि में रति के आश्रय स्वयं कवि ही हैं । अतएव ये कविताएं आत्माभिव्यंजक हैं । स्वरूप की दृष्टि से भी द्विवेदी–युग की कविता में प्रेम का दो प्रकार से चित्रण किया गया – विवाहित और अविवाहित प्रेम । विवाहित प्रेम का आधार धार्मिक और समाजानुमोदित था, जैसे 'पथिक' और 'मिलन– में । अविवाहित प्रेम का आधार प्रथम दर्शन में आत्म–समर्पण था, जिसका धर्म और समाज से कोई संबंध न था, जैसे – 'ग्रंथि और आंसू में ।

कहीं तो इन कवियों ने उपनिषदों की दार्शनिकता के आधार पर अपने आराध्य के सर्वव्यापक रूप का अध्ययन किया –

"तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊं मैं ।"

कहीं भक्ति–भावना की भूमिका में अपने रहस्यात्मक उद्‌गार प्रगट किए और कहीं बौद्ध–वाद में विश्वास करने वाले कवियों ने निराशा और दुःख की व्यंजना की ।

द्विवेदी–युग के उत्तरार्द्ध में लिखी गयी मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला आदि की कविताओं में अप्रस्तुत–विधान, मानवीकरण, नाटकीयता, ध्वन्यर्थ व्यंजना, संगीतात्मकता, भावमयी कल्पना, मार्मिक अनुभूति आदि के सफल सन्निवेश के कारण काव्य–कला का रमणीय रूप प्रस्तुत हुआ । द्विवेदी युग की

1– मैथिलीशरण गुप्त – सरस्वती, भाग–19, खण्ड–2, पृ०–227

कविता विषय, भाषा छंद औश्र अर्थ की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी काव्य-भवन के भूतल से चलकर, शिखर-तल पर पहुंच गई, यही उसकी महिमा है । भाषा की अव्यवस्था के कारण द्विवेदी-युग के प्रथम-चरण में काव्य-कला की दृष्टि से उच्चकोटि की रचनाएं नहीं हुईं । इतिवृतात्मक पद्यों में नवीन विषयों और छंदों को लेकर द्विवेदी जी और उनके शिष्यों ने खड़ी-बोली को और सुधारने का प्रयास किया, जिसका अंशतः सफलरूप 'कविता कलाप' और पूर्णतः सफल रूप 'जयद्रथवध' और 'भारत-भारती' में व्यक्त हुआ है । द्वितीय चरण विशेषतः प्रबंध काव्यों का काल था । इसमें 'जयद्रथ-वध', 'प्रेम-पथिक', 'प्रियप्रवास' आदि के अतिरिक्त पद्य-प्रबंधों की संख्यातीत रचनाएं हुईं ।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में आध्यात्मिकत चिन्तन

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'मुकुटधर पाण्डेय', लोचनधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि के बीच ही मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ, किंतु धीरे-धीरे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के संरक्षण में मैथिलीशरण गुप्त जी उस युग के केंद्रीय कवि बनते चले गए । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने लिखा है - 'हरिऔध' यदि द्विवेदी युग के पहले बड़े कवि हैं तो मैथिलीशरण गुप्त उस युग के सम्पूर्णतः प्रतिनिधि कवि । खड़ी बोली कविता को लोकप्रिय बनाने में उनका योगदान असाधारण है और विडम्बना यह है कि अलोचकीय मूल्यांकन में वे उतने ही साधारण कवि माने जाते हैं । मैथिलीशरण गुप्त की महत्ता इस बात में है कि व्यापक अलोचकीय अनिच्छा के बावजूद वे आधुनिक-काल के एक बड़े कवि हैं । - - - मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय भावना में न दैन्य है, न पाखण्ड ।[1]

आधुनिक हिंदी कविता में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का स्थान कई दृष्टियों से अत्यंत महत्व का है । एक तो वे हिन्दी कविता को खड़ी बोली में प्रयोग करने वाले पहले समर्थ कवि हैं और इस दृष्टि से उनके कृतित्व के ऐसे अनेक आयाम हैं, जिनका विश्लेषण और मूल्यांकन अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यहां हम उनके वैष्णव व्यक्तित्व का विश्लेषण करेंगे, जिसमें एक ओर समर्पण की अभिव्यक्ति है, तो दूसरी ओर मनुष्य में ईश्वरत्व की अवतारणा का सहज प्रयास । डॉ० रामप्रकाश शर्मा ने भारतीय संस्कृति की धारा का विश्लेशण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि भरतगण और मगधगण के बीच में स्थित कोशलगण का भारतीय संस्कृति के निर्माण में काव्यात्मक योगदान रहा है । इसी अंचल में रामायण एवं महाभारत नामक महाकाव्यों की रचना हुई । बाल्मीकि एवं वेदव्यास ने इन महाकाव्यों के द्वारा न केवल शास्त्र एवं दर्शन से हटकर मानवीय अनुभव को काव्यानुभूति में अभिव्यक्त किया, बल्कि देवताओं के स्थान पर ऐसे मनुष्यों की परिकल्पना की, जिसमें ईश्वरत्व की सारी छवियां शक्तियां और सम्भावनाएँ निहित हों । राम और कृष्ण ऐसे ही मनुष्य हुए हैं, जिन्होंने अपने भीतर ऐसे असाधारण क्षमताओं को विकसित किया है, जिनके बलपर उन्हें ईश्वर का अवतार कहा जाने लगा ।

1- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - पृ० - 114-115

बालमीकि और व्यास की कथा अनेकानेक लोकधारओं में बहती हुई सूर और तुलसी तक पहुंचती हैं, जहां ये दोनों कवि राम और कृष्ण हुए । पूर्णब्रह्म से तदाकृत कर देते हैं और इस प्रकार उन्हें अपने ऐकान्तिक भक्ति का आलम्बनबनाते हैं, किन्तु उस अटूट भक्ति-भाव के बावजूद इन दोनों कवियों ने राम और कृष्ण के मानवीय जीवन के ऐसे-ऐसे महत्वपूर्ण आयामों को उद्घोषित किया है, जिन्हें चरितार्थ करके मनुष्यता अपने को धन्य समझे । विशेषकर 'गोस्वामी तुलसीदास जी' ने अपने 'रामचरित मानस', 'कवितावली', 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' के माध्यम से एक ऐसे पुरुषोत्तम राम को इस धरती पर भारतीय जन-मानस में उतारा है, जिसने पिछले चार सौ वर्षों से भारतीय जीवन को अपने आदर्श चरित्र से अनुप्राणित किया ।

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रकवि 'मैथिलीशरण गुप्त' ने रामचरित को एक बार फिर नई सारगर्भित अर्थवत्ता के साथ अपने काव्य में पुनर्रचित किया है । 'मैथिलीशरण गुप्त' में राम के प्रति जो अटूट निष्ठा है उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी इस पंक्ति में सहज रूप में की है -

> ''राम तुम्हारा चरित,
> स्वयं ही काव्य है
> कोई कवि बन जाए,
> सहज सम्भाव्य है ।''[1]

राम-भक्ति की अजस्र धारा को गुप्त जी ने उच्च्छल रूप से प्रवाहित किया है, जो उनकी रचनाओं 'पंचवटी' और 'साकेत' में बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं । किंतु गुप्त जी ने प्राचीन राम-कथा को अनेक नये संदर्भों से जोड़ा है । कैकेयी चित्रकूट में अपने अपराध को संपूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी यह पूछना नहीं भूलती -

> ''कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र क्या तेरा ?''[2]

यह प्रश्न मां की वत्सल भावना को सारे दोष-पाप से ऊपर उठा ले जाता है । 'साकेत' की रचना के मूल में भी, गुप्त जी स्वीकार करते हैं कि उर्मिला की मूक वेदना को अभिव्यक्ति देने की उत्कट बैचेनी ही है । गुप्त जी यहां नहीं पचा पाते कि उर्मिला

1- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत - पंचवटी प्रसंग - समर्पण
2- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत - पृ० - 132

अपनी सारी तकलीफ को चुपचाप बर्दास्त कर रह जाये और कवि की रचना में उसे कोई जगह नहीं मिले । 'रामचरित मानस' में उर्मिला की पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकी, जिसे गुप्त जी नहीं स्वीकार कर पाते । उनका एक लम्बा पत्र-व्यवहार राष्ट्रपिता महात्वा-गांधी से इस विषय में होता है । 'महात्मा गांधी' 'गोस्वामी तुलसीदास' का पक्ष लेते हैं और 'मैथिलीशरण जी' को समझाना चाहते हैं कि उर्मिला की वेदना की गहनता के कारण ही 'गोस्वामी तुलसीदास' उसे मूक रखते हैं, किंतु राष्ट्रकवि यह तर्क स्वीकार नहीं कर पाते और अपने महाकाव्य 'साकेत' में उन्होंने पूरा 'नवम सर्ग' उर्मिला की विरह-वेदना को ही अभिव्यक्ति देने में सम्पन्न किया है । कुछ लोगों को 'नवम-सर्ग' में उर्मिला की विरहाकुल दशा का इतना विस्तृत चित्रण खटकता है, किंतु गुप्त जी के मन में जो युग-युग से खामोशी की पर्त में ढकी हुई उर्मिला चीत्कार करने लगती है, उसे वे एक सर्ग से कम में समाप्त नहीं कर पाते । 'नवम सर्ग' का प्रत्येक पद एक नई आभा लेकर पाठक के सामने आता है । कुछ गीत अविस्मरणीय हैं :-

"अब वे बासर बीत गए"[1]

अथवा

"मुझे फूल मत मारो ।"[2]

जैसे गीत कभी भी स्मृति से ओझल नहीं होते ।

इस संदर्भ की चर्चा मैथिलीशरण जी की आध्यात्मिक अनुभूति के संदर्भ में इसलिए महत्वपूर्ण है कि वे मानवीय भावनाओं को ईश्वरीय चरित्र के संदर्भ में उतना ही महत्वपूर्ण मानते हैं, जितना मानवीय में । अष्टम सर्ग में भी ऐसी स्थितियां आती हैं, जहां त्याग, परस्पर विश्वास और करुणा की प्रतिष्ठा उन्होंने बड़े बेलाग ढंग से किया है। राम और भरत का सम्वाद इस दृष्टि से अद्वितीय है । बीसवीं सदी का वैष्णव कवि केवल अपने प्रभु के प्रति अपने आत्म-समर्पण को ही बार-बार रेखांकित नहीं करता, बल्कि अपने युग के मानवीय संदर्भों में उसे नए सिरे से पहचानना चाहता है । आध्यात्मिकता उसे समाज से काटकर कहीं दूर नहीं ले जाती, बल्कि एक श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी के रूप में उसे बरतने का व्यापक मानवीय आधार प्रदान करती है ।

'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' ने गुप्त जी के संदर्भ में लिखा है - "गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है, कालानुसरण की क्षमता अर्थात उत्तरोत्तर बदलती हुई

1- मैथिलीशरण गुप्त - स्वस्ति और संकेत शीर्षक संकलन का गीत

2- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत - नवम सर्ग - पृ० - 248

भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति । इस दृष्टि से गुप्त जी निःसन्देह हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं । भारतेंदु के समय से स्वदेश-प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी, उसका विकास 'भारत-भारती' में मिलता है । इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया, उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है । सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यवाद, विश्व प्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान सबकी झलक हम पाते हैं ।''[1] उसी क्रम में शुक्ल जी मानते हैं कि ''सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है । प्राचीन के प्रति पूज्य-भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों उनमें है।''[2]

वास्तव में व्यक्तिरूप में 'मैथिलीशरण गुप्त' जी वैष्णव व्यक्तित्व वाले कवि हैं और काव्य में केंद्र में भी उन्होंने रामकथा को ही रखा है, किंतु इन सबके होते हुए भी मैथिलीशरण गुप्त जी के व्यक्तित्व से अलग कर सकते हैं । इस समानता और अलगाव की पहचान - ''डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी' ने बड़ी ही सूक्ष्मता से की है - ''इस्लाम के आक्रमण में मध्यकाल में जिस प्रकार भक्ति-भावना को उभारा, आधुनिक काल में अंग्रेजी शासन उसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना को । क्रमशः ऐहिकता की ओर उन्मुख समाज में राष्ट्र-भावना जैसे भक्ति-भावना की स्थापना बन गयी हो विविध वर्गों की एकता और समानता जिसका घोषित लक्ष्य थी । वैष्णव निष्ठा, अनाक्रमकता की भावना और समूचे देश के लिए रामराज्य की परिकल्पना - ये साझी विशेषताएं हैं । 'तुलसी' और 'मैथिलीशरण गुप्त' के काव्य की और महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन की ।''[3]

इसीलिए चतुर्वेदी जी गुप्त जी के व्यक्तित्व में पौराणिक विश्वासों के पुनर्मूल्यांकन की झलक पाते हैं -

''राम तुम मानव हो
ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं
सभी कहीं हो क्या ?

1- आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 418
2- आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 419
3- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - पृ० - 115

तब मैं निरीश्वर हूं
ईश्वर क्षमा करें ।
तुम न रमो तो,
मन तुममे रमा करे ।''[1]

चतुर्वेदी जी की इस मान्यता के साथ सहज भाव से सहमत हुआ जा सकता है - ''राम कवि के लिए मानव और ईश्वर दोनों एक साथ हैं ।''[2]

सच बात तो यह है कि बीसवीं शताब्दी का कवि चाहे जितनी ही वैष्णव-भक्ति से क्यों न ओत-प्रोत हो, किंतु उसका व्यक्तित्व शुद्ध रूप से तर्कातीत, श्रद्धा और भक्ति वाला नहीं हो सकता । ''मैथिलीशरण गुप्त'' की आध्यात्मिकता और वैष्णव भावना इसी युग की वस्तु है । इसलिए उनमें जगह-जगह तर्क का भी दर्शन होता है । पूरे साकेत में तर्क और बुद्धि का तत्व सन्निहित है । उनकी ईश्वरत्व की परिकल्पना मनुष्यता के श्रेष्ठतम रूप में ही है ।

गुप्त जी उदार हृदय रामभक्त वैष्णव हैं । राम में उनकी अनन्य भक्ति है । अन्य देवों के प्रति श्रद्धा होने पर भी वे उनको उतना प्रभावित नहीं करते जितना की राम -

''निज मर्यादा - पुरुषोतम ही मानव का आदर्श,
नहीं और कोई कर पाता मेरा लक्ष्य स्पर्श ।''[3]

राम के ईश्वरत्व में संदेह होने पर वे निरीश्वर अर्थात् नास्तिक बनने को तैयार हैं ।

मैथिलीशरण गुप्त के राम भक्तवत्सल और लीलाधाम हैं तथा दुष्कृतों के विनाश और धर्म के संस्थापन के लिए अवतार लेते हैं ।

राम भगवद्वतार हैं तो सीता उनकी शक्ति । दोनों की समष्टि में ही सृष्टि का विकास है । सीता को राम की शक्ति मानने के कारण ही गुप्त जी कहीं-कहीं उनकी भी

1- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत - पृ० - 7
2- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास - पृ० - 116
3- मैथिलीशरण गुप्त - पृथिवीपुत्र - प्रथमावृत्ति - पृ० - 7

महत्ता का गुण-गान करते हैं इतना ही नहीं वे तो इस देही की गति वैदेही[1] तक की घोषणा करते हैं ।

गुप्त जी की आस्था हिन्दू धर्म के सभी अंगों में है । तीर्थ व्रत, जप-तप, यज्ञ-योग, पूजा-पाठ, वेद आदि सब उनकी सहज श्रद्धा और बुद्धि के विषय हैं । ये सब हिन्दू धर्म या फिर भारतीय संस्कृति की अपनी मान्यताएं हैं और गुप्त जी को इन सब पर पूरा विश्वास है ।

भारतेंदु-युग में आरब्ध तथा द्विवेदी-युग में परिपुष्ट जनजागरण के प्रभाव से हमारे देश में व्यापक राजनैतिक सजगता ही नहीं बौद्धिक उद्बोधन भी हुआ । श्रद्धा की अपेक्षा वैज्ञानिकता की ओर झुकाव हुआ । फलस्वरूप प्राचीन कथानकों का बौद्धिक व्याख्यान किया गया । स्वाभाविक और विवेक सम्मत घटना विधान की प्रवृति बढ़ी और मानवीयता एवं आध्यात्मिकता का समावेश किया जाने लगा । मैथिलीशरण भी अतिप्राकृत तत्व का निराकरण कर वस्तु को तर्कसंगत रूप प्रदान करते हैं । अतएव उनके महाकाव्यों में राम और कृष्ण की अलौकिक शक्तियों का प्रयोग प्रायः नहीं है । ''किंतु गुप्त जी दीर्घ परम्पराओं एवं विश्वासों की अवहेलना सहज ही नहीं कर पाते । वे कथानक को विवेकसम्मत रूप भी देना चाहते हैं और परम्परागत विश्वासों की रक्षा भी। वे श्रद्धा एवं नवीन दृष्टिकोण के समन्वय का प्रयत्न करते हैं ।''[2] यही कारण है कि 'साकेत' में हृदय और बुद्धि का, विवेक और संस्कारिता का तथा श्रद्धा और नवीन दृष्टिकोण का यह समन्वय और भी स्पष्ट रूप में हुआ है ।

''मैथिलीशरण'' जी जहां एक ओर परम्परित काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) को छोड़कर खड़ी बोली हिन्दी, भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाते हुए, एक प्रखर तेजस्विता का व्यक्तित्व प्रदर्शित करते हैं, वहीं उनमें एक अटूट समर्पण का तत्व भी है, जो उन्हें उनके आराध्य से जोड़ता है । मनुष्यता को ईश्वरत्व के समकक्ष खड़ा करने वाला यह बीसवीं शताब्दी का कवि निश्चय ही एक नयी आध्यात्मिकता का सूत्रपात करता है, जो आगे चलकर अनेक आयामों में विकसित होती है । गुप्त जी की यह भावना उनकी निम्न पंक्तियों में प्रतिच्छवित होती दिखायी पड़ती है :-

---

1- गुप्त - काबा और कर्बला - द्वितीय संस्करण - पृ० - 9

2- उमाकान्त - मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के व्याख्याता - पृ० - 158

''तुम सुनो, सदैव समीप है -
जो अपना आराध्य है ।
आओ हम साधें शक्ति भर
जो जीवन का साध्य है ।
अलक्ष की बात अलक्ष जाने,
समक्ष को ही, हम क्यों न मानें,
रहे वही प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा ।''[1]

इस प्रकार व्यक्त प्रकृति में विशेषकर मनुष्य की सत्ता में अव्यक्त, ईश्वर का दर्शन करना उनकी आध्यात्मिक चिंतन की केंद्रीय पहचान है । इस युग के महात्मा गांधी जी भी बार-बार नर में नारायण के दर्शन की बात करते हैं और बराबर यही दुहराते रहे हैं -

''वैष्णव जन तो तेने कहिए,
जो पीर परायी जाने रे ।''

महात्मा गांधी और मैथिलीशरण गुप्त की संवेदनाओं का यह सेतु-भाव है, जो मनुष्य में ईश्वर को प्रतिष्ठित करता है और मनुष्य की सेवा ईश्वर की आराधना का मूल मंत्र है ।

द्विवेदी युगीन कवियों में 'श्री मैथिलीशरण गुप्त' के बाद दूसरा महत्वपूर्ण नाम 'पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय' 'हरिऔध' का है ।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य में आध्यात्मिकता

द्विवेदी-युग के कवियों में हरिऔध की विशिष्टता कई दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण थी । एक तो काव्य-भाषा के स्तर पर जो प्रयोग 'हरिऔध' ने किए, वह अपनी विविधता और परिपक्वता में अद्वितीय है, जहां एक ओर उन्होंने छंद शास्त्र के अत्यंत विरल प्रयोग किए और पूरे 'प्रियप्रवास' को आद्योपान्त, अतुकांत छंदों में लिखा, जो कि उस काव्य के संदर्भ में एक अत्यंत आधुनिक और मौलिक प्रयोग कहा जाएगा, वहीं दूसरी ओर उन्होंने तत्सम शब्दों से लेकर ठेठ भाषा का प्रयोग अपने भिन्न काव्यों में

1- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत - द्वादश सर्ग - पृ० - 397

किया है । 'प्रियप्रवास' जो उनका सबसे समादरणीय काव्य है, अपने संस्कृत गर्भित शब्द प्रयोग के लिए प्रख्यात है । 'प्रियप्रवास' की भाषा जहां अपनी तत्समता से चमत्कृत करती है तथा जहां उसमें एक ओर सरसता और माधुर्य के गुण प्रभावित करते हैं वहीं दूसरी ओर उसका प्रवाह भी आश्चर्य चकित कर देने वाला है । 'प्रियप्रवास' को पढ़ते समय बार-बार 'गोस्वामी तुलसीदास' की 'विनय पत्रिका' का स्मरण हो जाता है, जो ऐसे ही तत्सम शब्दों की बहुलता से परिपूर्ण है । किंतु यहां हमारा उद्देश्य 'हरिऔध' की भाषा की विशिष्टताओं को रेखांकित करना नहीं है । बल्कि हमें तो 'प्रियप्रवास' की विषय-वस्तु के माध्यम से कवि की पारम्परिक आध्यात्मिक दृष्टि को पहचानना है, जिसे उनके ग्रंथ 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' प्रस्तुत करते हैं । 'प्रियप्रवास' का विषय कृष्ण कथा को आधार बनाकर चलता है, जबकि श्रीकृष्ण गोपियों को छोड़कर मथुरा की यात्रा करते हैं । इसी लिए इसका नाम ही 'प्रियप्रवास' रखा गया है । 'श्रीमदभागवत्' से लेकर महाकवि 'सूरदास' तक निरंतर कृष्ण कथा का यह अंश कवियों की संवेदना के केंद्र में रहा है । तड़पते हुए गोपियां अपने प्रियतम कृष्ण के वियोग में नाना प्रकार से अपनी वेदना को व्यक्त करती रही हैं और कृष्ण के इस विरह के आध्यात्मिक अभिप्रायों को भिन्न-भिन्न प्रकार से भिन्न कवियों ने अभिव्यक्त किया है । ऐसी स्थिति में उसी विषय को जब हरिऔध उठाते हैं तो निश्चय ही यह जिज्ञासा महत्वपूर्ण हो उठती है कि उनकी दृष्टि इस संदर्भ में किस प्रकार की है, उन्होंने प्रियप्रवास की भूमिका में लिखा है कि - "हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते हैं, उनका चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है तो हम उसकी प्रति पंक्ति में या न्यून-से-न्यून उसके प्रतिपृष्ठ में ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते हैं, जिसमें उसके ब्रह्मत्व का निरुपण हो, जो सज्जन इस विचार के हों, वे मेरे प्रेमाम्बु, प्रेमाश्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह और प्रेमाम्बुवारिध नामक ग्रंथों को देखें, उनके लिए ग्रंथ नहीं रचा गया है । मैंने श्रीकृष्ण चंद्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भांति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं । अवतारवाद की जड़ में 'श्रीमद्भागवत् गीता' का यह श्लोक मानता हूं - "यद्-यद् विभूतिमत्-सत्वं श्रीमदर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छत्वम् ममतेजों शसंभवम् ।" अतएव जो महापुरुष हैं उसका अवतार होना निश्चित है । मैंने भगवान श्रीकृष्ण का जो चरित्र अंकित किया है, उस चरित्र का अनुधावन करके आप स्वयं विचार करें कि वे क्या थे ? मैंने यदि लिखकर बतलाया कि वे ब्रह्म थे और तब आपने पहचाना तो क्या बात रही ? आधुनिक विचारों के लोगों को यहं प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति-पंक्ति में तो भगवान श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें और चरित्र लिखने के

समय 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् समर्थः प्रभुः' के रंग में रग कर ऐसे कार्यों का कर्ता उन्हें बनावें कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे ।''[1]

कवि के इस कथन के मन्तव्य में कोई भ्रांति नहीं है जहां एक ओर वह यह मानता है कि प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म करने वाला व्यक्ति ईश्वर का एक विशेष अंग है, और इस अर्थ में प्रत्येक महामानव ब्रह्म का अवतार ही कहा जा सकता है, वहीं दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि किसी भी व्यक्ति को ब्रह्म कहकर या उसका अवतार कहकर ऐसी छूट नहीं दी जा सकती कि वह सामान्य जीवन की सारी क्रियाओं का अतिक्रमण करे, इसलिए 'प्रियप्रवास' में कृष्ण के चरित्र का जो अंश प्रस्तुत किया गया है, उसमें उनका मानव रूप ही अधिक महत्वपूर्ण है और उसकी श्रेष्ठता ही उसके धरातल को उसके ब्रह्मत्व के निकट पहुंचाती है । इसलिए 'प्रियप्रवास' के श्रीकृष्ण प्रेम और विरह की अनुभूतियों से गुजरते हुए भी उस प्रकार स्वेच्छाचार और उच्छृंखलता की स्थितियों से नहीं गुजरते । उनकी ईश्वरीयता उनकी मनुष्यता का ही एक उत्कृष्ट रूप है । विरह की अनेकानेक छवियां 'प्रियप्रवास' में उभरकर आती हैं और प्रेम की गहनतम अनुभूतियों को व्यक्त करती हैं । इस प्रकार उस प्रेम-व्यवहार का अनुस्मरण गोपियों के लिए एक पवित्र स्मृतिप्रवाह के रूप में स्पन्दित करता रहता है ।

'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' में अनेक समताएं हैं और अनेक विशेषताएं भी हैं । 'वैदेही-वनवास' में कवि के विचारों और भावनाओं की दृष्टि बहुत बदली हुई है। आध्यात्मिकता की ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ गयी है और शिक्षक का रूप भी उसने धारण कर लिया है तथा वैज्ञानिक चर्चाओं में भी उसकी रूचि अधिक उत्पन्न हो गयी है। दोनों कृतियों में इतना अधिक अंतर होने का प्रधान कारण यह है कि 'प्रियप्रवास' की राधा को अपना हृदय खोलने के लिए जितनी स्वतंत्रता थी, उतना 'वैदेही - वनवास' की सीता को नहीं थी । 'प्रिय-प्रवास' की राधा ने अपना हृदय श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित करने के बावजूद भी उन्हें पूर्णरूप से पाया नहीं था, इस कारण उसकी भावना अत्यन्त उद्दीप्त थी और काव्य-प्रवाह के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान कर सकती थी । किन्तु 'वैदेही-वनवास' में सीता की समस्या यह नहीं थी; राम को तो वह पूर्णतः पा चुकी थीं और यदि उसके लिए कुछ बचा था तो केवल यह कि वह इस बात को प्रमाणित कर सके कि अपने प्रियतम का आदेश पालन करने के लिए वह उनके असह्य वियोग को भी सहन कर सकती है ।

1- अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' - प्रियप्रवास की भूमिका - पृ० - 30

सीता भौतिकता का विरोध करते हुए, उसे वासना बढ़ाने वाली तथा विवाह - विच्छेद की जननी बताती हैं । इस भौतिकजन्य रोग की औषधी के रूप में वे आध्यात्मिकता के विकास का संस्तवन करती हैं - -

''यदि भौतिकता है अति स्वार्थ परयणा ।
आध्यात्मिकता आत्यत्याग की मूर्ति है ।
यदि भौतिकता है विलासिता से भरी ।
आध्यात्मिकता सदाचारिता पूर्ति है ।''[1]

सीता की इस वाणी से स्पष्ट है कि वे जिस प्रकार संकट झेल रही हैं, उसके महान उद्देश्य के प्रति उनकी उतनी ही आस्था है जितनी स्वयं रामचन्द्र की । सच तो यह है कि इसी दृढ़ विश्वास पर टिकी रहकर उन्होंने पति-वियोग के बारह वर्ष काट दिए ।

सृष्टि के भीतर प्राणी-मात्र की जो अनन्त चेष्टाएं प्रतिपल क्रियाशील हो रही हैं, उनपर विचार करने के दो दृष्टिकोण हैं, एक आध्यात्मिक, दूसरा भौतिक । आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्थूल जगत् के समस्त व्यापारों को नश्चरता से पीड़ित तथा इसी कारण मिथ्या मानता है । आध्यात्मिक दृष्टिकोण सदा ही सत्य का सहचर है; उसमें छल प्रपंच द्वारा विजय प्राप्त करने की या लाभ उठाने की लालसा नहीं है । जिस आधार पर सम्पूर्ण विश्व के जीवन का नियमन हो रहा है, उसे प्रदान कर वह व्यक्ति को भी महाशक्तिशाली बना देता है, जिसके सम्मुख बड़े-बड़े सम्राटों की बोलती बन्द हो जाती है । आध्यात्मिक दृष्टिकोण आशा-निराशा का, पक्षपात और घृणा का द्वार बन्द कर देता है, क्योंकि वह तो अपने आप ही तृप्त है; सम्पूर्ण विश्व ही उसका सगा है ।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण जितना ही दूरगामी होता है उतनी ही देरी से फलप्रद भी होता है । आध्यात्मिक पक्ष में एक हद तक निष्क्रियता है; परन्तु यह निष्क्रियता मृत्यु अथवा रूग्णता का दूसरा नाम नहीं है । इस निष्क्रियता की उत्पत्ति तो जीवन की गहरी और व्यापक अनुभूति में हैं और शरीर तथा उसके सुखों के प्रति विरक्ति तथा उदासीनता ही इसकी विशेषता है । यदि सांसारिक भोग-विलास-लालसा आध्यात्मिक शान्तिमयी अचेष्टता गुफा में अपने आप को छिपावे तो उससे आध्यात्मिक पक्ष निन्दनीय नहीं होता, बल्कि यही सूचित होता है कि व्यक्ति-विशेष उसके तेजस्वी स्वरूप को अपने भीतर धारण नहीं कर सका ।

1- अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' - वैदेही वनवास

जब मनुष्य घटनाओं पर विचार करने योग्य हो जाता है तब उसके हृदय में आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टिकोण-विषयक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और जब तक भौतिक-पक्ष की अपूर्णता अपने आप को आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पूर्णता के भीतर निमज्जित नहीं कर देती तब तक इस संघर्ष के वातावरण में व्यक्ति का जीवन विकसित होता है और ज्यों-ज्यों उसके व्यक्तित्व को चारों ओर से घेरे रखने वाले बन्धनों का अंत होता है, त्यों-त्यों वह अलौकिक आनन्द का अनुभव करता जाता है । साधारणतया मानव-व्यक्तित्व में इन दोनों पक्षों का ऐसा सम्मिश्रण रहता है कि उसमें किसका कितना अंश विद्यमान है, यह कहना प्रायः असम्भव हो जाता है ।

अन्त में 'गिरिजा दत्त शुक्ल' 'गिरीश' के शब्दों में हम आध्यात्मिकता के महत्व को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं - ''अध्यात्मवाद मनुष्य को हिन्दु और मुसलमान कहकर नहीं, मनुष्य कहकर पुकारेगा । मानव व्यक्तित्व के क्षेत्र में मनुष्यत्व की संज्ञा से अवतीर्ण होकर वह भारतवर्ष की विभिन्न ईर्ष्या - द्वेष - रत जातियों के सम्मुख प्रेम की वह सुरीली बासुरी बजावेगा जो उन्हें गोपियों सी उन्मत बनाकर अहंकार और ममता से भरे हुए घरों में से उस निकुंज्ज की ओर ठेल देगा जहां भेद-भाव का नाम नहीं । संसार के इतिहास में मनुष्यता के कारण न किसी व्यक्ति का लोप हुआ है और न किसी जाति का और यदि हिन्दुओं में मनुष्यता रहेगी तो उनका नाश भी असम्भव है ।''[1]

1- गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' - महाकवि हरिऔध - पृ० - 32

जगन्नाथदास रत्नाकर के काव्य में आध्यात्मिकता

'रत्नाकर' जी का युग संक्रान्ति का युग था । यद्यपि नवीनता का प्रकाश चारों ओर फैल रहा था फिर भी प्राचीनता का व्यापक प्रभाव अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जन-मन पर छाया हुआ था । काव्य के क्षेत्र में तत्कालीन कवि नवीन विचारों को ग्रहण करके भी प्राचीनता को अपने से अलग नहीं कर पा रहा था । रत्नाकर जी तो अपने वातावरण तथा शिक्षा दीक्षा में प्राचीनता-प्रेमी थे ही । अतः उनकी काव्य - रचना का उद्देश्य मनोरंजन तथा आदर्श-स्थापना ही माना जाए तो कोई गलत नहीं होगा ।

फिर भी नवजागरण के उस युग में 'रत्नाक़र' जी भी नवीन जागरण की भावना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे । 'रत्नाकर' जी ने 'हिंडोला' में अपनी आध्यात्मिक भावना को व्यक्त किया है । उन्होंने 'उद्धवशतक' में ज्ञान एवं योग की अपेक्षा भक्ति को तथा निर्गुण के समक्ष सगुण की श्रेष्ठता सिद्ध की है । 'हिंडोला', हरिश्चन्द्र, कलकाशी, गंगावतरण, उद्धवशतक तथा पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखने वाले अष्टक उनके धार्मिक विश्वासों को सकारता प्रदान करते हैं । स्पष्ट होता है कि 'रत्नाकर' जी की रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य अपने इष्टदेव राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति - भावना को स्वान्तःसुखाय कलात्मक ढ़ंग से चित्रित करना ही है ।

'उद्धवशतक' 'रत्नाकर' जी की मार्मिक अनुभूतियों की कलापूर्ण अभिव्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट रचना है । 'उद्धव-शतक' में 'रत्नाकर' जी ने अपनी धार्मिक भावना को अभिव्यक्त किया है । इसमें इन्होंने निर्गुण-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । उद्धव का निर्गुण - ब्रह्म की उपासना करने सदुपदेश गोपिकाओं के श्रद्धा-भक्ति-पूर्ण विश्वास के समक्ष निरर्थक सिद्ध होता है । स्वयं उद्धव, कृष्ण को संदेश न देना होता तो कहीं ब्रज में ही कुटी बनाकर रहते -

> ''छावते कुटीर कहूं रम्य यमुना के तीर,
> गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं ।
> कहैं 'रतनाकर' बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ,
> स्तौन रसना में रस और भरते नहीं ।।''[1]

1- रत्नाकर - उद्धव शतक - छंद संख्या - 117

निर्गुण की यही पराजय 'रत्नाकर' जी के सम्प्रदाय की विशेषता है और यही 'उद्धव-शतक' की महत्ता है । 'रत्नाकर' जी ज्ञान-भक्ति, निर्गुण-सगुण के प्राचीन संघर्ष को कलात्मक रूप में चित्रित कर भक्तिपूर्वक सगुणोपासना को श्रेष्ठता प्रदान की है ।

''रत्नाकर का उद्धव-ज्ञान रूपी गम्भीर गहन पर्वत, गोपियों की पागल तन्मय भक्ति की असीम सागर लहरों से तरल हो उठता है । इस तथ्य की अभिव्यक्ति 'रत्नाकर' जी ने बड़े ही कलात्मक, अनुभूतिपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी ढंग से की है ।''[1]

उद्धव जैसे निर्विकार, निर्लिप्त निर्गुणवादी के ऊपर उन्होंने सगुण की सरसता का जैसा मार्मिक प्रभाव दिखलाया है वह निम्नलिखित छन्द में व्यक्त हुआ है -

''दुख सुख ग्रीषम औ सिसिर न व्यापैं जिन्हें
छापै छाप एकै हिए ब्रह्म-ज्ञान-साने मैं ।
कहै 'रत्नाकर' गंभीर सोई उद्धव कौ,
धीर उघरान्यो आनि ब्रज के सिवाने मैं ।
और मुख-रंग भयो सिथिलित अंग भयो,
बैन दवि ढंग भयौ गर गरूवाने मैं ।
पुलकि पसीजि पास चापि मुरझाने कापि,
जानै कौन बहति बयार बरसाने मैं ।''[2]

'रत्नाकर' जी ने राधा को प्रेम की अधिष्ठात्री देवी माना है । उद्धव का निर्विकार तथा भावना-हीन हृदय क्रमशः कृष्णमय वातावरण के प्रभाव मात्र से द्रवीभूत हो जाता है । यही पाषाण-हृदय उद्धव क्रमशः गोपिकाओं की अनन्य भक्ति के सांचे में ढ़लकर पत्थर से सूर्यकांत मणि बन जाते हैं । उनकी भक्ति साधना का यही अंतिम परिणाम है ।

'रत्नाकर' युग तर्कप्रधान था । अतः रत्नाकर जी ने तार्किक दृष्टिकोण ही अपनाया और इनके उद्धव आज के वास्तविक जगत् के अनुकूल ही सिद्ध हुए हैं । 'रत्नाकर' जी की सबसे बड़ी सफलता यह है कि इतना प्राचीन विषय होने पर भी इन्होंने इसे नया रूप प्रदान किया है । इन्होंने मधुर एवं नवीन उक्तियों का प्रयोग किया

1- उषा जायसवाल - रत्नाकर और उनका काव्य - पृ० - 78

2- रत्नाकर - उद्धवशतक - छंद संख्या - 25

है । इनकी सबसे बड़ी विशेषता चित्रोपमता है, जो इस काव्य (उद्धव शतक) में विशेष रूप से व्यक्त हुई है । संगीतात्मकता इसकी प्रमुख विशेषता है ।

इनके काव्य का क्षेत्र स्पष्टतः लौकिक तथा अलौकिक दोनों पक्षों में मिलता है। लौकिक पक्ष के पीछे श्रृंगार युगीन साहित्य की परम्परा है और आध्यात्मिक-पक्ष के पीछे श्रीमद्‌भागवत से चली आती दार्शनिक परम्परा और इसका सजीव चित्रण 'उद्धव शतक' में हुआ है । 'रत्नाकर' जी ने अपने 'हिंडोला' काव्य में भी कृष्ण के अलौकिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण किया था ।

उद्धव शतक में व्यवहारिक तर्क का उपयोग किया गया है । उद्धव शतक में निर्गुण और सगुण के विभेद को लेकर निर्गुण और सगुण में श्रेष्ठता का निश्चय करने की प्रवृत्ति दिखायी देती है । निर्गुण मार्ग ज्ञान मार्ग है, उसको प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की कठोर साधनाओं की आवश्यकता पड़ती है ।

धार्मिक दृष्टि से 'रत्नाकर' जी राधाकृष्ण के उपासक वैष्णव-भक्त थे । उनके ग्रंथों में वैष्णव-भक्ति की उपासना पद्धति का विस्तृत रूप देखने को मिलता है । मधुर-भक्ति के आधार पर कृष्ण को ईष्ट देव मानकर उनके प्रति आत्मीयता का भाव प्रदर्शित करना ही इन भक्तों की उपासना-पद्धति है ।

नवीन युग का संदेश सुनाने वाले जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला, माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की रचनाएं भी द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में ही समादृत हो चुकी थीं, परंतु वे द्विवेदी-युग के प्रवृत्ति प्रधान काव्यों पर विजय प्राप्त न कर सकीं । मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, गोपाल शरण सिंह आदि की अपेक्षा प्रसाद, पंत, निराला आदि का स्थान बहुत नीचा था । प्रसाद का 'प्रेम पथिक' निराला की 'जूही की कली' आदि ने कविता के विषय छंद और अभिव्यंजना-शैली की स्वच्छन्दता दिखाकर छायावाद की सूचना मात्र दी थी । अपने वास्तविक लक्षणों, प्रेम-प्रधान कल्पना की विचित्रता अनुभूति की मार्मिकता, लाक्षणिक मूर्तिमता, प्रबंधहीन, वस्तु विन्यास, रहस्यमयी भावना, प्रतीकात्मकता आदि से विशिष्ट छायावाद 'आंसू' के प्रकाशनोपरान्त ही प्रतिष्ठित हुआ । यह काल ही पूर्ववर्ती और परवर्ती-युग का विभाजन बिंदु है । 'आंसू' ने नवीन-युग का निश्चित प्रस्ताव और 'पल्लव' ने उसका सबल समर्थन किया और हिन्दी-संसार को युगान्तर स्वीकार करना पड़ा ।

निष्कर्ष :- इस युग में आकर भारतेंदु-युग के श्रेष्ठ कवि जो कि ब्रजभाषा में काव्य रचना करते थे वे भी खड़ी बोली का प्रयोग करने लगे । ऐसे कवियों में सर्वप्रथम श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध और पं० नाथूराम शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इस प्रकार भारतेंदु-युगीन नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का अशेष विकास द्विवेदी-युग में ही संभव हुआ । द्विवेदी-युग में आकर कवियों की रीतिकालीन मनोवृत्ति समाप्त होने लगी, परंतु रत्नाकर जी पर इस युग परिवर्तन का कोई खास प्रभाव नहीं हुआ, उन्होंने न तो रीतिकालीन श्रृंगारिकता को ही छोड़ा और न ही ब्रजभाषा को ही । बल्कि उन्हीं के साथ पूर्ण जी, सत्य नारायण कविरत्न और श्री वियोगी हरि भी उसी पुरानी धारा में सम्मिलित हो गए । अतः द्विवेदी-युग में भी खड़ी-बोली से पृथक एक अन्य समानान्तर धारा सदैव प्रवाहित होती रही । इनके अतिरिक्त कुछ और भी कवि ऐसे थे जो ब्रजभाषा का ही राग अलापते रहे ।

यद्यपि पुरानी परम्परा पर चलने वाले कवियों ने ब्रजभाषा और रीतिकालीन श्रृंगारिक शैली ही अपनायी, किंतु सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना के प्रकाश से प्रकाशित नवीन विचारधारा का भी उन पर प्रभाव पड़ा । फलस्वरूप इन्होंने अपनेकाव्य में नायक-नायिका के नख शिख वर्णन से अलग कुछ अन्य विषयों को भी महत्व दिया । आचार्य द्विवेदी के नैतिकता का भी प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से इन कवियों पर पड़ा ।

यद्यपि ब्रजभाषा के कवियों ने भाषा का विकसित रूप तो विरासत में प्राप्त किया था फिर भी उसे गति देने वाले नूतन-भाव-विचार पर्याप्त मात्रा में वे न अपना सके । दूसरी तरफ सर्वत्र खड़ी बोली की धूम सी मची हुई थी । टूटी-फूटी खड़ी बोली जीवन के नये रूपों को आत्मसात करके नये विचारों एवं नई भावनाओं से अनुप्राणित होकर लोक-भाषा बन गयी थी । परिणामतः इसका एक राष्ट्रीय स्वरूप बनने लगा, जो आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी प्रेमचंद की भाषा के रूप में उजागर हुआ ।

द्विवेदी-युग के अंतिम चरण तक आते-आते जगन्नाथ दास रत्नाकर ने भी हृदय से खड़ी बोली की महत्ता और अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया था । उनका विश्वास था कि खड़ी बोली की उन्नति ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य को उसी प्रकार समाप्त कर देगी जिस प्रकार राजनीतिक क्रांति एक पुरानी राज्य व्यवस्था को नष्ट कर देती है । इस संबंध में उन्होंने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है -

"इस समय हमारे देश में ही वरन समस्त संसार में सर्वतोन्मुखी क्रांति की उद्‌भावना हो रही है । इस क्रांति का उद्देश्य प्राचीनता के विरूद्ध चाहे वह साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक हो, एक घोर आंदोलन खड़ा करना है । हिन्दी में भी इस क्रांति की लहर उठ खड़ी हुई । यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है । यह तो अवश्यम्भावी है । संसार में कोई भी नियम, नियंत्रण, प्रथा, रीति, व्यवहार और दशा सदैव एक सी नहीं रहती चाहे वह किसी समय उपयोगी और स्तुत्य क्यों न रही हो । इस जगत् का मुख्य लक्षण ही परिवर्तनशीलता है । सदा कोई बात एक सी ही नहीं रहती । उसमें परिवर्तन होता रहता है जिसे वैज्ञानिक लोग 'विकास' का नाम देते हैं । इस परिवर्तन या विकास के मूल में संजीवनी शक्ति का संचय और संचार है । - - -पर क्रांति और विकास में कुछ भेद है । क्रांति सहसा होती है और प्रतिष्ठित पद्धति को समूल नष्ट कर देती है । विकास क्रमशः होता है और पुरानी नींव पर नया प्रासाद खड़ा करने का उद्योग करता है । एक विकासोन्मुख है तो दूसरा विधानोन्मुख । हिन्दी के पद्य साहित्य में इस समय जो उथल-पुथल दिख पड़ता है, वह क्रांतिकारी है, विकासोन्मुख नहीं ।"[1]

अतः द्विवेदी युग में ही देश-प्रेम और व्यापक राष्ट्रीयता कवियों द्वारा युग-धर्म के रूप में पहली बार स्वीकारी गई । सन् 1857 ई० के विद्रोह की जो आग अंग्रेजों द्वारा दबा दी गई वह फिर से लोगों में सुलग उठी । विदेशी शासकों ने सुधार के नाम पर कुछ छोटी-छोटी नौकरियाँ भी भारतवासियों को दीं तथा कुछ अन्य सुविधाएं भी दीं, जिसमें कुछ पढ़े लिखे लोग भी अपने स्वार्थवश उसमें फंसकर अंग्रेजों के भक्त बन गए। किंतु देश में फैली बेकारी अशिक्षा, दीनता और सामाजिक अप्रतिष्ठा ने लोगों के मन में निराशा उत्पन्न कर दी । यद्यपि भारतेंदु-युग के कुछ कवियों ने इसका विरोध किया था, परंतु सरे आम विरोध की क्षमता उनमें नहीं थी, अपितु शासकों को प्रसन्न रखने के लिए उन्हें उनका समय-समय पर गुणगान भी करना पड़ता था । द्विवेदी-युग के कवियों ने पराधीनता की इस असह्य पीड़ा को, जिससे कि देश कराह रहा था, एक चुनौती मानकर स्वीकारा । फलस्वरूप वैचारिक संघर्ष की नींव पड़ी । लोग आदर्श को छोड़ यथार्थ पर आये तथा नए काव्य से लोगों का साक्षात्कार हुआ ।

1- अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के अवसर पर सभापति के पद से दिए गए रत्नाकर जी के भाषण का अंश - पृ० - 31-34

"तत्कालीन काव्य पर महात्मा गांधी के जीवन और आदर्शों का भी प्रभाव पड़ा। गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार है, मानव स्वभाव पर अटल विश्वास । सत्य उसकी रीढ़ है । द्विवेदी-युग का कवि आस्थावान है । वह युग के बदलते हुए मूल्यां को ग्रहण करता हुआ गतिशील रहा । उसकी नई कविता में नए विश्वास जागे । मानव प्रेम और नारी के रूप में परिवर्तित दृष्टिकोण प्रथम बार बहुत दिनों के बाद भारतीय वांङमय में पुनः आया ।"[1]

द्विवेदी युग में जाति-धर्म और कुल की छोटी सीमाएं टूट कर देशप्रेम की परिधि हो गया । कविता का रूप राष्ट्रीय एवं सामाजिक हो गया । हिन्दी काव्य में धार्मिक सहिष्णुता, दूसरे धर्मों के प्रति आदर, मानव-प्रेम, एकता और सर्वधर्म-समन्वय की उदात्त भावना उत्पन्न हुई । इस दिशा में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का प्रदेय स्तुत्य है । इन्होंने हिंदू, मुसलमान, ईसाई और सिख सभी धर्मों के प्रति आदर व्यक्त किया है ।

द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता और हिन्दुत्व से ऊपर उठकर सर्वजनीन तथा सम्पूर्ण देश की एकता और अखण्डता की द्योतक बन गयी । बाबू मैथिलीशरण गुप्त के साथ ही साथ पं० श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी, राय देवी प्रसाद, 'पूर्ण', 'शंकर', 'सनेही', आदि कवियों की कविता में राष्ट्र-प्रेम की गंभीर, सरस, सरल, स्पष्ट और बेगवती वाग्धारा प्रवाहित हुई ।

द्विवेदी-युग में सामाजिक क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ । मानवता के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का प्रार्दुभाव हुआ । मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया । कबीर की माया महा ठगिनी रूपी स्त्री मानव जाति का एक उत्तम अंश बन गयी । मैथिलीशरण गुप्त की कविता में नारी के महान रूप के दर्शन हुए । 'कैकेयी', 'उर्मिला', 'सीता' और 'यशोधरा' को जो सामाजिक मूल्य गुप्त जी ने प्रदान किया, वह कभी स्वप्न में भी किसी ने नहीं सोचा था । तत्कालीन महाकवि हरिऔध ने भी अपनी 'प्रिय-प्रवास' की नायिका 'राधा' को सर्वथा नए संदर्भ में रखा ।

द्विवेदी युगीन काव्य में मानव सत्यता, सात्विक ओज, प्रवाह, जीवनोष्मा तथा बल है । मनुष्य में ईश्वर के दर्शन हुए और मानव-सेवा ही ईश्वर सेवा बन गई । इस

1- डॉ० रामसकल राय शर्मा - द्विवेदी-युग का हिन्दी काव्य - पृ० - 390

युग की कविता में ईश्वर के अवतार का महत्व कम हो गया । राम और कृष्ण निराकार ईश्वर के पद से नीचे उतर कर महापुरुष या लोकनायक बन गए । स्त्री पुरुष की उद्धारक बन गई । मानव का नया मूल्यांकन हुआ । धर्म जो मंदिर, मस्जिद और गिरिजाघर में सुरक्षित था, उसकी ऊपरी मान्यताएं कम हो गईं । जीवन में धर्म का स्थान बहुत कम हो गया । व्यक्तिगत साधना के स्थान पर सामूहिक सत्याग्रह की नींव पड़ी । व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों के सौंदर्य में ही वास्तविक आध्यात्मिकता के दर्शन किए जाने लगे । 'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'पथिक द्वारा नवीन आध्यात्मिकता की काव्यात्मक व्याख्या हुई । आत्मा परमात्मा का दार्शनिक चिन्तन, देशचिंतन में समा गया । युग के नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप उत्पन्न परिष्कृत दृष्टिकोण ने दाम्पत्य-प्रेम को नई दिशा दी, जिसको हम 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'पथिक' और 'मिलन' में देखते हैं ।

द्विवेदी-युग में मनुष्य में ही ईश्वरत्व की अवतारणा हुई है । स्वयं मैथिलीशरण गुप्त जी ने अपने काव्य में राम को एक साधारण मनुष्य के रूप में चित्रित किया है तथा हरिऔध जी ने भी अपने कृष्ण को एक साधारण मानव का ही रूप दिया है । अतः इस युग तक आते-आते आध्यात्मिकता का रूप बदल गया ।

अध्याय पांच

छायावादी काव्य में आध्यात्मिक चिंतन का स्वरूप

छायावादी काव्य में आध्यात्मिक चिन्तन का स्वरूप

आधुनिक काल में विशेषकर छायावादी काव्य-युग तथा उसके पश्चात् आध्यात्मिकता की अनुभूति को किसी प्रकार के धार्मिक प्रत्यय के आधार पर नहीं समझाया जा सकता और न उसको मध्यकाल की भक्ति-चेतना की कसौटियों पर ही कसा जा सकता है । इस काल में आध्यात्मिकता एक सहज एवं व्यापक मानवीय चेतना के रूप में ही ग्रहण की गयी जिसमें धार्मिक कट्टरता तो क्या ईश्वर के अस्तित्व का आग्रह भी आवश्यक नहीं था । एक विराट् सत्ता या चेतना की अपने भीतर और बाहर उपस्थिति और उससे एकात्म होने की अनुभूति ही आज की आध्यात्मिकता की पहचान है । यह सहज जिज्ञासा आज भी उतनी ही शक्ति के साथ बनी हुई है कि इस व्यक्त नाना रंगों, आकारों, गंधों से निर्मित जगत् के पीछे कोई निर्मात्री सत्ता अथवा स्रष्टा है । दूसरी ओर आज की आध्यात्मिक चेतना हमें इस गोचर जगत् के प्रत्येक जीव से चाहे वह मनुष्य हो, पशु-पक्षी हों, कीट-पतंगे हों बड़ी गहराई से जोड़ती है । सबमें एक ही सत्ता की उपस्थिति का बोध कराती है । इतना ही नहीं प्रकृति के नाना रूप — वनस्पतियां, दूर्वा, पत्तियां, फूल- सभी जहां एक ओर हमारे भीतर एक विचित्र ढंग से सौन्दर्य-बोध को जन्म देते हैं, वहीं दूसरी ओर हमें उनसे बहुत गहरे स्तरों पर जोड़ते भी हैं । प्रस्तुत अध्याय में इसी आधुनिक आध्यात्म-चेतना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के विविध आयामों का अध्ययन करना अपेक्षित है । छायावादी कवियों में जो आध्यात्मिकता की परिकल्पना रही होगी, उसमें बाद के प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता में महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए । छायावादी युग में भी जयशंकर प्रसाद की आध्यात्मिक दृष्टि वैसी ही नहीं थी जैसी निराला, पंत की या फिर महादेवी वर्मा की । ये चारों कवि अपने-अपने ढंग से अपने काव्यों में आध्यात्मिकता को अभिव्यक्त करते हैं ।

आरंभ से ही अपनी छायात्मक निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जाता रहा है । छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निर्गुण निराकार व्यंजनाओं से भिन्न तो है ही, सूफियों की पद्धति से भी पृथक है । उक्त दोनों परम्पराएं प्रमुखतः आध्यात्मिक कही जा सकती हैं, यद्यपि सूफी कवियों ने लौकिक संस्कृति के निर्माण में भी कम सहायता नहीं दी । जायसी आदि भारतीय सूफियों की कविता न तो उमर खैयाम-सा भाग्यवाद प्रवर्तित करती है और न दो प्राणियों के एकान्त जीवन और औपवनिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करती है; न वह अरबी सूफियों की तरह इस्लाम की छत्रछाया में ही विकसित हुई है । व्यापक भारतीय जीवन और

सौन्दर्य के अनेकानेक दृश्यों के बीच से होकर यह काव्यधारा प्रवाहित हुई है । इस प्रकार देश, काल और विचारक्रम में भेद होते हुए भी सूफी काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक कहा ज़ाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य-निराकार प्रेम की अनुभूति- सब में समान रूप से पाया जाता है ।[1]

कबीर आदि ज्ञानमार्गियों की आध्यात्मिकता तो पूर्णतः स्पष्ट है । रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और मिथ्या संसार की सुदृढ़ धारणा उनके अध्यात्म के अविचल स्तम्भ हैं । आध्यात्मिक काव्य के लिए एक अखण्ड सत्ता का स्वीकार - वह प्रेममय हो, ज्ञानमय या आनन्दमय - जितना आवश्यक था, सांसारिक सत्ता या व्यावहारिक जीवन का अस्वीकार भी उतना ही अनिवार्य हो गया था । आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी काव्य की यही विशेषता थी ।

''सम्पूर्ण अध्यात्मवादी काव्य की, जो अनेक शताब्दियों तक प्रस्तुत किया जाता रहा, एक-सी प्रेरणा-भूमि नहीं है । भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने-अपने मानसिक धरातल से जो काव्य-सृष्टि की है उसे एक ही अध्यात्मवादी तुला पर तौलना ठीक नहीं है ।''[2] डॉ० नगेन्द्र जी ने लिखा है - - छायावाद के आरंभ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है । नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परंतु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई संभावना नहीं थी । अतएव स्वभावतः उसकी छवि निकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी । भावनाएं कठोर यथार्थ से कुण्ठित होकर स्वर्णिम अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं, ठोस वास्तविकता से ठोकर खाकर कल्पना का संसार रचती थीं, कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं, स्थूल से सहम कर सूक्ष्म की उपासना करती थीं । आज के आलोचक इसे पलायन कहकर निरस्कृत करते हैं, परंतु यह वास्तव में अन्तर्मुखी भावना ही है । 'वास्तव' पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है । उसकी अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है ।''[3]

1- नन्ददुलारे बाजपेयी - आधुनिक साहित्य - पृ० - 369 - 370
2- वही, पृ० - 371
3- डॉ० नगेन्द्र - आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां - पृ० - 15 - 16

(क) अवधारणा (वैचारिक दृष्टि)

प्रारंभ से ही व्यक्ति के मन में जीवन और जगत् के प्रति कुछ विचारों की उत्पत्ति हो जाती है । धीरे-धीरे ये विचार जीवन की सामाजिकता और व्यक्ति की अंतश्चेतना का आश्रय पाते हैं । यदि विचार को सामाजिकता ने अधिक प्रभावित किया तो वह वर्हिचेतना में अपना विकास करता है और यदि विचार की धारा मन की ओर मुड़ती गई तब उसकी स्थिति आध्यात्मिक हो जाती है ।

विचारक की दृष्टि प्रायः तीन बातों पर निर्भर करती है । अपने पूर्व के विचारकों पर, सामयिक स्थितियों पर और भविष्य की सुखद कल्पना पर । वह इन तीनों कालों में आंतरिक ऐक्य स्थापित करना चाहता है । विचारक चाहता है कि उसके पूर्व जो कुछ कहा गया है वह सत्य है तो स्वीकार करे और यदि बुद्धि संगत नहीं है तो उस भ्रमजाल का निवारण करे । सामयिकता में विचारक को कुछ अधिक नहीं सोचना पड़ता । यथार्थ प्रकाशित और तीव्र होता है उसकी तीव्रता और प्रकाश में उसे केवल एक मार्ग देखना होता है । पर स्थिति उस समय गंभीर हो जाती है, जब सामयिक तथ्य उलझे हुए हों । उलझन और विविधता के बीच किसी एक राजमार्ग की स्थापना करना आसान नहीं है । और सामान्यतः प्रत्येक महान विचारक के समक्ष उसके युग की परिस्थितियां दीवार बन आती हैं । वह उनसे विमुख नहीं हो सकता यदि होता है तो विद्रोही बनता है और उनको स्वीकार करता है तो उसे अपनी मूल विचारणा में युगीन परिस्थितियों का संयोग करना ही पड़ता है । तीसरी बात है भविष्य की । प्रत्येक चिन्तक भविष्य के बारे में सोचता है और तर्क उपस्थित करता है । मार्क्स भी भविष्य की कल्पना के लोभ को नहीं छोड़ पाया था ।

''साहित्यिक भी विचारक होता है । हां वह वैज्ञानिक की तरह सिद्धांत निरुपणकर्ता नहीं हो पाता । वैज्ञानिक के निष्कर्ष प्रकृति के अध्ययन से प्रयोगशाला में निर्मित होते हैं, पर साहित्यिक के निष्कर्ष इस विशाल जगत् की प्रयोगशाला में रूप पाते हैं । साहित्यिक दार्शनिकों की तरह न तो ज्ञानात्मक तर्क को बहुत दूर तक लें चलता है और न वैज्ञानिक की तरह विश्लेषण करता है । वह तो विश्वासी होता है । उसका दर्शन कोरा दर्शन नहीं होता जीवन-दर्शन होता है । वह प्रत्येक सिद्धांत को जीवन की उपयोगिता की कसौटी पर परख कर स्वीकार करता है । जो कुछ समाज के लिए

लाभदायक है (जिसे वह ऐसा सोचता है) उसे स्वीकार कर उसी सिद्धांत का प्रचार करता है । साहित्यिक के प्रचार में सत्य का आग्रह है दुराग्रह नहीं ।''[1]

छायावादी कवि अधिक बौद्धिक खण्डन-मण्डन और तार्किक विवेचन में न पड़कर अपने तथ्य को भाव, कल्पना और साधना के सहारे आकर्षक बनाता है । अपनी नवीन स्थापनाओं के लिए उसका पथ बौद्धिकीकरण और तर्क का नहीं, कल्पना और भावुकता के कलात्मक विधान का है ।

'सुन्दर' के साथ जीवन के 'सत्य' और 'शिव' के रचनात्मक समन्वय, परिष्कृत प्रेम की स्थापना नारी के परिपूरक व्यक्तित्व के उदार उद्धार्टन, मानव और प्रकृति के बीच निकट भावात्मक संबंध तथा दैवी आदर्शों और अलौकिकता के स्थान पर मानववादी स्थापनाओं को प्रतिष्ठित करने के साथ करुणा और पीड़ा को आवश्यक जीवन-मूल्य मानकर इन कवियों ने उस नयी परिस्थिति और पाश्चात्य भौतिकतावाद की झकझोंरती आंधी में उखड़ते हुए भारतीय-जीवन चरण को आस्था की सुदृढ़ नींव और विकास का व्यवस्थित आधार दिया है । पुरानी व्यवस्था की कीलें हिल रही थीं, रूढ़ मान्यताओं की सार्थकता सन्दिग्ध हो रही थी और आदर्श तथा यथार्थ एवं सत्य तथा कल्पना के बीच दरारें पड़ गई थी । आस्था और आचरण तथा मान्यता और व्यवहार की दूरी बढ़ती जा रही थी । भूतवाद के कठोर प्रहार से आस्तिकता श्रद्धा से उतर कर संस्कारों में सिमट चली थी । अतीत और वर्तमान के बीच की दूरी जब-जब दुर्लभ हुई है, आदर्श और यथार्थ परस्पर जब-जब अपरिचित होने लगे हैं अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् के बीच जब-जब तनाव बढ़े हैं, जीवन-रागी आत्माओं ने अपनी मूल्यवर्ती संवेदनाओं, अभावपूरक स्वर्ण-कल्पनाओं और नवीन मानदृष्टियों से इस अन्तराल को भरा है । - - - - - समाज-व्यवस्था से जब-जब व्यक्ति का संतुलन ध्वस्त होने लगा है, जीवन के नये सौंदर्य - शिल्पियों ने 'सत्य' और 'शिव' को प्रेयवाद की वीणा से विमुग्ध किया है । समष्टि-समवाय के बौद्धिक तन्तु जब-जब बिखर कर उलझने लगते हैं, 'भाव-योगी' कवि मानवता के उदात्त उपादानों को अपनी आस्थाओं के ताप से पिघलाकर मानों की एक नई चाशनी उतारते हैं । इन छाया-युगीन कवियों के समक्ष कुछ, ऐसी ही विषम परिस्थिति, कुछ ऐसा ही कसकने वाला असंतुलन उपस्थित था।''[2]

1- विनय कुमार शर्मा - युग कवि पंत की काव्य - साधना - पृ० - 73 - 74

2- प्रा० क्षेम - छायावाद के गौरव चिन्ह - पृ० - 165 - 166

इस युग की सबसे बड़ी प्राणवत्ता है मानव में विश्वास और जीवन में आस्था ।

"छायावादी काव्य के लिए स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ तथा रवीन्द्र नाथ ठाकुर एवं गांधी जी ने मानों पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी । आदर्शात्मक आध्यात्मिक चिन्तनधारा का प्रभाव छायावादी काव्य पर खूब पाया जाता है ।"[1]

निराला, प्रसाद, पंत, महादेवी आदि सभी कवियों ने प्राचीन दर्शन का गहन अध्ययन किया । इसके फलस्वरूप अद्वैतदर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा बौद्ध दर्शन ने आंशिक रूप में अभिव्यक्ति पाई । पंत स्वयं 'आधुनिक कवि' की भूमिका में स्वीकार करते हैं - "दर्शन शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे राग तत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा ही बदल दी । "महादेवी ने उपनिषदों का गहरा अध्ययन किया । उपनिषदों की विचारधारा का सार-तत्व मुण्डकोपनिषद् के निम्न श्लोकांश द्वारा व्यक्त किया जा सकता है ।" "समस्त सृष्टि में एक ही परमतत्व की व्याप्ति का विचार ही, जिसे सर्वात्मवाद तथा सर्ववाद से मिलता-जुलता समझना चाहिए, छायावाद का मूल दर्शन है ।"[2]

व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी इन लोगों ने इतनी सामाजिक सार्थकता दे दी कि विष भी बहुत अंशों में अमृत बन गया । दुर्बलता, शोभा और पीड़-व्यथा मानवता के तरल आभूषण एवं आत्मा के मधुर वरदान से प्रतीत होने लगे । क्षीण और दीन-हीन मानव के प्रति उनमें 'श्रद्धा' से कम समवेदना नहीं है -

"तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लान्त ?
वेदना का यह कैसा वेग ?
आह ! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग ?
हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश ।"[3]

1- प्रो० कृष्ण देव झरी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 10
2- प्रो० कृष्ण देव झरी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 11
3- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - श्रद्धा सर्ग - पृ० - 52

पुराने देव-दैव-वाद के स्थान पर वे मानव-सत्ता पर ही अधिक बल दे रहे थे ।

''देव असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव - सम्पत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज ।''[1]

'पंत' की दृष्टि में भी जिन मानवत्व की कामना-कल्पना थी, वह देवत्व के द्वार का भिखारी, निराशा और संघर्ष से टूटा-थका मानव नहीं, अपने मानवत्व में ही मूल्यवान और सर्व-क्षम है । उस मानव के रूप-रंग, अस्थि-रक्त, आशा, आकांक्षा सभी के प्रति उनकी मधुर लालसा बंधी हुई है -

''यौवन - ज्वाला से वेष्टित तन
मृदु त्वचा, सौंदर्य प्ररोह अंग ।
x x x
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव ।''[2]

महादेवी भी अपने उसी व्यक्तित्व से देवताओं के पीड़ा पाल सकने की क्षमता को चुनौती देती हैं और अपने मरने-मिटने के अधिकार और अहं को नहीं खोना चाहतीं -

''मेरी लघुता पर आती जिस दिव्य लोक की बीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो वे पाल सकेंगे पीड़ा ?''
अथवा
क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार ।[3]

यह प्रणय और पीड़ा महादेवी जी के अधिमानस पर आध्यात्मिक रहस्य बन गए ।

1- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - श्रद्धा सर्ग - पृ० - 58
2- पंत - युगपथ - पृ० - 51
3- महादेवी - नीहार - पृ० - 37 - पृ० - 25

''भक्ति-युग'' का प्रेम परलोक मुखी एवं भगवत्परक था, उसमें मानवलयता की स्थापना नहीं थी । 'प्रसाद' का प्रेम मानव स्तर से विकसित प्रेम है । विश्व को स्वीकृति देने का भाव, जो कामायनी के शैव-दर्शन में परिपुष्ट हुआ, उसे युग के लिए नयी दृष्टि और नूतन चेतना थी । ''प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है ।''[1] कानन-कुसुम सौंदर्य की परिभाषा दर्शनीय है - किंतु प्रिय दर्शन स्वयं सौंदर्य है ।''[2]।

'झरना' की 'आदेश' कविता में निठल्ली तपस्या और प्रार्थना के स्थान पर दुःखियों पर क्षण भर करुण करने का आदेश किया गया है - 'कोरी भक्ति भला किस काम की । मानव को ही भगवान का पुण्य-मंदिर और उसके प्रति करुणा को भगवत्सेवा माना गया है ।

सभी जड़ चेतन एक ही प्राण-सत्ता से अनुप्राणित हैं । एक ही तत्व में सब मिलते हैं, यह सर्ववाद की भावना छायावाद के लगभग प्रत्येक कवि में मिलती है । प्रसाद जी कहते हैं -

''नीचे जल था, ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन ।''[3]

महादेवी जी भी उस परमतत्व से ही इस जड़-जगत् को आभासित पाती हैं -

''तेरी आभा का कण देता नभ को देता अगणित दीपक दान
दिन को कनक राशि पहनाता, विधु को चांदी सा परिधान ।''[4]

इसी प्रकार 'सौर-मण्डल' शीर्षक कविता में पंत सारे ब्रह्माण्ड को एक ही चिन्मय प्रकाश में उदय और लय होते देखते हैं -

''चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय
रवि शशि ग्रह उपग्रह तारा चय
अग-जग प्रकाशमय है निश्चय ।''[5]

1- प्रो० क्षेम - छायावाद और उसके गौरव चिन्ह - पृ० - 171
2- प्रसाद - प्रेम पथिक - पृ० - 51
3- प्रसाद - कामायनी - चिन्ता सर्ग - पृ० - 15
4- महादेवी वर्मा - महादेवी साहित्य भाग - 3 (कविता) - देखो - पृ० - 175
5- पंत - पंत रचनावली - अतिमा - आत्मनिवेदन

महाकवि निराला भी इस भाव को यों व्यक्त करते हैं -

जिस प्रकाश के बल से, सौर ब्रह्माण्ड उदभासमान देखते हो
उससे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई ।
व्यष्टि औ, समष्टि में समाया वही एक-रूप ।[1]

वास्तव में छायावाद पर वर्तमान युग के आध्यात्मिक दर्शन का ही प्रभाव पड़ा है । नवयुग के विचारकों नेवेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्त तथा वैष्णव धर्म को मिलाकर एक ऐसे अध्यात्मवाद को जन्म दिया जो देश की प्राचीन दार्शनिक परम्परा में होता हुआ भी वर्तमान युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल था । स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी - युग की इन चार प्रेरक शक्तियों के साथ व्यक्ति और समाज, समाज और राष्ट्र, राष्ट्र और विश्वात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा का समन्वय प्रस्तुत करते हुए हमारे कवियों ने अध्यात्म की नई व्याख्या प्रस्तुत की । प्राचीन दर्शन की नवीन सामाजिक और मानवतावादी व्याख्या छायावादी कवियों की अद्‌भुत विशेषता है । आधुनिक कवि संसार को सत्य और वास्तविक मानकर चले हैं । यह चराचर विश्व छायावादी कवि को सुंदर प्रतीत होता है, इसी के साथ वह अपना रागात्मक प्रसार करता है । कवि पंत को इसीलिए समस्त विश्व प्रिय है -

''प्रिय मुझे विश्व यह चराचर
तृण, तरू, पशु, पक्षी, नर सुखर
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर ।''[2]

पंत में प्रारंभ से ही प्रकृति के विराट् वैभव में अव्यक्त सत्ता के प्रति जिज्ञासा का भाव मिलता है ।

''कौन सी ऐसी परम वहज्ञ वस्तु है
भटकते हैं मनुजगण जिसके लिए ।
कौन सा ऐसा चरम सौंदर्य है,
खींचता है जो जगत् के हृदय को ।''[3]

1- निराला - निराला रचनावली - भाग-1 - पृ० - 58
2- पंत - गुंजन - पृ० - 18
3- पंत - ग्रंथि - पृ० - 40

कवि इस सुकुमार प्रश्न के साथ विश्व के प्रति गंभीर आश्चर्य चकित भावना से अव्यक्त सत्ता की खोज में लग जाता है ।

कवि पंत के विचार में विश्व के सभी पदार्थ एक ही अव्यक्त सर्वशक्तिमान सत्ता के द्वारा अवस्थित हैं । शंकर के द्वैत में विश्व माया है, झूठ नहीं । माया का तात्पर्य भ्रम से है । लेकिन कवि पंत, शंकर के इस मत को उसी रूप में नहीं मानते । वे (पंत) निराकार रूप को ही अनेक रूपों में परिवर्तित पाते हैं -

''निराकार तम मानों सहसा,
ज्योति पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत् जाल में,
घर कर नाम रूप नाना ।''[1]

अद्वैत के आधुनिक व्याख्याता स्वामी विवेकानन्द जी से पंत जी प्रभावित हैं । स्वामी जी के मत में अद्वैत ही दर्शन का चरम रूप है ।

'चिदम्बरा' में पंत जी ने स्वयं कहा है - ''इस प्रकार अपनी अनेक रचनाओं में मैंने धार्मिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक विचारों के आवर्तों से जीवनोपयोगी सिद्धांतों को उबार कर पाठकों के मनः क्षितिज में नवीन आध्यात्मिक शिखरों का सौंदर्य चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जो आनेवाली मानवता की ऊंचाई, गहराई एवं व्यापकता का द्योतक है । मैंने अपना जीवन-दर्शन युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास की संभावनाओं को सम्मुख रखकर अनेक महान ग्रंथों तथा महापुरुषों से प्रेरणा ग्रहण कर, उनके उपयोगी तत्वों को आत्मसात कर, लोक कल्याण एवं भू-मंगल की भावना के उद्देश्य से, अपने काव्य-पट में गुम्फित करने का साहस किया है । ''[2]

पदार्थ को सब कुछ मानने वाले मार्क्स ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे प्राकृतिक द्वन्द्व को लेकर चलते हैं ।

कवि पंत को मार्क्स की लोक-भावना पसंद है पर साथ ही गांधी जी की अध्यात्मपरक विचारधारा भी ।

1- विनय कुमार शर्मा - युगकवि पंत की काव्य - साधना - पृ० - 80
2- पंत - चिदम्बरा - पृ० - 24 - 25

गांधी जी नेविश्व को भौतिक मूल्यों से उच्च आध्यात्मिक मूल्यों को समझ ओर प्रेरित किया । इसके साथ मार्क्स का व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नहीं था - पंत स्वीकार करते हैं कि मार्क्स की चेतना ने इस जीवन को नवीन प्रकाश दिया ।

''कवि केवल आध्यात्मिक उन्नति को जीवन कल्याण के लिए उपयुक्त समझता किंतु उसकी आवश्यकता भौतिक उन्नति से अधिक है, ऐसा कवि का वि है।[1]

कवि जीवन के उत्थान के लिए सामाजिकता का विरोध नहीं करता, आंतरिक विकास के अभाव में सामाजिकता दम्भ है, द्रोह है, और केवल भ्रम है । व्यक्ति की घोर एकान्तिक साधनाओं का विरोध करता है । पंत जी ने भी इसे स्वी पर वे मार्क्स के घोर व्यक्तिवादी भौतिकता को न अपना सके । पंत के सत्य का मू व्यक्ति-विश्व और स्थूल-सूक्ष्म से परे है ।

> ''भौतिकता, आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल ।
> व्यक्ति-विश्व से, स्थूल सूक्ष्म से, परे सत्य के मूल ।''[2]

अरविंद की भाषा में कवि ब्रह्म, आत्मा, जगत् को एक मूल शक्ति के रूप में मानता मार्क्स का विरोध कवि इसलिए करता है कि वह मन के परे भी कुछ है, इसे मानता ।

कवि ने उन व्यक्तियों को खूब बुरा-भला कहा है, जो केवल भौतिक उन्नी ही जीवन का ध्येय मानते हैं । मार्क्स की विचारधारा का प्रतिवाद करते हुए क व्यक्ति की आत्मसत्ता को स्वीकार किया है और आत्मसत्ता को ही जीवन की उन्नी प्रमुख कारण माना है -

> ''आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता ?
> प्रेमशक्ति से चिर निरस्त्र हो जाएगी पाश्वता ?''[3]

1- प्रो० विनय कुमार शर्मा - युगकवि पंत की काव्य-साधना - पृ० - 89

2- सुमित्रानन्दन पंत - युगवाणी - संकीर्ण भौतिक वादियों के प्रति - पृ० - 42

3- सुमित्रानन्दन पंत - युगवाणी - पृ० - 13

युगवाणी की यह विचारधारा आगे चलकर और भी मजबूत होती गयी और उसमें साथ-ही-साथ नैतिक बल की प्रधानता होती गई । पंत जी के समस्त काव्य पर आध्यात्मिक चेतना का हल्का आवरण मिलता है जो स्वर्ण काव्य में आकर अधिक सुन्दर और स्पष्ट हो गया है ।

आनन्दवादी 'प्रसाद' तो इसी विश्व में सौंदर्य, सत्य और आनन्द आदि का भण्डार प्राप्त करते हैं । यह जगत् चिति का स्वरूप है अतः सत्य और सुन्दर है -

''अपने सुख दुख से पुलकित यह मूर्त विश्व चराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत् चिर सुन्दर ।''[1]

'प्रेम-पथिक' में प्रसाद जी ने कहा था -

''इस पथ का लक्ष्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना ।
किंतु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ।।''[2]

विश्वात्मा और विश्व शरीर की सत्यता की अनुभूति विचारों की प्रत्यग्रता की घोषणा थी-

''स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौंदर्य-सुधा सागर के कण ।
ये सब बिखरे हैं जग में विश्वात्मा ही सुन्दरतम है !
न्योछावर कर दो उस पर हम, मन, जीवन, सर्वस्व नहीं
एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर ।''[3]

प्रसाद के मनु भी विराट् के प्रति जिज्ञासा प्रकट करते हैं -

''विश्वदेव सविता या पूषा, सोम, मारुत चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं, किसके शासन में अम्लान ?''[4]

अथवा - सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहां ?
सदा मौन हो प्रवचन करते, जिसका, वह अस्तित्व कहां ?''[5]

1- प्रो० कृष्णदेव झारी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 14
2- प्रसाद - 'प्रेम पथिक' - आरम्भ पृ०
3- प्रसाद - 'प्रेम पथिक' - पृ० - 20
4- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 25
5- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 26

वह कौन है ? उसका अस्तित्व कहां है ? यह जानने की जिज्ञासा छायावादी कवियों में समान रूप से पायी जाती है । और सबों ने किसी-न-किसी रूप में उसे स्वीकारा है ।

'निराला' यद्यपि मायावाद की ओर झुके हैं और संसार माया है, नश्वर है, इस बात की उद्घोषण भी करते दिखाई देते हैं, किंतु फिर भी उस हासाश्रुमय जगत् के व्यवहारिक अस्तित्व को वे सदा मानते रहे हैं "माया है, सब माया है" - कहने वाला कवि जीव की महानता का ही ज्ञान करना चाहता है -

"जागो फिर एक बार !
पशु नहीं, वीर तुम, समर शूर, क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे आज तुम राजकुंवर ! समर - सरताज
पर, क्या है, सब माया है - माया है ।
मुक्त हो सदा ही तुम, बाधा-विहीन-बन्ध द्वन्द्व ज्यों,
डूबे आनंद में सच्चिदानंद रूप ।।"[1]

इस संसार को ही निराला भी स्वर्ग बनाना चाहते हैं ।

"निराला' ने भारतीय दर्शन का बहुत गहराई से अध्ययन किया है । अपने युवाकाल में ही उन्हें विवेकानंद की रचनाओं का काव्यानुवाद करना पड़ा था, जिसके कारण उनमें और भी गहराई से भारतीय वेदान्त दर्शन के तत्व सन्निविष्ट हो गए हैं । 'निराला' के काव्य में उदात्त तत्वों की सतत् उपस्थिति का अहसास किया जा सकता है, उन्होंने जहां एक ओर उपनिषदों में प्रतिष्ठिता अभेद तत्व को अपनी कविता में रूपायित किया है, जैसे - 'तुम और मैं' । वहीं 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' में भारतीय संस्कृति के व्यापकतर उदात्त तत्वों का समावेश किया है - "उपनिषद् एक ऐसी व्यापक सत्ता की प्रतिष्ठा करते हैं, जिसमें सृष्टि के सारे विरोध और नानात्व दूर हो जाते हैं, 'मैं' और 'तुम' का भेद मिट जाता है । अह्म ब्रह्मास्मि और तत्वमसि उपनिषदों की ही स्थापनाएं हैं । केवल ब्रह्म सत्य है, जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है और जीव भी ब्रह्म ही हैं । ये वेदान्त के प्रमुख पक्ष हैं । निश्चय ही यह औपनिषदिक वेदान्त भारतीय मनीषा और चिंतना की महान उपलब्धि है ।"[2] इस अद्वैत की प्रतिष्ठा 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में निराला ने बहुत ही काव्यमय स्तर पर की

1- निराला - अपरा - पृ० - 6 - 19
2- नंद दुलारे बाजपेयी - निराला - पृ० - 129

है । इस कविता में आत्मतत्व और परमार्थ तत्व के अंतः संबंध का चिंतन बड़े ही मनोरम ढंग से किया गया है ।

अपनी रचना 'पंचवटी-प्रसंग' में कवि राम के माध्यम से कहता है कि भक्ति, योग, कर्म और ज्ञान सब एक ही हैं । सत्य एक ही है । सारा द्वैत-भाव एक प्रकार का भ्रम है । स्वामी विवेकानंद के वेदान्त-चिंतन से जुड़ते हुए भी 'निराला' की दृष्टि उससे बंधी नहीं है । वे तो एक अत्यन्त उन्मुक्त दृष्टि का विस्तार अपने भीतर रखते हैं -

''प्राण संघात के सिंधु के तीर में -
गिनता रहूंगा न कितने तरंगें
धीर मैं ज्यों समीकरण करुंगा संतरण ।''[1]

'तुम और में' शीर्षक कविता में 'निराला' ने परमात्मा और आत्मा के अंतःसंबंध का जो सारगर्भित मनोरम चित्र खींचा है, उसका एक अंश निम्न पंक्तियों में द्रष्ट्व्य है -

''तुम शिव हो, मैं हूं शक्ति,
तुम रघुकुल - गौरव रामचंद्र,
मैं सीता अचला भक्ति ।
तुम आशा के मधुमास,
और मैं पिक-कल-कूजन-तान,
तुम मदन पंच-शरस्त्र
और मैं हूं मुग्धा अनजान ।
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घन-पटल-स्याम,
मैं तड़ित - तूलिका रचना ।''[2]

'निराला' की आध्यात्मिकता के कई स्तर हैं । सबसे गहरा और जड़ी - भूत स्तर एक सशक्त अद्वैतवादी दर्शन का है जो प्रायः उनके संपूर्ण काव्य-संसार को अलोकित करता रहता है ।

1- निराला - गीतिका - गीत संख्या - 92
2- निराला - 'तुम और मैं' (अपरा) - पृ० - 59

महादेवी वर्मा पर बौद्धों के दुखवाद का बहुत प्रभाव रहा है । वे जीवन और जगत् की असारता और क्षणभंगुरता का स्थान-स्थान पर चित्रण करती हैं । पुष्प मुरझाने के लिए ही विकसित होते हैं, चन्द्रमा छिपने के लिए ही उदय होता है, यहां सभी अस्थिर हैं -

> ''विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चंद्र;
> शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मंद;
> यहां किसका अनंत यौवन ?''[1]

जीवन की इस अचिरता को देख कर ही महादेवी जी प्रश्न कर उठती हैं -

> ''दिया क्यों जीवन का वरदान ?
> सिकता में अंकित रेखा - सा -
> वात-विकंपित - दीप - शिखा - सा -
> काल-कपोलों पर अश्रु - सा - ढल जाता है म्लान !''[2]

परंतु इस क्षणिक जीवन के महत्व को वे समझा जाती हैं । पुष्प क्षण भर जीवन ही तो दिगांत को सुवासित कर देता है, क्षण भर जलकर ही दीपक आलोक फैला देता है । इस क्षणिक जीवन का भी महत्व है, जीवन की इस नश्वरता में भी सौ-सौ वरदान छिपे हैं । जीवन की सार्थकता इसी में है कि इस क्षणिक जीवन से पुष्प की तरह जग के आंगन को सुगंधित बना दिया जाए -

> ''स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार, दीप करता आलोक प्रसार ।
> जलाकर मृतपिण्डों में प्राण, बीज करता असंख्य निर्माण;
> सृष्टि का है यह अमिट विधान, एक मिटने में सौ वरदान ।''[3]

मनुष्य देह नहीं देही है, असीम की एक सीमित माप है, किंतु साधारण प्राणी अपने प्राणत्व को भूलकर देह को ही सब कुछ समझने लगता है । महादेवी का कवि इस मिथ्या से नहीं उलझा, क्योंकि उन्होंने शरीर और चेतन, देह और देही के शाश्वत संबंध को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

---

1- प्रो० कृष्ण देव झारी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 15
2- प्रो० कृष्णदेव झारी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 15
3- प्रो० कृष्णदेव झारी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 16

"बन रहे आरध्य चिन्मय मृण्मयी अनुरागिनी मैं,
रजकणों से खेलती किस विरज विधु की चांदनी मैं ।"[1]

वस्तुतः इस मृण्मय शरीर में जो अविनाशी चेतन के रूप में व्याप्त है, वह अराधनीय है, वह किसी एक देह में, एक देश में तथा एक काल में सीमित नहीं है, वह तो असीम होकर चारों ओर हमें रिझा-सिखा रहा है । अपने में उसका आभास पाकर कवि क्षणभर को मिलन-सुख से पुलकित हो उठता है और जब वह अपने को भूलकर, उसे कहीं बाहर से ग्रहण करना चाहता है तब उसकी असीमता एवं प्रत्यक्षता के प्रति विरह हो उठता है । महादेवी जी का यह विरह मिलन है, पार्थिव जीवन में अपार्थिव के आभास का संकेत है, साकारता में निराकारता की प्रतिष्ठा -,

"विश्व में वह कौन सीमाहीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला,
क्या रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो ?"[2]

विश्व जीवन की आध्यात्मिक विपन्नता के बीच में भी वे विश्वास के साथ कहती है -

"जग अपना भाता है,
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है ।"

अथवा - चिर बन्धु-पथ आप, पग चाप संलाप
दूरी क्षितिज की परिधि ही रही नाप,
हर पल मुझे छांह हर सांस आवास
सबका चरण लिख रहे स्नेह इतिहास ।"[3]

गति का यह निश्चित क्रम और गन्तव्य के प्रति यह अटल धारणा उनके पथ को प्रशस्त करने में सफल है, इसमें कोई दो राय नहीं । सम्भवतः इसीलिए उनकी काव्य-सृष्टि में मानवता की चरम साधना, विकास की सीमातीत भावना का वह स्वर बहुत ही स्पष्ट और सजीव है जो युगों से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एक मात्र साधन रहा है।

छायावाद की समस्त भावाभिव्यक्ति के मूल में यही आध्यात्मिक भावना परिलक्षित होती है । छायावादी कवि प्रकृति के कण-कण में इसी के कारण एक सचेतन सत्ता का आभास पाता है ।

1- प्रो० गंगा प्रसाद पाण्डे - महीयसी महादेवी - पृ० - 215
2- प्रो० गंगा प्रसाद पाण्डे - महीयसी महादेवी - पृ० - 215

(ख) **मानवीय अंतश्चेतना का प्रभाव अर्थात काव्य की अंतर्यात्रा**

छायावादी कवियों ने प्रकृति को अपनी सहचरी तो बनाया ही साथ ही प्रकृति में भी अपने को स्थापित किया और प्रकृति के कार्यकलापों में मानवीय गुणों का अवलोकन किया है :-

''तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लगायी मधु के वन में ज्वाल,
खड़े किंशुक अनार, कचनार
लालसा की जौ से उठ लाल ।''[1]

'आशा सर्ग' में प्रसाद जी ने मनु के लिए अरुणोदय का उपमान प्रस्तुत किया है जो अपनी मनोहरता, सकान्तता और सुन्दरता में बहुत ही सजीव है -

''उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत ।''[2]

मानवीकरण का एक बहुत ही सुन्दर रूप हमें निम्न पंक्तियों में देखने को मिलता है -

''किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी सी साँस
यों समीर मिस हॉफ रही सी
चली जा रही किसके पास ।''3

श्रृद्धा के रूप वर्णन में आये प्रसाद के अप्रस्तुत भी प्रकृति से परम्परागत रूप में नहीं लिए गए हैं । उपयुक्त विशेषणों के प्रयोग से अप्रस्तुतों की शक्ति और आकर्षकता और भी बढ़ गई है । यह ताजापन निम्नांकित पंक्तियों में देखने योग्य है -

---

1- सुमित्रानंदन पंत - गुंजन - पृ० - 48
2- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - आशा सर्ग - पृ० - 441
3- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - आशा सर्ग - पृ० - 449

"और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इंद्रजाल अभिराम,
कुसुम वैभव में लता समान
चंद्रिका से लिपटा घनश्याम ।
हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।"[1]

कुसुम वैभव में लता चंद्रिका से लिपटे घनश्याम मधुवन में क्रीड़ित सौरभ संयुक्त. शिशु साल, इन्द्रनील मणि के श्रृंग को फोड़कर माधवी रजनी में धधकती ज्वालामुखी और मोर की तारक द्युति की गोद में मदभरी सलज्ज उठने वाली माधुरी - भरी मोद-मयी उषा की पहली कान्त लेखा में भाषानुभूति का जीवित संचरण तो है ही, सौंदर्य याचिका दृष्टि की नूतनता भी है । निम्नांकित पंक्तियों में मानवीकरण का एक सजीव चित्र बहुत ही लुभावना है -

"केतकी गर्भ सा पीला मुँह
आँखों में आलसा भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी
पित लतिका सी लिये देह ।"[2]

शिला अत्यन्त साधारण और सहज-दृष्ट वस्तु है परन्तु 'महादेवी' जी ने साँसों में उसका भार भरकर उसे अधिक अर्थवती बना दिया है -

"ज्वाल पारावार सी है
श्रृंखला पतवार सी है
बिखरती उर की तरी में
आज तो हर साँस बनती,
शत शिला के भार सी है ।"3

1- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - श्रद्धा सर्ग पृ० - 456
2- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - ईर्ष्या सर्ग - पृ० - 552
3- महादेवी वर्मा - दीपशिखा - आज दे वरदान - पृ० - 423

फिर उन्होंने प्यार की उपमा बादल से दी है, जिसमें व्यथा की श्यामलता आँसू की सजलता, पीर की बिजली, आवेग की घुमड़न, जीवन की अस्थिरता किंतु परहित-साधना में स्थित आदि सभी संकेत विद्यमान हैं -

''तड़ित है उपहार तेरा
बादलों सा प्यार तेरा ।''[1]

''आँसू का तन, विद्युत का मन,
प्राणों में वरदानों का प्रण,
धीर पदों से छोड़ चले घर,
दुःख पाथेय संभाले ।''[2]

छायावादी काव्यधारा के सादृश्य योजना की विशेषता तब अपनी चरम सीमा पर दिखलायी पड़ती है, जब ये कवि मानसिक प्रत्ययों और भाव-वृत्तियों का चित्रण करने लगते हैं । प्रसाद ने 'कामायनी' में जहां लज्जा, वासना, काम आदि का वर्णन किया है, वहां यह सादृश्य योजना अपनी चरम सीमा को पहुंच गयी है ।

'लज्जा' का निम्न पंक्तियों में जो चित्रण हुआ है उसमें आये अप्रस्तुतों और उनके व्यापार द्वारा अमूर्त लज्जा को जो मूर्त रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया है, वह लज्जा-व्यापार के साथ एकलय और एकतान है । लज्जा की दशा से अपने को छिपाने, लजाने के हाव एवं भाव में सौंदर्य के और अधिक आकर्षक एवं उन्मादकारी हो जाने, क्षण-प्रतिक्षण मुखाकृति के रंग बदलने, लज्जागत अनुभावों के प्रदर्शन, आँसू आदि सात्विकों के साथ समस्त चेतना के छा जाने, शीश झुक जाने, रोमांच हो आने और इन सबसे ऊपर एक प्रकार की सुखद लगने वाली एवं समस्त अस्तित्व को रोमांचित कर देने वाली अनुभूति-संवेदना का आच्छादन अत्यंत सांकेतिकता और अर्थवत्ता के साथ अंकित है । प्रकृति के क्रोड से चुने हुए ये उपादान लज्जागत लघुता, सुकुमारता, कोमलता, पुलकमयता एवं द्रावकता के कितने अनुकूल हैं -

---

1- महादेवी वर्मा - दीपशिखा - आज दे वरदान - पृ० - 424
2- महादेवी वर्मा - दीपशिखा - कहां से आये बादल काले - पृ० - 387

''वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए ।
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए ।''[1]

लज्जा का व्यापार सादृश्य केवल एक पंक्ति में ही दर्शनीय है, तरल हँसी स्मित बन जाती है -

''स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों में भरकर बांकपना,
प्रत्यक्ष देखती हूं सब जो
वह बनता जाता है सपना ।''[2]

इन वृत्तियों के चित्रण में दो प्रकार की बातें दिखायी पड़ती हैं । कभी 'प्रसाद' जी इनकी आंतरिक प्रेरणाओं का सचित्र निरूपण करने में उन्हें साकारता के उपादानों में रूपान्तरित करते हैं और कभी इनकी बहिरंग प्रवृत्तियों को रूपायित करने के लिए समतुल्य व्यापार उपस्थित करते हैं ।

'निराला' जी ने अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'सरोज स्मृति' में सरोज के सज्ञान होने का जो वर्णन किया है, उसमें नियोजित साम्य, वय के विकास को अधिक चाक्षुष बनाने के लिए गमन-क्रिया की प्रत्यक्षता का सहारा लेते हैं और अन्त में तारुण्य की शोभा की सूक्ष्मता और उसके प्रति पावन भावों की प्रतिक्रिया को सम्भव बनाने के लिए, सूक्ष्म 'प्रस्तुत' के लिए सूक्ष्म 'अप्रस्तुत' की योजना करते हैं -

''धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज तारुण्य सुघर
आई, लावण्य - भार थर - थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव वीणा पर ।''

1- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - लज्जा सर्ग - पृ० - 507
2- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - लज्जा सर्ग - पृ० - 508

'निराला' जी की मूल-दृष्टि दर्शनोमुखी है, अतः जब वे अधिक भावुक होते हैं और अनुभूति वस्तु के सूक्ष्म-स्तरों को स्पर्श करने लगती हैं तो वे 'प्रसाद' को अरूप 'अप्रस्तुतों में ही व्यंजित करने की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं । 'निराला' जी की कविताओं में प्रकृति से आये नवीन अप्रस्तुतों की संख्या अधिक नहीं है । वस्तुतः वे प्रकृति से प्रेरणा पाने वाले कवि नहीं हैं । प्रकृति से प्रेरित होने से यहां मेरा अभिप्राय प्रकृति पर मुग्ध या प्रभावित होकर उसी को विषय बनाकर कविता करने से है । 'यमुना के प्रति' रचना में यमुना की प्राकृतिक शोभा के स्थान पर उसके पौराणिक अथवा सांस्कृतिक अनुषंग का कल्पना-गत रूप ही कवि का वक्तव्य है । 'जूही की कली' में सुहाग-मोती नवोढ़ा का रूप प्रमुख है । इसलिए 'निराला' जी की सादृश्य-योजना का श्रेष्ठतम रूप सूक्ष्म प्रत्ययों पर आधृत समानता की दशा में ही प्राप्त होता है ।''[1]

संध्या-सुन्दरी' रचना में संध्या - काल के सूक्ष्म निरीक्षण की रेखाएं अवश्य उभारी गयी हैं, पर नारी-रूप के रंगों से वे डूब सी गयी हैं -

> ''अलसता की सी लता
> किंतु कोमलता की वह कली,
> सखी-नीरवता के कंधे पर डाले बांह,
> छांह-सी अम्बर-पथ से चली ।''[2]

'परिमल' के बाद 'निराला' जी की वैचारिकता बढ़ती ही गई है और प्रकृति की ओर से वे मानव के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक द्वन्द्वों की ओर बढ़ते गए हैं । 'पंत' जी ने संध्या को एक सुन्दरी का रूप दिया है । छायावादी कवि जब प्रकृति को मानवीकृत करते हैं तो अधिकांशतः वे रूपक और स्पष्ट उपमा का निर्वाह छोड़कर 'रूपकातिशयोक्ति' पद्धति पर 'प्रस्तुत' पक्ष के स्थान पर केवल 'अप्रस्तुत' पक्ष को ही उभारते चलते हैं ।[3] 'निराला' जी में 'पंत' और 'प्रसाद' जी की अपेक्षा दोनों पक्षों पर प्रकाश डालते चलने की प्रवृत्ति अधिक है । यह विशेषता 'निराला' जी की 'संध्या-सुन्दरी' और 'पंत' जी की 'संध्या' की तुलना से स्पष्ट हो जाती है -

---

1- प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिंह्न - पृ० - 204
2- सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' - परिमल - संध्या सुन्दरी - पृ० - 109-110
3- प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिंह्न - पृ० - 204

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निजी छाया-छवि में आप
सुनहलता फैला केश कलाप
मधुर, मंथर, मृदु मौन ।''[1]

अथवा

''ग्रीव तिर्यक, चम्पक द्युति गात
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात
देह छवि छाया में दिन रात
कहां रहती तुम कौन ?''[2]

छायावादी कवियों ने मानवीकरण का सबसे अधिक उपयोग किया है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों एवं प्रत्ययों के लिए उन्होंने मानव रूपों, मानव धर्मों एवं मानव व्यापारों का सहारा लिया है । 'पंत' जी की निम्न पंक्तियों में जहां अज्ञान में ज्ञान की अभियांचा प्रकट की गयी है, वहां वेणी में पुष्प अथवा चमकीले डाक-सितारों का चित्र उपस्थित कर दिया गया है । छायावादी काव्य-धारा के अंतर्गत आये साम्य-विधान में यह मानवीय तत्वों का उभार अत्यंत सहायक, स्पष्टता-वर्धक एवं सौंदर्यकारक हुआ है -

''बांधो, छवि के नव बन्धन बांधा।
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम में स्मिति अधरों में
जीवन की तमिस्र - वेणी में,
निज प्रकाश - कण बांधो ।''3

इसी प्रकार विश्व में नव-यौवन के अवतरण की कामना कोयल, कुंज, मदिरा और प्याली के माध्यम से व्यक्त हुई है -

---

1- सुमित्रा नंदन पंत - संध्या - पृ० - 72
2- पंत - 'संध्या' (रश्मिबंध) - पृ० - 73
3- पंत - युगान्त - पृ० - 31 - 32

'मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर-मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली ।''

यह मानवीय तत्व 'निराला' की 'अणिमा' पुस्तक की निम्नस्थ पंक्तियों में बादल को सपने से जोड़कर अधिक संवेदनीय बना देता है -

''बादल छाये
ये मेरे अपने सपने
आंखों से निकल मडलाये ।''[2]

'प्रसाद' जी की निम्न पंक्तियों में मानवीकरण का बहुत ही सजीव वर्णन हुआ है -

''हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबांही डाली
फूलों का चुम्बन छिड़ती
मधुपों की तान निराली ।

'महादेवी' जी का सम्पूर्ण रहस्यमय विरहकाव्य ही मानवी प्रणय की संवेदना से रंग लेकर सचित्र हुआ है -

''नित सुनहली सांझ के पद से लिपट आता अंधेरा;
पुलक-पंखी विरह पर उड़ आ रहा है मिलन मेरा;
कौन जाने है बसा उस पार
तम या रागमय दिन ।

1- पंत - युगान्त - पृ० - 2
2- निराला - अणिमा - पृ० - 2
3- प्रसाद - आंसू - पृ० - 311
4- महादेवी वर्मा -सांध्यगीत - क्यों मुझे प्रिय हो न बंधन - पृ० - 361

मानवीकरण का एक अन्य दृश्य -

''मैं नीर भरी दुःख की बदली
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा;
क्रन्दन में आहत विश्व हंसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली
मेरा पग-पग संगीत भरा
श्वासों से स्वप्न पराग झरा
नभ के नव रंग बुनते दुकूल
छाया में मलय बयार पली ।

'निराला' जी की 'तुम और मैं' कविता में ऊपरी विरोध का आभास है और भीतर से ऐक्य ही परिलक्ष्य है । भाव-भाषा, विटप-छाया, प्राण-काया और ब्रह्म-माया का संबंध भेद नहीं; अभेद के लिए लाया गया है -

''तुम मृदु मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन - वन घन विटप और मैं सुख- शीतल-तल शाखा,
तुम प्राण और मैं काया, तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म मैं मनोहिनी माया ।'

1- महादेवी वर्मा - संध्यागीत - मैं नीर भरी दुःख की बदली - पृ० - 229
2- निराला - अपरा - तुम और मैं - पृ० - 58

छायावादी काव्य प्राकृतिक दिव्यता को आध्यात्मिकता की कोटि तक ले जाता है

नई छायावादी काव्यधारा का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है, किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा आर्थिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है । इसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं । आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुसार स्थापना करता है जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्ति-काव्य में व्यक्त हुआ है, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हुई है । अन्तर है तो बस इतना ही कि जहां पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में जीवन के लौकिक और व्यवहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गयी थी, वहां छायावादी काव्य प्राकृतिक सौंदर्य और सामाजिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है । छायावाद मानव जीवन सौंदर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव चरित्र और दृश्य जगत् अपने प्रकृत रूप में अपेक्षित थे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता को पूरा महत्व दिया गया है । इस संबंध में नंददुलारे बाजपेयी जी ने लिखा है - "आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत आध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता । नवीन जीवन-पद्धति में ही उसने आत्म सौन्दर्य की झलक देखी है । परम्परित आध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है - एक चेतन केन्द्र से नाना चेतना केन्द्रों की सृष्टि करता है; किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन-सत्ता से अनुप्रमाणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है । उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर - दृश्य से भाव की ओर होती है । और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है ।[1]

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है । कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राणतत्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है । यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव

1- नन्ददुलारे बाजपेयी - आधुनिक साहित्य - पृ० - 374-375

चित्राचार अथवा उद्दीप्त वातावरण न मान कर ऐसी चेतन-सत्ता माना गया है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है ।[1]

छायावादी काव्य में प्रकृति का व्यापक प्रसार है । प्रकृति इस काव्यधारा में अनेक मधुर-मोहक रूपों में बिखरी हुई दिखलायी पड़ती है । कहीं वह स्वतंत्र शोधा का प्रकाश करती दिखलायी देती है, तो कहीं मानव सुख-दुःख के रंगों में अनुरंजित होकर मानव सापेक्षता में अपनी सहधर्मिणी लगती है । कहीं वह मानव-भाव-व्यापार के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती दिखलायी पड़ती है तो कहीं अपने नाना रमणीय उपकरणों से वह मानव के सौन्दर्य का प्रतिमान लगने लगती है । पंत जी ने प्रारंभ में यत्र-तत्र प्रकृति के प्रति रहस्यात्मक दृष्टि को भी व्यक्त किया है, पर आगे चल कर पंत के लिए भी प्रकृति की शोभा-भूमि मानव-संतोष की भूमि ही बनती गयी है । महादेवी जी के शब्दों में काव्य-प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ है ।[2]

प्रसाद जी, जो कि छायावाद काव्य के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, अपनी आरम्भिक रचनाओं में प्रकृति की रमणीयता से आकर्षित होकर उसके सौन्दर्य प्रभावों को व्यक्त करते हैं । उनका आरम्भिक काव्य प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य की भूमि पर अधिष्ठित हैं 'झरना' और 'आंसू' में यह सौन्दर्य - सत्ता क्रमशः विकसित होकर कवि की भावना में और भी गहराई लाती है । 'लहर' के गीतों में मानव जीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन - तत्व के समन्वय का प्रयत्न है, जिसमें की आध्यात्मिक भाव देखें जा सकते हैं । कामायनी ' काव्य में जीवन की अनुभूतियां अपनी व्यापकता में प्रदर्शित हैं और उन सबका समाहार कवि के जीवन - दर्शन, आनन्द वाद में किया गया है ।

छायावादी काव्य में आध्यात्मिक चेतना की यह अनुभूति किसी-न-किसी रूप में सभी कवियों में पायी जाती है । संसार को एक विचित्र आश्चर्य के रूप में अनुभव करना छायावादी रहस्य - चेतना की एक सामान्य विशिष्टता है । जयशंकर - प्रसाद, जो छायावादी कवियों में अग्रगण्य हैं, इस रहस्य-भावना को प्रकृति के माध्यम से बार-बार विभिन्न संदर्भों में अभिव्यक्त करते हैं । इनके प्रारंभिक संकलन 'प्रेमपथिक', 'कानन कुसुम' और 'झरना' में ऐसी अनेक कविताएं हैं जो प्रकृति के इस रहस्यानुभूति

1- डॉ० नगेन्द्र - आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां - पृ० - 17

2- क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 6

से ओत-प्रोत हैं । इसके पश्चात् 'लहर', 'कामायनी', और 'आंसू' में यह अनुभूति और भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है । 'लहर' की पहली ही कविता की अन्तिम पंक्तियां इस रहस्यानुभूति को व्यंजित करती हैं -

"तुम हो कौन और मैं क्या हूं ?
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस जलधि रहे चिर-चुंबित-
मेरे क्षितिज ! उदार बनो !"

अपने हृदय के सागर पर किसी अनन्त आकाश की छाया का निरंतर अनुभव जो इन पंक्तियों में संकेतित है, प्रसाद जी की एक सशक्त भावना प्रतीत होती है ।

बार-बार कवि को इस व्यक्त जगत् में किसी अव्यक्त सत्ता की झलक किसी-न-किसी रूप में कौंधती दिखलायी पड़ती है । अपने भीतर भी उस विराट् सत्ता की झनकार वह किसी-न-किसी रूप में सुनता ही रहता है । पहले तो उसके भीतर इस अनुगूंज को लेकर एक आश्चर्य का भाव जगता है, किन्तु आगे चल कर यह आश्चर्य एक विचित्र तादाम्य की अनुभूति बनता चला जाता है । कहीं वह उस विराट् सत्ता के सौन्दर्य से आह्लादित और विभोर होता है, कहीं वह उसके साथ एक विचित्र रागात्मक संस्पर्श का अनुभव करता है और कहीं उसे अपने चारों ओर एक महाकरुणा की अजस्र वर्षा होते हुए दिखती है । कभी-कभी उसे लगता है कि उसके भीतर सहसा कोई बसन्त आने लगता है और वह चकित-विस्मित होकर अपने से ही पूछने लगता है -

स्वयं चकित-सा समझ न पाता
कहां छुपाता ऐसा मधुर ।[1]

कहीं उसे अपने चारों ओर गन्ध का झोंका अनुभव होता है । कहीं कोई बासंती संगीत उसके कानों में गूंजने लगता है -

कोमल कुसुमों का मधुर रास
कितने लघु-लघु कुंडमल अधीर,
गिरते बन शिशिर-सुगंध-नीर
हो रहा विश्व सुख पुलक गात ।[2]

1- जयशंकर प्रसाद - लहर - पृ० - 18
2- जयशंकर प्रसाद - लहर - पृ० - 25

यह गंध, यह संगीत, यह बसंत - ये सब-के-सब उसी अव्यक्त सत्ता के व्यक्त रूप हैं । कवि प्रसाद मूलतः सौन्दर्य से अभिभूत रहने वाले कवि हैं, किन्तु उनकी सौन्दर्यानुभूति उन्हें बार-बार उस मूल सत्ता तक ले जाती है, जो स्वयं निस्सीम सौन्दर्य को अपने में पिरोये हुए है । उस सौन्दर्य के प्रति कवि की भावना अनेक रूपों में व्यक्त होती है -

शशि-सी वह सुन्दर-रूप विभा-
चाहे न मुझे दिखलाना ।
उसकी निर्मल शीतल छाया
हिमकण को बिखरा जाना ।[1]

प्रसाद ने 'कामायनी' में प्रलय के बाद चिन्ता में लीन मनु के मुंह से भी कहलवाया है कि -

''इस सृष्टि का कोई ऐसा सूत्रधार है जो अत्यन्त सुन्दर है । ईश्वर को उसके सुन्दरतम रूप में ही कवि बार-बार देखता और अनुभव करता है ।''

प्रसाद की आध्यात्मिक चिन्ता अधिक विशद रूप में 'कामायनी' में ही अभिव्यक्त होती है । जब मनु देखते हैं कि अपने को अमर समझनेवाले देवता सहसा प्रलयंकारी जलप्रवाह में विलीन हो गये, उनकी अमरता का सारा दर्प धराशायी हो गया, अकेला मनु उस देव-सृष्टि के महाध्वंस के उपरांत बचा रहता है तो वह अपने से ही जीवन और मृत्यु के संबंधों का विवेचन करने लगता है । उसे लगने लगता है कि जैसे मृत्यु स्थायी सत्य है और जीवन काल की जलधि में मृत्यु के द्वारा पैदा की गयी हलचल की भांति है -

मृत्यु अरी चिर-निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती,
काल जलधि की सी हलचल ।
\+ + +

1- जयशंकर प्रसाद - लहर - पृ० - 39

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त, नील घन-माला है
सौदामिनि संधि-सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में ।[1]

जीवन और मृत्यु के अन्तः संबंध पर सोचते-सोचते अन्ततः उस विराट् सत्ता से टकराता है कि वह प्रलय घटित ही कैसे हुआ ? वह मूल सत्ता कौन-सी है, जिसके इशारे पर ये सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण आदि परिचालित होते हैं, जिसके संकेत से इतना बड़ा प्रलय घटित हुआ -

विश्वदेव सविता या पूषा
सोम, मारुत चंचल पदमान ।
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?[2]

अथवा -

किसका था भ्रू-भंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब बिकल रहे,
अरे प्रकृति के शक्ति चिह्न, ये
फिर भी कितने निबल रहे ।[3]

मनु को लगने लगता है कि कोई एक परम सत्ता है, जिसका संधान इस नीले आकाश में चमकनेवाले यह नक्षत्र और विद्युतकण लगातार कर रहे हैं । उसी के रस से सिंचित होकर सारे तृण, वीरूध और वनस्पत्तियां लहलहा रही हैं । उसी के तृण आकर्षण में सारे ग्रह-केन्द्र खिंचे हुए हैं । उनकी सत्ता को सभी सिर नीचा करके स्वीकार करते हैं-

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत-कण
किसका करते-से संधान ।

1- जयशंकर प्रसाद - कामायनी, चिन्ता सर्ग - पृ० - 18-19
2- जयशंकर प्रसाद - कामायनी, आशा सर्ग पृ० - 25
3- वही - पृ० - 25

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण, वीरूध लहलहे हो रहे
किसके रस से खिंचे हुए ।
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहां ।[1]

वह एक ऐसा अस्तित्व है जो मौन रहते हुए भी सदा प्रवचन करता रहता है । मनु को लगता है कि वह सत्ता रमणीय है । वह जानता तो नहीं कि वह कौन है और क्या है ? क्योंकि विचार वहां तक पहुंचते नहीं, किन्तु एक अहसास अवश्य होता है कि वह अस्तित्व इस सम्पूर्ण व्यक्त जगत् के पीछे निरंतर क्रियाशील है ।

मनु का यह विश्वास अथवा एक विराट् सत्ता की अपने भीतर अनुभूति वही है जो हमारे उपनिषदों में हमारे ऋषियों द्वारा व्यक्त हुई है । इस जगत् से परे किसी अव्यक्त परम सत्ता की अनुभूति उपनिषद्कार को बहुत पहले हुई थी । उसे लगा था कि दृश्यमान जड़-वस्तुओं को गति देने के लिए अवश्य कोई चेतन शक्ति क्रियाशील है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि पदार्थों को गति देनेवाली शक्ति का भी नाम ईश्वर है । संसार में व्यवस्था है, ग्रह-नक्षत्र आकाश में भ्रमण करते हैं, परंतु परस्पर टकराते नहीं, जड़ या चेतन सभी एक निश्चित व्यवस्था से परिचालित हैं, ऐसी व्यवस्था किसी चेतन सत्ता के बिना नहीं चल सकती । वही व्यवस्थापक तो ईश्वर है । उसे ही मनु अनुभव करता है।

उसी ईश्वर के विषय में उपनिषद् का लेखक कहता है कि वह वब जगत् को गति देता है परंतु स्वयं चलायमान नहीं होता, वह दूर से दूर भी है और पास से पास भी है, वह ब्रह्माण्ड के अन्दर-बाहर दोनों जगह व्याप्त है -

तदैर्जात तन्नैर्जात
तददूरे तद्वन्तिके
वदन्तरस्य सर्वस्य
तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।[2]

1- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - आशा सर्ग - पृ० - 26

2- इशोपनिषद्भाष्य - पृ० - 3

आत्मा और परमात्मा के जिस संबंध का वर्णन ईशवास्योपनिषद् में लेखक ने किया है वही अनुभूति जयशंकर प्रसाद 'कामायनी' में व्यक्त करते हैं । श्रद्धा मनु से कहती है -

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त
विश्व का उन्मीलन अभिराम
उसी में सब होते अनुरक्त ।[1]

जीवन क्या है ? इस धरती पर कैसे आया है ? ये प्रश्न लगातार कामायनी के मनु को उद्वेलित करते हैं । जब वह श्रद्धा से भागकर स्वच्छन्दता की तलाश में भटकता हुआ अन्जान प्रदेशों की ओर भटकता है तो उसके मन में फिर यह प्रश्न टकराने लगते हैं कि यह जीवन कहां से चल कर किस लक्ष्य की ओर जा रहा है ।

मनु श्रद्धा से रूठा हुआ है और उसे एक विचित्र उद्विग्नता आक्रान्त किये हुए है । इसलिए उसे जीवन का कोई सार्थक ओर-छोर नहीं दिखायी पड़ता । मनु की इस ऊहापोह की स्थिति में जब श्रद्धा उससे मिलती है तो फिर मनु उससे यही प्रश्न पूछता है -

इस विश्व कुहर में इन्द्रजाल
जिसने रच कर फैलाया है,
ग्रह तारा विद्युत नक्षत्र-माल
सागर की भीषण-तम तरंग-सा
खेल रहा वह महाकाल ।[2]

तब क्या इस पृथ्वी के प्राणियों को डराने के लिए ही उसने कठोर सृष्टि की रचना की, तब तो केवल विनाश की ही जीत हुई । फिर उस सृष्टि को जो नष्ट होने वाली है उसे लोग इतना मूर्ख क्यों समझते हैं ? उसका अधिष्ठाता (अधिपति) तो कोई और ही होगा जिसको कि दुखी प्राणियों के दुःख की पुकार भी सुनायी नहीं पड़ती सुख रूपी घोंसले को लगातार दुःखों का चक्रवात घेरे रहता है । आखिर वह कौन है ? जिसने यह सब जाल फैला रखा है ।

1- प्रसाद - कामायनी - श्रद्धा सर्ग -
2- प्रसाद - कामायनी - इड़ा सर्ग - पृ० - 170

चूंकि मनु इन क्षणों में आस्थाविहीन हो चुका है, इसलिए उसे इस जीवन की कोई सार्थकता नहीं दिखलायी पड़ती, किन्तु आगे चल कर जब श्रद्धा और मनु पुनः मिलते हैं तो साथ ही हिमालय की ओर बढ़ते हैं तो उन्हें जिस सत्य का आभास होता है उसे 'प्रसाद' ने इस प्रकार व्यक्त किया है -

सत्ता का स्पन्दन चला डाल
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल
तम जलनिधि का बन मधुमंथन,
ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन,
वह रजत और उज्जवल जीवन
आलोक पुरुष ! मंगल चेतन ।[1]

उन्होंने देखा कि वहां चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश है तथा मधुर-सुन्दर-चंचल किरणें चारों तरफ व्याप्त हैं । अन्धकार का नाममात्र नहीं है और प्रकाश के चारों तरफ जो चंचल किरणें बिखरी हुई हैं वे मन को मुग्ध कर लेती हैं ।

वे इस प्रकार आगे बढ़ते जाते हैं और अपनी इस यात्रा के अंतिम चरण में आ जाते हैं और अब इस यात्रा के अंतिम चरण में वे अनुभव करते हैं -

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि क्रम है,
सब में घुल-मिलकर रसमय
रहता यह भाव चरम है ।[2]

इस प्रकार जयशंकर प्रसाद ने अपने काव्य में आध्यात्मिक अनुभव को एक गहरे बौद्धिक चिन्तन से सम्पुष्ट करके प्रकृति रूप में अपने महाकाव्य कामायनी में प्रस्तुत किया है ।

विचारात्मक या दार्शनिक दृष्टिवाले प्रकृति-वर्णन में तो प्रकृति की अपनी निजी वस्तुस्थिति का भी एक सत्ता पक्ष होता है और कवि और पाठक दोनों की ही बोध अथवा भावना क्रिया में प्रकृति को उक्त दृश्य व्यापारों की स्वतंत्र सत्ता होती है, परंतु

1- प्रसाद - कामायनी - इड़ा सर्ग - पृ० - 252
2- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - आनन्द मार्ग - पृ० - 288

प्रतीकात्मक वर्णन में प्रकृति के सभी दृश्य-व्यापार मात्र प्रतीक होते हैं । 'प्रसाद' जी की आंसू की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति के दृश्यों की वस्तुवत्ता का अर्थग्रहण में कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है -

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरदमाला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला ।[1]
+ + +
पतझड़ था झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में
किसलय नवकुसुम बिछा कर
आये तुम इस क्यारी में ।[2]

छिप गई कहीं छूकर वे,
मलयज की मृदुल हिलोरें ।[3]

प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से, उसके विविध रूपों के विधान-संधान को देखते हुए, छायावादी-काव्य सबसे अधिक सम्पन्न काव्य है । छायावादी कवियों के मानस में स्त्री पूर्ण अधिकार जमाते हुए भी, उसी ने उन्हें क्षितिज के पार और नभ-गंगा के कूल पर रहस्य का द्वार दिखलाया और उसी ने उसे प्रकृति के विविध उपकरणों के भीतर नारी को प्रतिस्थापित करने की प्रेरणा दी । उनकी व्याख्या के अनुसार छायावादी कवियों में पहले प्रकृति के प्रति रहस्य-भावना आयी और फिर उसके अशरीरी और सूक्ष्म सौंदर्य की अनुभूतियों का अभिव्यक्तिकरण होने लगा, जिसके फलस्वरूप प्रकृति का मानवीकरण होने लगा ।

निराला के प्रकृति-अद्वैत से कला की सार्थकता मनुष्य के इतिहास तथा उसके समस्त विकास की सार्थकता सिद्ध होती है । जहां पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म है, विकास वहां नहीं है तथा केवल शून्य भी जहां है वहां भी विकास नहीं है । विकास वहां पर है

1- जयशंकर प्रसाद - - आंसू - पृ० - 15
2- जयशंकर प्रसाद - - आंसू - पृ० - 19
3- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ०-29

जहां शून्य शक्ति बनता है और फिर शक्ति संसार के समस्त पदार्थों, वस्तुओं, व्यापारों में अपना चमत्कार दिखलाती है । अपने प्रकृति अद्वैत का संबंध सांख्य-दर्शन से जोड़ते हुए निराला ने 'प्रबंध पद्म' में लिखा है - विकास को देखने या करने के अस्तित्व में शक्ति का ही अस्तित्व है । शास्त्रानुसार शून्य और शक्ति अभेद है । फर्क इतना है कि जब शून्य में स्थिति है तब शक्ति का ज्ञान नहीं, क्योंकि वह नहीं कांपता, सिद्ध है, और जब शक्ति का परिचय है तब शून्य का ज्ञान नहीं, क्योंकि वह कांपता है, सिद्ध है ।[1]

बिना द्वन्द्व के विकास नहीं है और प्रकृति के दो रूपों में यह द्वन्द्व छिड़ा है जिसमें एक प्रकृति मनुष्य के भीतर है और दूसरी मनुष्य के बाहर और इन्हीं दोनों के चिरन्तन संघर्ष का परिणाम ही मानव-जीवन का विकास है ।

मनुष्य का शरीर, उसका मन, उसका गुण, उसका चरित्र प्रकृति है - और स्वयं वह भी प्रकृति है । मनुष्य अपने गुण से दूसरों को भी वश में कर लेता है । जहां प्रकृति है वहां रूप है, रूप चाहे मन का हो, चाहे शरीर का, है वह रूप ही ।

प्रकृति मारती है, प्रकृति जिलाती है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उसके नियमों को पहचाने, उसके अनुसार काम करे ।[2]

मनुष्य की इच्छाओं से प्रकृति स्वतंत्र है । माया की व्याख्या करना मुश्किल है। बहुत कम लोग ही इसे समझ पाये हैं ।

यदि माया प्रवंचना है तो संसार प्रवंचना है, जीवन और साहित्य प्रवंचना है । यदि माया ब्रह्म के आश्रित नहीं है तो सूर्य को उसकी किरणों से अलग करके देखना संभव नहीं है । प्रकृति अद्वैत के अनुसार मूल तत्व एक है - शून्य । यह संसार गतिशील है, उसकी गतिशीलता के - सामाजिक विकास के - वस्तुगत नियम हैं । मनुष्य विवेक से इन नियमों को पहचानता है । जो कट्टरपंथी हैं, वे इन नियमों को न पहचानकर विवेकशील जनों का विरोध करते हैं ।[3]

1- निराला - प्रबन्ध पद्म - पृ० - 4

2- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य-साधना भाग - 2 - पृ० - 118

3- वहीं - पृ० - 119

निराला की साधना का लक्ष्य ब्रह्म से अधिक माया है ।

'अधिवास' निराला की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है । इसमें उन्होंने अधिवास अर्थात ब्रह्म को छोड़ने और माया में फंसने की बात लिखीं है ।

'गीतिका' में किसी का माया-रथ सुन्दर-बन में रुक जाता है तो किसी के ह्रदय में बांसुरी बजती है और -

हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी ।[1]

आदि काल से अन्त समय तक निराला विभिन्न अवसरों पर अनेक सन्दर्भो में माया का स्मरण करते हैं ।

जब मनुष्य युद्ध में हार जाता है तो शक्ति की ही साधना करता है । रावण से परास्त होने पर राम ब्रह्म की नहीं, शक्ति की पूजा करते हैं । युद्ध, क्रान्ति, संघर्ष, स्वाधीनता आन्दोलन से इस प्रकृति-शक्ति अथवा माया का घनिष्ठ सम्बंध है ।

यह शक्ति कवि की साधना का लक्ष्य है, उसके ह्रदय की प्रेरणा भी है । "तुलसीदास को राम नहीं दिखायी देते, ब्रह्म प्रत्यक्ष होकर उन्हें आनन्द-विह्वल नहीं करता, उनकी पत्नी अरूप-लग्न योगिनी के समान साहित्य की देवी सरस्वती के समान प्रेरित करती है ।[2]" यही शक्ति निराला की सुख-दुःख की बातें सुनती है तथा कठिन समय में उन्हें ढांढ़स भी बंधाती है -

रहेंगे अधर हंसते, पथ पर, तुम
हाथ यदि गहो ।[3]

1- निराला - गीतिका - पृ० - 104
2- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना, भाग-2 - पृ० - 172
3- निराला - अनामिका - पृ० - 116

'तुम और मैं' कविता में सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ प्रकृति का भी गुणगान किया गया है। दूसरी जगह जो प्रकृति जगत् की पलकों पर आसीन है, वह प्रिय के ध्यान में लीन है -

प्रकृति बैठी पालने, अतन्द्र
जगत् के पलकों पर आसीन-
खुला जीवन में प्रणय-सुहाग,
कला-प्रिय-अकल-ध्यान में लीन ।[1]

अधिकांशः यह शक्ति अपने आप में पूर्ण, अनादि और अनन्त दिखयी पड़ती है । इसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं है ।

भारतीय दर्शन में जो पांच तत्व प्रसिद्ध हैं, वे सब शक्ति के प्रतीक हैं, शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं । शक्ति एक है, अद्वितीय है, इसलिए ये पांच तत्व (पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश) देखने में पांच हैं वास्तव में तत्व एक है । जो आकाश है वही परिवर्तित होकर पृथ्वी बनता है, जो पृथ्वी है वही जल बनता है, जो जल है वह हवा अथवा आकाश बन जाता है । यही निराला का प्रकृति अद्वैत-दर्शन है जो अनेक कविताओं में भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित हुआ है ।

प्रकृति पंचतत्वमय है और एकतत्वमय भी । पांचों तत्व मूलतः एक हैं, अतः प्रकृति को पांचों में देखा जा सकता है, किसी एक में नहीं । प्रकृति में मातृत्व है, प्रेयसीत्व है, जीवन-मृत्यु, प्रकाश तथा अन्धकार है ।

खोलो दृगों के द्वय द्वार,
मृत्यु-जीवन ज्ञान-तम के
करण, कारण-पार ।[2]

प्रकृति के नेत्रों में ज्ञान है, अन्धकार है, जीवन है मृत्यु है । यह निरंतर परिवर्तनशील प्रकृति है जिसमें मृत्यु के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती,जिसमें अन्धकार के अस्तित्व से ही प्रकाश का अस्तित्व है ।

1- निराला - गीतिका - पृ० - 78
2- निराला - गीतिमा - पृ० - 46

सच्चिदानन्द ब्रह्म की कल्पना से जीवन-मृत्यु वाली प्रकृति की धारणा भिन्न है। निराला-साहित्य में जिसका बारम्बार स्तवन है वह मायातीत नहीं, मायामय है, स्वयं माया है ।[1]

कविवर निराला ने अपनी कविताओं में आध्यात्मिकता को प्रकृति के मानवीकृत रूप में ही दर्शाया है -

सखि नीरवता के कंधे पर डाले बांह,
छांह-सी अम्बर-पथ से चली ।
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे ।[2]

निराला ने -संध्या सुंन्दरी', 'शेफालिका', 'यमुना के प्रति' एवं 'जूही की कली' शीर्षक कविताओं में भी मानवीकरण का अच्छा उपयोग किया है । 'जागो फिर-एक बार' शीर्षक कविता में निशागमन के वर्णन में आयी---'चित्रित हुई है देख-यामिनी गंधा जगी' जैसी पंक्तियां भी इसी कोटि की हैं -

विजन-वन-वल्लारी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी-जुही की कली
हृदय बन्द किये शिथिल पत्रांक में ।[3]

अपनी 'ज्येष्ठ' कविता में कवि ने ज्येष्ठ को व्यक्ति रूप प्रदान किया है जो आध्यात्मिकता का बहुत ही सुन्दर रूप चित्रित करता है -

चराचर के हे निर्दय मास
सृष्टि भर के व्याकुल आह्वान ।
    अचल विश्वास ।
सृष्टि भर के शंकित अवसान
    दीर्घ निश्वास ।
देते हैं हम तुम्हें प्रेम आमंत्रण
आओ जीवन-शमन बन्धु जीवनधन ।

1- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना, भाग-2 - पृ० - 182
2- निराला ग्रन्थावली, भाग-2 - पृ० - 83
3- निराला - परिमल - जुही की कली - पृ० - 165-66

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि को प्रकृति में दर्शन तथा चेतना की अनुभूति होती है ।

महाप्राण निराला की 'जागो फिर एक बार' रचना में भी प्रकृति के चित्र वातावरण-सृष्टि एवं उद्दीपनार्थ आये हैं -

जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाती हुई हारी तारिकाएं तुम्हें,
अरुण पंख, तरुण किरण
खड़ी खोलते हैं द्वार ।[1]

विश्व की ही वाणी प्राचीन
आज रानी बन गई नवीन ।
वही पतझड़ की किंशुक-डाल
पहन लहराती अंशुक-जाल
चहकते खग-कुल सकल सकाल
बिचरते पद-तल हिंसक दीन ।[2]

निराला जी की 'परिमल' की 'तरंगों के प्रति' शीर्षक कविता उनकी रहस्यवृत्ति की परिचायिका है । अद्वैत भूमि पर पहुंच कर निराला को यह जगत् कैसा प्रतीत होता है उसका अंकन उनके गीत में इस प्रकार हुआ है -

जग का एक देखा तार,
कष्ट अगणित, देह सप्तक,
मधुर स्वर झंकार ।
बहुसुमन, बहुरंग, निर्मित एक सुन्दर हार
एक ही कर से गुंथा,उर एक शोभा हार ।[3]

इन पंक्तियों में जो अद्वैत धारणा रेखांकित की गयी है वह उपनिषद् के चिंतन का ही काव्यात्मक प्रतिबिम्बन है ।

1- निराला - परिमल - पृ० - 87
2- निराला - गीतिका - पृ० - 80
3- निराला - गीतिका - पृ० - 24

प्रकृति-वर्णन की विचारात्मक कोटि वह कही जायेगी, जहां प्रकृति के किसी दृश्य व्यापार का वर्णन कर कवि उससे किसी वैचारिक निष्कर्ष अथवा दार्शनिक अन्विति तक पहुंचता है ।[1]

कविवर निराला ने सूर्यास्त के चित्रण के सहारे जीवन की नश्वरता का बड़ा ही करुण निष्कर्ष निकाला है -

ढल रहे थे मलिन मुख रवि, दुख किरण
पद्म-मन पर थी, रहा अवसन्न वन,
देखती यह छवि खड़ी मैं, साथ वे
कह रहे थे हाथ में यह हाथ ले,
एक दिन होगा
जब न मैं हूंगा ।[2]

विचारात्मक दार्शनिक दृष्टिवाले प्रकृति वर्णन में तो प्रकृति की अपनी निजी वस्तु-स्थिति का भी एक पक्ष होता है और कवि तथा पाठक दोनों की ही बोध अथवा भावना-क्रिया में प्रकृति के सभी दृश्य-व्यापार मात्र प्रतीक होते हैं ।

निराला जी ने अपनी 'वासन्ती' कविता में वासन्ती शोभा को नव-जीवन का प्रतीक माना है । पतझड़ में वसन्त के आगमन की भांति कवि समाज में नवीन जीवन और नवयुग की कामना कर रहा है -

नर रेणु-रेणु में नभ की, फैला दो जग की आशा ।
खुल जाय खिली कलियों में नव-नवजीवन की भाषा ।।
+ + + + +
नव किरणों के तारों से जग की यह वीणा बांधो ।
प्रिय व्याकुल झंकारों से, साधो, अपनी गति साधो ।
फिर उर-उर के पथ बंधुर, पग-द्रवित मसृण-ऋजु कर दो ।।
स्वर नव-युग की कर-धारा भर दो द्रुत-जग में, भर दो ।।[3]

1- डॉ० क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 155
2- निराला - परिमल, शेष-पृष्ठ - 14
3- निराला - परिमल - वासन्ती - पृ० - 49-51

निराला की आध्यात्मिकता के कई स्वर हैं । सबसे गहरा और जड़ीभूत स्तर एक सशक्त अद्वैतवादी दर्शन का है जो प्रायः प्रकृति के नाना रूपों में अनेक सम्पूर्ण काव्य-संसार को आलोकित करता रहता है ।

निराला की भक्ति आधुनिक मनुष्य की आस्था-अनास्था की विडम्बनापूर्ण द्विघाग्रस्त मनःस्थिति का प्रतिफलन है । इसीलिए वे भक्तों की पूरी परम्परा से अलग होकर प्रार्थना की व्यर्थता की बात भी करते हैं । दूधनाथ सिहं ने लिखा है - निराला बावजूद निजी प्रपत्ति के आत्म-मुमुक्षु की चिंता के अपनी सार्वजनिक मुक्ति की चिंता के कारण भक्ति की परम्परा से किंचित अलग दिखायी देते हैं । उनका परलोक भी इसी लोक के भीतर है । वे अलग से कृपाभाव की प्राप्ति के द्वारा भक्तों के अनामय विष्णुलोक के रूप में उसे पाने की चेष्टा नहीं करते । इसीलिए वे 'स्वर्ग को धरा पर उतारने' या सिर पर स्वर्गाशिष टूटने की बात भी करते हैं । इसीलिए उनका पालक-भाव सूरदास के 'मैं पतित तुम पतित पावन' से अलग है ।[1]

निराला प्रेम की अपनी धारणा को दार्शनिक या रहस्यात्मक नहीं बतलाते । जायसी और रवीन्द्रनाथ जहां नितान्त लौकिक बिम्बों को दार्शनिक रूपक का संकेत देने के लिए प्रयोग में लाते हैं, वहीं निराला रहस्यात्मक और दार्शनिक बिम्ब-जालों से निजत्व की सीधी-सादी अभिव्यक्ति को निकालते हैं ।

प्रेम को आन्तरिक और बाह्य परम-पावन अनुभूति से मण्डित करके उसे आत्म-मुक्ति के सोपान तक ले जानेवाले कवि, आधुनिक युग के अकेले निराला ही हैं ।

छायावादी कवियों में सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-चेतना का विकास सबसे अधिक विस्मयकारी है । उनकी प्रारंभ की कविताओं में प्राकृतिक सुषमा एवं प्रकृति के जीवन के विपुल चित्र मिलते हैं । प्रकृति के कोमल से कोमल एवं विराट से विराट स्वरूप की अभिव्यक्ति पंत के प्रारंभिक काव्य में ही अपने संपूर्ण वैभव के साथ प्रस्फुटित होती है । उनकी 'नौका-बिहार', 'बादल', 'परिवर्तन' आदि कविताएं उनके प्रकृति से गहरे सादृश्य को पूरी गहराई से अभिव्यंजित करती हैं । इन कविताओं में जहां वे एक ओर प्रकृति के मानवीय चेतना-सम्पन्न व्यक्तित्व का उद्घाटन करते हैं वहीं दूसरी ओर

1- दूधनाथ सिंह - निराला आत्मर्हन्ता आस्था - पृ० - 352

अपनी कल्पना की उड़ान से एक-एक दृश्यों के लिए सैंकड़ों-सैंकड़ों उपमा एवं उत्प्रेक्षा की झड़ी लगा देते हैं । आधुनिक काव्य-भाषा की शब्दावली का प्रयोग करें तो पंत का काव्य प्रकृति के हजारों जीवन्त बिम्बों से परिपूर्ण है ।

किन्तु पंत की काव्य-संवेदना में एक बदलाव आता है और वे प्रकृति का दामन छोड़ कर मानवीय सौन्दर्य एवं मानवीय करुणा की पहचान प्रारंभ करते हैं । सबसे पहले वैचारिक स्तर पर उन्हें मार्क्स का दर्शन प्रभावित करता है और वे मनुष्य और मनुष्य के बीच वैषम्य, शोषण के विरुद्ध अपनी कविता को पूरी सचेतनता से मोड़ते हैं, जहां उनकी प्रकृति-संबंधी कविताओं एवं वैयक्तिक रागानुभूति से संसिक्त कविताओं का दर्शन हमें उनके काव्य संकलन 'गुजन' और 'पल्लव' में होता है, वहीं 'युगान्त' से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक उनकी कविताएं मार्क्सवादी प्रभाव में लिखी गयी हैं । इस प्रकार इन दोनों दौर में पंत की आध्यात्मिक चेतना अभी प्रच्छन्न रहती है और उनका लौकिक मन ही पूरी उत्फुल्लता से अपने काव्य में विचरित होता है । किन्तु इसके पश्चात् पंत के काव्य में एक नया मोड़ आता है और वे पूर्ण रूप से आघ्यात्मिकता की ओर मुड़ जाते हैं ।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने उनके काव्य-विकास को लक्ष्य करते हुए लिखा है - ''प्रकृति एक ओर, और मनुष्य दूसरी ओर, इनके समीकरण की चिन्ता सुमित्रानन्दन पंत को पहले है । पर यह समीकरण क्रमशः बन नही पाता । प्रकृति-चित्रण और मानवीय नियति एक दूसरे से छूट जाते हैं । यह पंत की रचना-प्रक्रिया और समूचे छायावाद के लिए एक बड़ी काव्यात्मक दुर्घटना कही जा सकती है । इस द्वैत का मुख्य कारण कविता में दर्शन का सीधा हस्तक्षेप है । गान्धी, मार्क्स और अरविंद से सीधे वैचारिक स्तर पर टकराते हैं, उन्हें अनुभव में रूपान्तरित नहीं करते हैं । इसीलिए उनकी दार्शनिक अवधारणाएं जीवनानुभव से पुष्ट नहीं होतीं । वे सूक्तियां और शुभचिन्तन होकर रह जाती हैं ।[1]

चतुर्वेदी जी की यह टिप्पणी पंत जी के काव्य-विकास को देख कर थोड़ी निर्मम किन्तु कड़वी सच्चाई को व्यक्त करती हैं । यह ठीक है कि कवि की चेतना दार्शनिक अवधारणाओं में उतनी अनुभूतिमय परिणति नहीं दे पाती हैं, किन्तु इस सत्य

1- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - पृ० - 7

से कैसे विमुख हुआ जा सकता है कि पंत की उत्तरकालीन काव्य-चेतना में आध्यात्मिकता एक बहुत बड़ी सच्चाई है, जो उन्हें चिंतन एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर पूर्णतया बांधे रहती है । उनके काव्य-संकलन 'स्वर्णधूलि', स्वर्ण किरण' एवं उनके महाकाव्य 'लोकायतन' में उनकी यह आध्यात्मिक दृष्टि एवं आध्यात्मिक चिंता पूर्णतया व्याप्त है ।

भौतिक क्षेत्र के समान अध्यात्म के क्षेत्र में भी वे प्रगति (विकास) को स्वीकार करते हैं । इस दिशा में उन पर प्रसिद्ध दार्शनिक अरविंद का बड़ा प्रभाव है । आधुनिक युग में अध्यात्मक की रक्षा केवल चेतना की महत्ता और विकास की स्वीकृति के रूप में ही संभव है - राम की भक्ति या असीम के प्रणय के रूप में नहीं । चेतना का यह रूप पंत की 'स्वर्णकिरण', 'उत्तरा' और 'अतिमा' में पूर्णतया दिखलायी पड़ता है ।

प्रकृति में चेतना की अनुभूति और प्रकृति के तत्वों के पारस्परिक भाव-सम्बन्ध को छायावाद कहते हैं । प्रकृति संबंधी भावना के विकास का अंतिम रूप पंत जी की रचनाओं में यह है कि पुरुष प्रधान है, प्रकृति अप्रधान, पुरुष देवता है, प्रकृति आधारिका, पुरुष प्रकृति के लिए आकुल नहीं, प्रकृति ही पुरुष के लिए आकुल है ।

"पंत जी से पूर्व प्रकृति या तो आध्यात्मिक भावों के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त होती थी या उससे आदेश दिलाये जाते थे या फिर उद्दीपन और अलंकार के रूप में वह आती थी । पंत जी ने इन रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करके प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता घोषित की । उसे आलम्बन के रूप में स्वीकार किया । इससे भी महत्वपूर्ण दूसरा काम उन्होंने यह किया कि उसमें चेतना का आरोप किया, उसे वाणी दी । तीसरी विशेषता उनकी यह है कि प्रकृति पर उन्होंने सबसे अधिक लिखा । वीणा से लेकर अतिमा तक उनके समस्त काव्य-ग्रन्थ उनके प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं"।[1]

पंत अपने सांसारिक स्तर की अनुभूतियों से उठ कर एक वृहद् आलोक के संसार में विचरण करने का प्रयास करते हैं । यह दिव्य जीवन की अनुभूति कवि की चेतना में नाना रूपों में होती है । यह अनुभूति का धरातल यद्यपि सामान्य कवि के लिए

1- विश्वम्भर मानव - सुमित्रानन्दन पंत - पृ० - 186

उपलब्ध कर पाना संभव नहीं है, किन्तु इसकी सत्ता से मना भी नहीं किया जा सकता। कवि पंत जब कहते हैं -

'ज्योति तिमिर के गत छोरों पर
स्वर्ण-सेतु निर्मित कर नूतन
पार लगाती मानवता को ।
खोल युगों के तुम जड़ बन्धन ।
निश्चेतन का अतल ज्वार
नव मूल्यों में
करता आरोहण ।[1]

पंत यह मानते हैं कि मनुष्य के हृदय में ज्योति और तम का निरंतर अन्तराल है, किन्तु यह भी मानते हैं कि उनके बीच एक स्वर्ण-सेतु का निर्माण संभव है और फिर नवमूल्यों में आरोहण करना संभव । वे प्रकृति-शक्तियों के सामर्थ्य को अस्वीकार नहीं करते । वे मानते हैं कि निरंतर ये शक्तियां मनुष्य को आक्रान्त करती रहती हैं, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य उनका अतिक्रमण करके नये शिखरों पर पहुंच सकता है, जहां उसका देह भाव बहुत नीचे छूट जाता है और वह प्रकाश के एक नये लोक में प्रवेश करता है ।

प्राणों की मधुभूमि छोड़कर भू-जन
पंख खोल मन के, उड़ चिद् अम्बर में,
कहां खोजते मुक्ति ? मुक्त चिन्मय शिव
स्वेच्छा से रहते, जड़ मृण्मय घर में ।[2]

वे मानते हैं कि एक विराट् चेतना के स्पर्श से यह सारा संसार भीतर और बाहर प्रकाशित हो उठता है ।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य; अनित्य सत्य के क्षणिक पद-चिह्न संसार की सभ्यता

1- सुमित्रानन्दन पंत - लोकायतन - पृ० - 652
2- सुमित्रानन्दन पंत - लोकायतन - पृ० - 590

के राजपथ पर बदलते जाते; पुराने मिटते, नवीन उसके स्थान पर स्थापित होते रहते। नित्य सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अंकित हो जाता है, उसे कालानिल के झौंके नहीं मिटा सकते । प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय-वृत्त का एक छोटा-सा खण्डमात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वल्प तरंग मात्र है, जिसका अपना विशेष स्वरूप, विशेष आकार-प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊंचाई होती; जो अपने सद्यःस्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अंश को वाणी देता है ।[1]

अध्यात्म-चिन्तन के कई पक्ष होते हैं । एक तो यह कि ईश्वर में केवल विश्वास हो । दूसरा यह कि उसे एक शक्ति मान कर उससे प्रार्थना की जाये । तीसरा यह कि उससे कोई सम्बन्ध स्थापित कर उसके प्रति प्रेम का अनुभव किया जाये । प्रेमानुभूति की दो कोटियां हैं, पहला ईश्वर को पुरुष और अपने को नारी मानना जैसे कबीर, महादेवी आदि में, दूसरा ईश्वर को नारी और स्वयं को पुरुष समझ कर जैसे जायसी आदि सूफियों में । ये दोनों ही कोटियां रहस्यवाद के अंतर्गत आती हैं । पंत ने भी अपने काव्य में कहीं-कहीं पर उनसे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित किया है ।

अपनी काव्य-यात्रा में पंत ने क्रमशः देह, प्राण और मन के आरोहण को रेखांकित किया है -

देह-प्राण के खुलते पट पर पट
अन्तर-भुवनों में कर मन आरोहण ।

और फिर आरोहण की उस चरम स्थिति का चित्रण किया है, जिसमें वे कहते हैं -

अपने आरोहण पथ में वह देवयोनि बन
बरसायेगी भू पर रत्नस्मित आभाएं
श्री शोभा विश्वास प्रीति आनन्द ज्योति की ।2

पंत यह स्वीकार करते हैं कि इस चिद् प्रकाश के नभ में आरोहण करने के पश्चात इस धरती पर ही नये स्वर्ग का आह्वान संभव है । वे कहते हैं -

---

1- सुमित्रानन्दन पंत - पल्लव की भूमिका - पृ० -
2- सुमित्रानन्दन पंत - समाधिता - पृ० - 78-79

चिद्-प्रकाश नभ में आरोहण कर
अवरोहण करता भू पर नव मन
कवि रस प्रतिभा पा नये धरती पर
नये स्वर्ग का करता आह्वान ।

छायावादी कवियों में पंत का आध्यात्मवाद बिल्कुल ही नये प्रकार का है । वे पुरानी अध्यात्मवादी परिकल्पना को एक नया आयाम देते हैं । उनके अध्यात्म के मूल्य बौद्धिक नहीं हैं और न ही वे धार्मिक, नैतिक अध्यात्म का एक नया धरातल स्थापित करते हैं, जो उनकी कविता की इन पंक्तियों में ध्वनित होता है -

आमूल बदल अध्यात्मवाद
जन भू पर जयी हुआ निश्चित
भौतिकता संस्कृति पादपीठ-
अब वर्ग सभ्यता - जीवन - मृत ।
गत धार्मिक नैतिक गर्व मूल्य
रस रूपान्तरिक, हुए विकसित
कटु राजनयिक आर्थिक स्पर्धा
सह-रचना श्रम में विक् कुसुमित ।[1]

इस प्रकार वे मानते हैं कि आत्मा के धरातल से अध्यात्म का यह रूपान्तरण संभव होता है और पिछली क्रान्तियों को अतिक्रमित करती हुई नयी क्रान्तियां आती जाती हैं और इस प्रकार नवजीवन का क्रमिक रूपान्तर पशु-वृत्तियों से मानव-वृत्तियों में एवं मानव-वृत्तियों से देव-वृत्तियों में क्रमिक संक्रमण से संभव हुआ है, इसलिए पंत जी ने अगले मानव की कल्पना पाशविक वृत्तियों के रूपान्तर से परिशोधित अध्यात्म संभव नव-मानव के रूप में की है ।[2]

छायावादी कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा की आध्यात्मिकता इस अर्थ में विशिष्ट है कि उन्होंने प्रकृति को मानवीकृत रूप में उपस्थित किया है, प्रकृति में ही उन्होंने अपने प्रियतम (ईश्वर) को देखा, पाया और स्वीकारा है । प्रकृति का एक

1- सुमित्रानन्दन पंत - समाधिता - पृ० - 653
2- डॉ० मीरा श्रीवास्तव - पंत काव्य में श्री अरविंद की पारिभाषिक शब्दावली - पृ० - 161

भावक्रियास्पन्दित रूप ही उनकी कृतियों में सदा प्रत्यक्ष हुआ है । वह हंसती है, रूठती है, मिलाभिसार करती है तथा वियोगिनी की भांति आंसू भी बहाती है । उनके अनुसार छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में चला आ रहा था ।[1] उनका एक चित्र बहुत की मनमोहक है -

नव इन्द्र-धनुष-सा चीर, महावर अंजन ले
अलि-गुंजित मीलित पंकज नूपुर-रुनझुन ले
फिर आयी मनाने सांझ में बेसुध मानी नहीं ।[2]

उन्हें नभ भी मुस्काता दृष्टिगोचर होता है -

मुस्काता संकेत-भरा नभ,
अलि ! क्या प्रिय आने वाले हैं ?[3]

महादेवी ने आत्मा और परमात्मा को प्रणयिनी और प्रणय के रूप में ही अपनाया है और जीवन भर अपने आराध्य से मिलने की आकुल उत्कण्ठा और पावन आराधना में ही अपनी काव्यानुभूति को अभिव्यक्त करती रही हैं -

आ मेरी चिर-मिलन यामिनी !
तममयि ! घिर आ धीरे-धीरे,
आज न सज अलकों में हीरे
चौंका दे जग श्वास न सीरे
होले झरे सशस्थल कबरी में -
गूंथे हर-श्रृंगार कामिनी ।[4]

उन्होंने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में ही देखा है । उनका यह प्रियतम परम सुन्दर, चिर सुन्दर है । सृष्टि की सुन्दरता उसकी सुन्दरता की छाया मात्र है । नक्षत्रों की मधुरिमा, सूर्य की कनक-रश्मियों की उज्जवलता एवं विधु की रजत-ज्योत्स्ना की शुभ्रता उसकी आत्मा के एक कण के बराबर भी नहीं है । महादेवी ने ने उनके चरणों की कोमलता,

---

1- प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 122
2- महादेवी वर्मा - यामा - नीरजा - पृ० - 139
3- महादेवी वर्मा - नीरजा से - प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 122
4- महादेवी वर्मा - यामा - नीरजा - पृ० - 144

उनके मन्द चाप एवं उनके मृदु उज्जवल चिह्नों का बार-बार पूरी तन्मयता के साथ वर्णन किया है । उनके चरणों पर देवता अपने अमरलोक को न्योछावर करने को तैयार रहते हैं । उन सुन्दर चरणों की छवि को आकाश अपने अन्तस्तल में अंकित करता है । उन चरणों के नख-चन्द्रों के सामने नक्षत्रों का प्रकाश भी फीका जान पड़ता है ।

और महादेवी जी का आकुल हृदय उसी सुन्दर के लिए व्याकुल है । प्रकृति में अपने इसी प्रियतम (ब्रह्म) के रूप की छाया वे देखती हैं । इसी की प्रतीक्षा करती हैं, इसी को प्रिय निष्ठुर कहतीं और इसी को मृदु-उपालम्भ भी देती हैं । इसी को मनाती हैं । इसी के लिए उनका हृदय घुल-घुल कर बहा है तथा इसी के लिए अहर्निश रोया करती हैं ।

उनके गीतों से प्रकट होता है कि प्रेमिका आत्मा है और उन्होंने अपना और अपने प्रियतम का जो सम्बंध स्पष्ट किया है वह आध्यात्मिक ही है ।

प्रकृति का विराट् सचेतन रूप निम्नलिखित पंक्तियों में परिलक्षित होता है -

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल
लहराता सुरभित केश-पाश ।[1]

इतना ही नहीं, महादेवी जी के काव्य में शेफाली जब सकुचाती एवं लजाती है तो महादेवी भी जाने क्या-क्या सोचने लगती हैं । मौलश्री अलसाती है तो जाने क्या मनन करने लगती हैं -

सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली-डाली ।2

इसी प्रकार सिन्धु के लहर और जल का गोचर दृश्य उपस्थित करके उन्होंने आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता प्रकट की है । घन और कुछ नहीं सिन्धु का उछ्वास एवं तड़ित तम का व्याकुल मन है -

---

1- महादेवी वर्मा - यामा - नीरजां - पृ० - 132

2- महादेवी वर्मा - नीहार - प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 123

सिन्धु का उछ्वास घन है,
तड़ित तम का विकल मन है ।[1]

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने ठीक ही लिखा है -

''पुनर्जागरण के सूर्यास्त होने पर महादेवी यों दीपशिखा की भांति प्रज्जवलित हो रही हैं ।[2]

महादेवी की दृष्टि में सारी सृष्टि ब्रह्म के स्नेह में आकुल और मग्न है अतः उसका इन रूपों में हमारे सामने आना स्वाभाविक ही है ।

'नीरजा' के अंतिम गीत 'केवल जीवन का क्षण मेरे' में उन्होंने प्रकृति के आकर्षणों को स्वीकारा भी है । प्रकृति ब्रह्म के प्रेम में बाधा डालती है, बंटवारा चाहती है । पर प्रकृति स्वयं उसी के प्रेम में लीन है, जिसके प्रेम में महादेवी । पुष्प अपने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से किसी का मार्ग तकते हैं, अन्धकार बिजली के दीप जला कर किसी को खोजता फिरता है, सन्ध्या नक्षत्रों के दीप जला कर किसी की प्रतीक्षा करती है, पवन अपना प्रियलोक छोड़ने पर पश्चाताप करता है । घनों का झुकना, अम्बर का अंचल फैलाना, रात का रोना, कलियों और निर्झर का अश्रुमय होना, स्नेह भर कर तारों का जलना, सागर की लहरों का प्यासा घूमना महादेवी के ही लिए नहीं है, महादेवी के प्रियतम के लिए भी है । वास्तव में सारी दृष्टि ब्रह्म के लिए ही व्याकुल है ।[3]

महादेवी जी का विचार है कि वे और ब्रह्म भिन्न नहीं हैं तथा प्रकृति भी उनसे पृथक नहीं है । महादेवी जी ने प्रकृति से अस्थिरता, नश्वरता या अनित्यता का भाव भी ग्रहण किया है । महादेवी जी को मेघ अपने प्रिय-पद (आराध्यदेव) के चिह्न का संकेत दे रहे हैं -

मेघ-पथ में चिह्न विद्युत के गये जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,
किसलिये पावस नयन में,
प्राण में चातक बसाती ।[4]

1- महादेवी वर्मा- दीपशिखा - प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 123
2- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - पृ० - 159
3- विश्वम्भर मानव - महादेवी की रहस्य-भावना - पृ० - 96
4- प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिह्न - पृ० - 123

महादेवी जी का आराध्य ईश्वर ही है और उनके प्रेमी (ईश्वर) की यही विशेषता है कि उन्होंने सृष्टि का निर्माण किया है । प्रकृति के परिवर्तनशील असीम सौन्दर्य का सृष्टा है तथा उनके आराध्य का सौन्दर्य असीम है । प्रकृति और प्राणी का सौन्दर्य सभी उसी आराध्य की देन है । अपने आराध्य के प्रति उनका यह प्रेम अनन्तकाल से ही चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा । एक ओर यह प्रेम प्रकृति और परमात्मा के बीच पाया जाता है तो दूसरी ओर आत्मा और परमात्मा के बीच । अन्त में हम महादेवी जी के शब्दों में ही उनकी अनुभूति व्यक्त करें तो -

विसर्जन ही है कर्णाधार
वही पहुंचा देगा उस पार ।

अतः जिस प्रकार तुलसी के राम अनन्त शक्ति, सौन्दर्य और शील के भण्डार हैं उसी प्रकार महादेवी का आराध्य अनन्त, शक्ति, सौन्दर्य और प्रेम का अजस्र स्रोत है । महादेवी जी का क्षेत्र है अध्यात्म का, वृत्ति है अलौकिक प्रेम की । अतः वे चन्द और भूषण, सूर और तुलसी, बिहारी और देव एवं दिनकर और बच्चन की परम्परा में न आकर कबीर और जायसी की पंक्ति में आती हैं । उन्होंने बहुत कम लिखा है, परंतु उतना ही उन्हें अमर करने के लिए पर्याप्त है ।[1]

इसी प्रकार कुछ अन्य कवियों ने भी प्रकृति का मानवीकृत रूप ही अपनाया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी 'रजनीबाला' से तारेवाले गजरों को कहीं ले जाने की बात पूछी है । बच्चन जी ने कहा भी है -

प्राण रजनी भिंच गई नभ के भुजों में,
मेरा प्यार बारम्बार लो तुम ।[2]

अपनी 'इस पार-उस पार' कविता में भी उन्होंने प्रकृति के उपकरणों को सजीवता प्रदान की है -

ऐसा चिर पतझड़ आएगा
कोयल न कुहुक फिर पायेगी,
बुलबुल न अंधेरे में गा-गा
जीवन की ज्योति जगायेगी ।[3]

1- विश्वम्भर मानव - महादेवी की रहस्य-साधना - पृ० - 13
2- हरिवंशराय बच्चन - मिलन यामिनी - पृ० - 136
3- हरिवंशराय बच्चन - मधुबाला - पृ० - 82

अथवा -

जब निज प्रियतम का शव रजनी
तम की चादर से ढंक देगी
तब रवि-शशि-पोषित यह पृथ्वी,
कितने दिन खैर मनायेगी ।[1]

डॉ० रामकुमार वर्मा को किरणों में एक स्पप्न की रेखा दिखलायी पड़ती है -

बादल हैं किस रमणी के, संकुचित बाहु बन्धन में ?
एक स्वप्न की रेखा है, किरणों के नव-जीवन में ।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य प्राकृतिक दिव्यता को आध्यात्मिकता की कोटि तक ले जाता है, जिस पर मानवीय अंतश्चेतना का प्रभाव पूर्णतः परिलक्षित होता दिखायी पड़ता है ।

1- हरिवंशराय बच्चन - मधुबाला - पृ० - 81
2- डॉ० रामकुमार वर्मा - चित्ररेखा - पृ० - 34

प्रसाद की आध्यात्मिक कविता की भाषा और शिल्प विधान

भाषा साहित्यकार के मनोभावों की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम है । अपनी संवेदनाओं के विस्तार के लिए कवि इसी के सफल प्रयोग के लिए प्रयत्नशील रहता है अतः उसके भावों की अतल गहराई तक पहुंचने के लिए कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा के विभिन्न शैल्पिक आयामों का अनुसंधान आवश्यक है ।

भाषा के निर्माण और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का क्रम लगातार चलता रहता है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन की नवीनता दृष्टिगोचर होती है - और परिवर्तन की यही भावना जीवन्तता का प्रतीक मानी गयी है । साहित्यकार भी भाषागत नवीन प्रयोग द्वारा इसमें आकर्षण का विधान करता है, अभिव्यक्ति के सफल माध्यम के रूप में इसे प्रस्तुत करता है और इस प्रकार इसे जीवन्त बनाये रखने में अपना सहयोग देता है । इस दृष्टि से भी छायावादी कवियों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है । ''उन्होंने एक ओर तो अपनी काव्य रचनाओं द्वारा लाक्षणिकता, चित्रात्मकता एवं प्रतीकात्मकता से युक्त शिल्प-सौंदर्य के दर्शन कराये और दूसरी ओर अपनी काव्य भूमिकाओं तथा स्वतंत्र निबंधों द्वारा भाषा के इस नये रूप की प्रतिष्ठा का साग्रह प्रयास किया ।[1]

काव्य की शरीर यष्टि दो तत्वों से मिलकर बनी है - भाव-तत्व एवं कला-तत्व। भाव-पक्ष का संबंध काव्य के भावों से है और कला-पक्ष का उसके शरीर से। इन दोनों में भाव-पक्ष का महत्व अधिक है । यदि हमारे पास सशक्त भाव है, तो हम कलात्मक परिसज्जा के अभाव में भी उनकी प्रभावकारी अभिव्यक्ति कर सकते हैं । इसके विपरीत यदि हमारे पास भाव ही नहीं होंगे तो हम मात्र कला के बल पर प्रमाता को अधिक समय तक आकृष्ट नहीं कर पाएंगे । इसी से 'प्रसाद' भी भावाभिव्यक्ति में कला की प्रमुखता को अधिक महत्व नहीं देते हैं ।

भाव का कल्पना द्वारा प्रकाशन करने के लिए भाषा के माध्यम की आवश्यकता होती है । आध्यात्मिक काव्य की भाषा लाक्षणिक होती है । सम्पूर्ण अभिव्यक्ति एक विशिष्ट शैली द्वारा की जाती है । छंद आदि का विधान इसी के अंतर्गत

1- रमेशचन्द्र गुप्त - छायावाद की भाषा - पृ० - 28

आता है । आध्यात्मिक काव्य की सृजन-प्रक्रिया में भाव का महत्वपूर्ण स्थान है । भाव को कल्पना, भाषा और शैली द्वारा काव्य में परिणत कर देती है ।

'कामायनी' में भाव के साथ ही साथ अनेक दार्शनिक तथ्यों का भी वर्णन काव्य में हुआ है । अंतिम तीन दर्शन प्रधान-सर्गों में इसका स्वरूप मिलता है । 'दर्शन' में श्रद्धा-मनु का मिलन एक सर्वांग ज्योति का सृजन करता है । सम्पूर्ण वातावरण प्रकाशमय हो उठता है :-

''आनन्दपूर्ण तांडव सुन्दर
झरते थे उज्जवल श्रम सीकर
बनते तारा, हिमकर दिनकर
उड़ रहे धूलि कण से भूधर ।''[1]

इच्छा, ज्ञान, कर्म का वर्णन भावमय होकर भी वस्तु समन्वित है । 'कामायनी' में भाव तथा दार्शनिक वस्तु-वर्णन सूक्ष्म चित्रांकन के आधार पर ही हुआ है ।

किसी भी छायावादी कवि ता दार्शनिक पक्ष इतना सुलझा हुआ नहीं है, जितना प्रसाद का । उनके दार्शनिक विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे धरती को छोड़कर कल्पना के आकाश में उड़ान नहीं भरते । जैसे उनकी कामायनी ''जगत् की मंगल कामना अकेली ।[2] है वैसे ही उनका दार्शनिक दृष्टिकोण लोकमंगल की भावना को कभी भी ओझल नहीं होने देता है ।

अभिव्यक्ति में विलक्षणता लाने के लिए 'प्रसाद' जी ने शब्दों के विदग्ध प्रयोग को भी प्रमुख साधन माना है - ''शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है । समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं । भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है।''[3]

किंतु यह कौशल कविमात्र को अनायास ही प्राप्त नहीं होता । इसके लिए एक ओर वर्ण्य के गहरे आत्म-साक्षात्कार की अपेक्षा होती है और दूसरी ओर कवि को

1- प्रसाद - कामायनी - दर्शन सर्ग
2- रामविलास शर्मा - भाषा, युगबोध और कविता - पृ० - 126
3- जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ० - 122

शब्द की आत्मा की पहचान के प्रति भी संवेदनशील होना पड़ता है । डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने लिखा है - ''कविता में प्रचलित शब्दार्थ की अपेक्षा असमान्य शब्द-प्रयोग और तथाविध अर्थाभिव्यक्ति का विशेष महत्व होता है, जिसकी सिद्धि के लिए कविगण प्रायः लक्षणा-व्यंजना का आश्रय लिया करते हैं ।''[1]

'कामायनी' में भावों के अनुरूप ही भाषा का स्वरूप मिलता है । श्रृंगार और करुणा से परिपूर्ण काव्य प्रांजल, सरस भाषा को लेकर चला है । 'प्रसाद' का शब्द-चयन उनके प्रौढ़ शिल्प का परिचायक है । भावांकन के लिए वे उसके अनुकूल ही शब्दों का चयन करते हैं । भावों के वहन, उनकी अभिव्यंजना में भाषा सफल होती है ।

भाषा भाव 'कामायनी' में एक दूसरे के पूरक बनकर आये हैं । भाषा भावों का आवरण नहीं बन जाती अपितु वह उनके पीछे ही रह जाती है और अपने सहज माधुर्य प्रसाद गुण से भरकर वह भावों को लेकर चलती है । 'कामायनी' की शब्दशक्ति में लक्षणा, व्यंजना का ग्रहण अधिक है । भावों की साकारता भाषा की चित्रमयता पर निर्भर है और 'कामायनी' में चित्रों की प्रधानता है । समस्त मनोवृत्तियों को साकार रूप में चित्रित किया गया है । चिंता, काम सभी सजीव, प्राणमय, मूर्तिमान हो उठे हैं । 'कामायनी' की समस्त मनोवृत्तियां भाव चित्र बनकर आयी हैं । भाषा की विलक्षण चित्रमयता उन्हें प्रतिष्ठित करने में सफल हुई । लज्जा का सूक्ष्म भाव इसी कारण चित्रित हुआ है -

''कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती - सी ।
गोधूलि के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती - सी ।
* * * * * * * * *
वैसे ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए ।''[2]

1- डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त - भक्ति कालीन कवियों के काव्य - सिद्धांत - पृ० - 191

2- जयशंकर प्रसाद - कामायनी

वास्तव में 'प्रसाद' की भाषा की चित्रमयता अत्यन्त शक्ति सम्पन्न है । भाषा की दृष्टि से 'कामायनी' संगीतात्मकता, लाक्षणिकता, चित्रमयता, माधुर्य से सम्पन्न है, जो काव्य की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक होते हैं । संस्कृत शब्दों के होते हुए भी भाषा अपने माधुर्य को बनाये रखती है ।

'प्रसाद' की 'कामायनी' महान काव्य के समान भावभूमि की सहज शैली से निर्मित है । काव्य अपनी सरसता के साथ प्रवाहित होता है, दर्शन और चिंता अंतःसलिला की भांति उसी के साथ चलते हैं । भाव, विचार, एकरस होकर रस-संचार तथा आनंद-सृष्टि में सहायक होते हैं । काव्य में गीतिमयता का ग्रहण 'कामायनी' में अधिक मिलता है । गीति और संगीत तत्व का उसमें समावेश है । मनु का स्वाभाविक रूप, श्रद्धा की उद्यांत कल्पना, काम, कर्म आदि की व्यवहारिक परिभाषा उनके स्वतंत्र कल्पना का परिणाम है । भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टि में 'कामायनी' एक मौलिकता से अनुप्राणित . है ।

'कामायनी' में यथास्थान प्रसाद ने दार्शनिक तथा प्राचीन शब्दों का प्रयोग किया है । इनकी रूपरेखा में उन्होंने आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर के उन्हें व्यवहारिक बना दिया है । इसी से प्राचीनतम पौराणिक आख्या में भी नवीन विषयों का प्रतिपादन किया जा सका है । समरसता, आनन्द आदि शैव-दर्शन में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की उन्होंने धार्मिकता से रक्षा की है । उनकी यह समरसता आध्यात्मिकता की परिधि से निकलकर व्यक्ति, समाज और राजनीति तक आ गयी है । आनन्द भी केवल आध्यात्मिक जगत्, रहस्यमय प्रदेश तक सीमित नहीं रहा है । दर्शन में प्रयुक्त शब्दों की रूढ़िवादिता उन्होंने समाप्त कर दी है । देव-दानव-संघर्ष की पौराणिक गाथाओं से उन्होंने मानस जगत् के संघर्ष की कल्पना की है । देवत्व को भी अपूर्ण कहकर 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने मानवता को प्रतिष्ठित किया है ।

'कामायनी' का वस्तु विन्यास अधिक विस्तृत न होकर भावमय और केंद्रित है। मानवता का प्रतीक मनु आधुनिक संघर्षशील व्यक्ति का ही प्रतीक है । अपनी आन्तरिक भावनाओं से लेकर जीवन की भौतिक समस्याओं तक वह युद्ध करता है और मानव की संपूर्ण जिज्ञासा से वह रहस्यमय संसार को देखता है । 'कामायनी' का मनु स्वर्ग की कामना न करके, पृथ्वी पर ही समरसता और आनन्द को प्राप्त करता है । देवत्व की अपूर्णता को जान लेने वाला व्यक्ति अब उस भोग-विलास की कामना नहीं करता है ।

जीवन के जिस महान सत्य को उन्होंने कठिन साधना से प्राप्त किया, उसे मानवता के ही कल्याण में लगा दिया। 'कामायनी' का मनु आधुनिक मानव ही है।

'प्रसाद' ने युगों से चलने - वाले देवासुर संग्राम तथा अलौकिक तत्व को ग्रहण नहीं किया है। देवासुर का बाह्य रूप मनु में आंतरिक स्वरूप धारण कर लेता है। मनु की दानवी वृत्तियों पर दैवी वृत्तियों की विजय नहीं होती बल्कि दोनों में समन्वय हो जाता है।

"अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के कारण 'कामायनी' की शैली वर्णनात्मक नहीं है। भावाभिव्यंजना का सरस माध्यम 'गीतिकाव्य' है। 'कामायनी' में गीतितत्व प्रमुखता पा जाता है। वर्णन प्रधान महाकाव्य में इसका अभाव देखा जाता है। 'प्रसाद' ने अपने भावों के अनुरूप ही इस शैली को अपनाया। गीतात्मक शैली द्वारा महाकाव्य का निर्माण कवि का मौलिक प्रयास है। वर्णनात्मकता की दृष्टि से अपर्याप्त होकर भी 'कामायनी' कलात्मक सौंदर्य में आगे बढ़ जाती है।"[1] लक्षण ग्रंथों का अनुसरण न करती हुई भी 'कामायनी' अपने जीवन दर्शन, काव्य सौष्ठव मानवीय व्यापार के आधार पर आध्यात्मिक महाकाव्य का पद प्राप्त करती है।

'प्रसाद' के संबंध में रामविलास शर्मा जी ने लिखा है - "वह उन लोगों में न थे, जो संसार छोड़कर अरूप सौंदर्य की खोज में मारे-मारे फिरते हैं।" वे उन विचारों की आलोचना करते थे, जो संसार को दुःख का कारण मानते थे। सत्य और सौंदर्य के दर्शन वे इसी संसार में करते थे।

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह भूत विश्व सचराचर,
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत् चिर सुन्दर।[2]

मायावादी विचारक सत्य और सौंदर्य को इस गतिशील संसार के परे मानते हैं। उनका ज्ञान मानव-जीवन और मानव क्रियाओं से परे होता है। वे मानव-भाषा को बार-बार

1- डॉ० प्रेमशंकर - प्रसाद का काव्य - पृ० - 403
2- रामविलास शर्मा - भाषा युगबोध और कविता - पृ० - 126

कोसते हैं कि वह उनके अगोचर ज्ञान का वाहन नहीं बन सकती । इनके विपरीत प्रसाद जी भाषा और विचारों का अन्योन्याश्रय संबंध स्वीकार करते हैं ।

'प्रसाद' का विकसित रूप 'प्रेम पथिक' में दिखायी पड़ता है । प्रेम-पथिक में कवि ने प्रेम-दर्शन की स्थापना की है । अभी तक कवि का मानव प्रकृति के लिए था और अब प्रकृति मानव के लिए हो जाती है । कवि एक ऐसे मानवीय धरातल पर पहुंच गया है, जहां संसार उसे सौंदर्य का सुधासागर मालूम होता है । विश्व स्वयं ईश्वर है । विश्व के अणु कण-कण में सौंदर्य है । विश्व प्रेम के अंतर्गत प्रकृति भी है । उस सुन्दरतम् की सुन्दरता विश्वमात्र में छायी है । स्वयं प्रकृति भी किसी असीम में मिलने को व्याकुल है -

> ''आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
> प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है ।''[1]

'प्रेम पथिक' के प्रेम दर्शन और जीवन-सिद्धांत में 'प्रसाद' जी का विकास विद्यमान है । जीवन-दर्शन की दृष्टि से यह प्रसाद जी की प्रथम प्रौढ़ रचना है । इसमें कवि का उपनिषद्, शैवग्रन्थों आदि का अध्ययन इसमें आभासित होता है । चिन्तन, मनन के पश्चात् उन्होंने स्वयं अपने स्वतंत्र दर्शन की स्थापना की है । प्रेम-पथिक के पात्र जीवन के कटु अनुभवों के पश्चात ही इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि समस्त संसार में ईश्वर की सत्ता निहित है -

> ''किन्तु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द, विश्वव्यापी कर दो
> क्षणभुंगर सौंदर्य देखकर रीझो मत, देखो, देखो
> उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छायी है ।''[2]

प्रेम-पथिक में आकर कवि मानव को पूर्णरूप से स्वीकार कर लेता है और मानव ही उसका ईश्वर है । प्रेम और प्रभु में कोई अंतर नहीं है । 'प्रसाद' का प्रेम अनेक दर्शनों से मिलकर एक उच्च भावनाभूमि पर पहुंच गया है ।

'कानन-कुसुम' के कवि को सर्वत्र ही ईश्वर की सत्ता का आभास मालूम होता है । वह निर्विकार लीलामय की शक्ति नहीं जान पाता है । चन्द्रिका, नदी, उपवन सभी

1- डॉ० प्रेम शंकर - प्रसाद का काव्य - पृ० - 126
2- डॉ० प्रेम शंकर - प्रसाद का काव्य - पृ० - 126

में दयानिधि की ही छाया दिखायी पड़ती है । एक जिज्ञासु दर्शक की भांति वह विमल इन्दु की विशाल किरणों में अनादि की अनन्त माया देखता है । जो 'प्रेममय' सर्वेश सर्वव्यापी है और इस प्रकार भक्ति का स्थान दर्शन को मिल जाता है । इस दर्शन का विकास आगे चलकर किसी आध्यात्मिक आधार पर नहीं होता है । वह 'प्रसाद' का ही कठोर जीवन-दर्शन है, जिसका निर्माण उन्होंने अध्यन की छाया में अपने सांसारिक अनुभवों के आधार पर किया है ।

'आंसू' का आलंकारिक, किन्तु मादक रूप-वर्णन, लौकिक धरातल के प्रणय की ओर संकेत कर देता है । केवल 'महामिलन' अथवा 'अज्ञात प्रियतम' के कारण 'आंसू' को रहस्यवादी भावनाओं के बंधन में नहीं बाधा जा सकता है ।

'प्रसाद' ने गीतिकाव्य के द्वारा 'आंसू' में जिस प्रणयानुभूति का प्रकाशन किया है उसका आलम्बन सर्वथा लौकिक है और यह लौकिक संवेदना ही आध्यात्मिक काव्य का प्राण है । 'आंसू में अनुभूति की सच्चाई उसकी महानता है । वह कवि की साहसपूर्ण अभिव्यक्ति है । हिन्दी में जब किसी भी कवि के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह ऐसी बातें कहे, तब 'प्रसाद जी' ने ही उन्हें कहा । यह साहस और कवि की संवेदना स्वतः ही काव्य को आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर ले गयी है । दूसरे अध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नहीं ।''[1]

'आंसू' का कवि किसी रहस्यमय अथवा अलौकिक सत्ता से प्रणय संबंध नहीं करता । 'आंसू' की वेदना, दर्शन आध्यात्मिक और दार्शनिक निराशावाद की प्रवृत्तियों से पृथक है । उसमें कवि के जीवनानुभव का योग है, किसी आध्यात्मिक अथवा वैराग्य की छाया नहीं । कवि जिस गाम्भीर्य के साथ प्रलाप करता है, उसी गम्भीरता से वेदना को वरदान स्वरूप ग्रहण भी करता है ।

'आंसू' का कवि लौकिक को व्यापकत्व प्रदान कर व्यष्टि को समष्टि बना देता है । 'प्रसाद' के 'आंसू' की प्रेम कल्पना लौकिक भूमि पर प्रतिपादित है । तथा इनकी प्रेम-भूमिका लौकिक और मानवीय है, उसका विकास भी सांसारिक धरातल पर होता है और उसकी परिणति होती है, उदात्त विश्वप्रेम या सर्वतोमुखी करूणा में ।

1- नन्द दुलारे बाजपेयी - जयशंकर प्रसाद - पृ० - 67

'आंसू' में चिंतन का योग वेदना-दर्शन को लेकर हुआ है । आरम्भिक छंदों की आत्मा है, वियोग भावना और अंतिम भाग का प्राण है, उसका दार्शनिक निरूपण । अतः भावना और चिंतन दोनों के ही योग से 'आंसू' का एक विशिष्ट स्थान है ।

भाव, भाषा, शैली की दृष्टि से 'आंसू' आधुनिक आध्यात्मिक कविता की उस विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें प्रेम की स्वाभाविक प्रकृति और प्रक्रिया को प्रधानता दी गयी है । 'आंसू' का निराशावाद जीवन में जड़ता नहीं लाता, बल्कि एक सुन्दर गीत सृष्टि के रूप में 'आंसू' एक सफल रचना है । इसमें गीतिकाव्य के सारे उपादानों का समावेश है । सरस, सघन भावना, संगीत, व्यक्तिगत अनुभूति, समन्वित प्रभाव आदि के प्रतिपादन में यह (आंसू) सफल है ।

'आंसू' काव्य में दार्शनिक चिंतन या अनुभूति का योग मूल वियोगानुभूति से एकतान हो गया है, दोनों की कोई पृथक सत्ता नहीं रह गयी है । इसमें मर्मस्पर्शी वैयक्तिक अनुभूति के साथ उदात्त दार्शनिक अनुभूति इतनी गहराई में जाकर जुड़ गयी है कि दोनों में पूर्व अभिन्नता स्थापित हो गयी है ।

वेदना का दर्शन रूप में प्रकाशन काव्य में प्रस्तुत हुआ है । बौद्धों ने करुणा दर्शन की उद्भावना अवश्य की, परंतु साहित्य में उसकी अधिक प्रतिष्ठा नहीं कर सके। 'आंसू' के विरह में भी जीवन के जो आशावाद निहित है, वहीं उसकी अमूल्य निधि है । अतः 'आंसू' लौकिक रूप में प्रस्तुत हुआ है ।

'प्रसाद जी' की शैली में बड़ी सादगी है और इसी सादगी के कारण कई बार उनके विचारों की गहराई को पहचानना कठिन हो जाता है । उनका सामाजिक दृष्टिकोण उनके दार्शनिक विचारों का पूरक है । उनका आदर्श यह था कि -

> ''शापित न यहां है कोई
> तापित पानी न यहां है ।
> जीवन वसुधा समतल है
> समरस है जो कि जहां है ।''[1]

1- रामविलास शर्मा - भाषायुगबोध और कविता - पृ० - 127

और समस्त मानव-समाज धीरे-धीरे इसी आदर्श की ओर बढ़ रहा है । कवि का समस्त कौशल शब्द शिल्प पर ही निर्भर होता है । जो कवि जितना ही अधिक शब्दों की अंतरात्मा का पारखी होता है वह उन्हें उतनी ही भाव-भंगिमाओं के अनुकूल प्रयुक्त करता हुआ अर्थ-द्योतन में समर्थ होता है । उदाहरणस्वरूप 'लहर' के निम्नलिखित अवतरण के शब्द-चयन देखने योग्य है -

उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर ।
करुणा की नव अंगराई - सी,
मलयानिल की परछाई - सी
इस सूखे तट पर छिटक लहर ।''[1]

'प्रसाद' जी ने भावाभिव्यक्ति की आवश्यकतानुसार छोटे-छोटे कोमल शब्दों द्वारा ही कविताओं का सृजन किया है । जैसे -

श्यामल-अंचल धरणी का भर मुक्ता आंसूकन से
छूंछा बादल बन आया मैं प्रेम-प्रभात-गगन से ।''[2]

'प्रसाद' जी शब्दों की अंतरात्मा पहचानने में बहुत ही सक्षम थे जो शब्द जिस स्थान पर जिस अर्थ पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया गया है, उसका पर्याय शब्द उक्त स्थान की पूर्ति कभी भी नहीं कर सकता । उदाहरण स्वरूप :-

''शशिमुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूलि में कौतूहल से तुम आये ।''[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में 'शशिमुख' की स्निग्धता एवं सौंदर्य, घूँघट की नवोदिता गोधूलि की सुखद अवसान बेला, कौतूहल की चपलता की व्यंजना उनके पर्याय शब्दों से सम्भव नहीं है । छायावादी युग की आध्यात्मिक काव्य-भाषा का अपनी महत्ता, सशक्तता सौंदर्य और पूर्ण भाव व्यंजकता बहुत कुछ उपयुक्त विशेषणों के निर्माण और चयन से ही संबंधित है । उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियां द्रष्ट्व्य हैं -

''क्यों व्यथित-व्योम-गंगा-सी छिटका कर दोनों छोरें
चेतना-तरंगिनी मेरी लेती है मृदुल हिलोरें ।''[4]

1- जयशंकर प्रसाद - लहर - पृ० - 9
2- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ० - 82
3- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ० - 19
4- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ० - 8

आध्यात्मिक काव्य में शब्द-चयन पर ही श्रुति-माधुर्य और शब्द संगीत निर्भर रहता है । शब्द-चयन काव्य-भण्डार एवं शब्दों की आत्मा की परख पर 'प्रसाद' जी माधुर्य गुण के उपासक भावुक कवि थे । शब्द-चयन की इसी अनुपम सिद्धि द्वारा ही उन्होंने अनेक स्मृति चित्र भी निर्मित किए हैं । उदाहरणस्वरूप निम्नांकित उद्धरण में कथन के अनुकूल ही शब्द-ध्वनि की योजना भी शब्द चयन की कला को मुखर करती है -

''जब लिखते थे तुम सरस हंसी अपनी फूलों के अंचलमें,
अपना कलकंड मिलाते थे झरनों की कोमल कल-कल में ।''[1]

स्मृति चित्र -

घन में सुन्दर बिजली सी - बिजली में चपल चमक सी
आंखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक सी ।[2]

शब्द-चयन के साथ-ही-साथ चित्रकला को भी कवि ने बहुत ही कौशल के साथ काव्य में समाहित किया है -

''प्राची के अरुण मुकुर में, सुन्दर प्रतिबिंब तुम्हारा,
उस अलस उषा में देखूं, अपनी आंखों का तारा
कुछ रेखायें हों ऐसी जिनमें 'आकृति' हो उलझी ।''[3]

स्मित, स्तर-स्तर, स्पंदन आदि 'प्रसाद' जी के प्रिय शब्द हैं -

''कोमल कपोल पाली में सीधी सादी स्मित रेखा ।''[4]

डॉ० रामकुमार सिंह के शब्दों में - ''प्रसाद जी की काव्य-भाषा अपने माधुर्य की अरुणिमा से आकर्षित करते हुए भावों के मादन-मरंद को विकीर्ण करती हुई उसका अनुगमन करती है, स्वाभाविकता और प्रवाह में कहीं भी बाधा नहीं उपस्थित होती हुई प्रतीत होती है ।''[5] अतः हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी के शब्द अनुभूति के अनुसार ही मधुर और गहरे हैं, लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी कुछ स्थानों पर उनकी

1- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - पृ० - 72
2- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ० - 19
3- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ० - 6
4- जयशंकर प्रसाद - आंसू - पृ० - 22
5- डॉ० रामकुमार सिंह - आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा - पृ० - 561

आध्यात्मिक काव्य-भाषा के उस अभिजात्य स्तर में थोड़ी सी न्यूनता भी आ गयी है । छायावादी कवियों की यही विशेषता रही है कि उन्होंने अपने आंतरिक भावों के उद्‌घाटन के लिए नवीन अभिव्यंजना-प्रणाली का आश्रय लिया था । 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबंध में 'प्रसाद' जी ने इस प्रवृत्ति का समर्थन निम्नांकित शब्दों में किया है -

"अभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य - स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है । सूक्ष्म, आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था । हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी । - - - - - - शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया ।"[1]

आधुनिक हिन्दी छायावाद में स्त्री अप्सरा हुई, देवी हुई, श्रद्धा हुई किंतु उसे साक्षात् मानवी, सहचरी, साधारण मनुष्य जिसका अपना निजत्व तथा व्यक्तित्व होता है, नहीं समझा गया । अद्वैतवाद ने एक ओर सामाजिक संघर्ष से बचने का न केवल भाववादी या रहस्यवादी रास्ता तैयार किया, वरन् व्यक्तिवादी अन्तर्मुखी अभिप्रायों को आत्मगरिमा भी दी । किंतु, सामन्ती सामाजिक बन्धनों से व्यक्ति की मुक्ति के वास्तविक सामाजिक संघर्ष को न उसने गति दी, न उस संघर्ष के लक्ष्य-आदर्श तथा उसके दौरान में सृजित होने वाले व्यावहारिक जीवन-मूल्य ही स्थापित किये । अद्वैतवाद का दर्शन संघर्ष का दर्शन नहीं है । वह मूलतः एक असामाजिक दर्शन है । अतएव उसने असामाजिक प्रणाली पर ही व्यक्तिवाद का परिस्फुटन किया । साथ ही इस दर्शन ने स्त्री और पुरुष के परस्पर संबंध को समाजातीत और नैतिकता से परे बताते हुए उसे नवीन आध्यात्मिक रूप दिया । जैसे -

"तुमहो कौन, और मैं क्या हूं
इसमें क्या है धरा, सुनो ।
मानव जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज उदार बनो । "[2]

1- प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ० - 122

2- गजानन माधव मुक्तिबोध - कामायनी एक पुनर्विचार - पृ० - 22

'प्रसाद जी नवीन शब्द विन्यास और शैली की भंगिमा को बुरा नहीं मानते थे । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ''उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता । भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है, उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए ।''[1]

भाषा को भावों के अनुकूल ही गतिशील होना चाहिए । कोमल भावों के वर्णन में तो शब्द लालित्य उचित है, किंतु यदि पुरुष भावाभिव्यक्ति में भी कवि उसका आश्रय लेगा तो सम्पूर्ण कवित्व ही खण्डित हो जाएगा । ''सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे अरथु अमित अति आखर थोरे ।''[2] द्वारा भक्ति-काल में गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी ओर संकेत किया था ।

1- जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ० - 125

2- गोस्वामी तुलसीदास - रामचरित मानस - पृ० - 251

निराला की आध्यात्मिक कविता की भाषा और शिल्प विधान

छायावादी कविता को एक नई दिशा देने वाले कवियों में महाप्राण निराला का महत्वपूर्ण स्थान है । मुक्त छंद के सफल प्रयोक्ता के रूप में तो उनका नाम अमर है ही, काव्य रचना की प्रक्रियादि के विवेचन के प्रति भी वे पर्याप्त जागरूक थे । उनकी काव्य संबंधी मान्यताएं मुख्यतः 'प्रबंध-प्रतिभा', 'प्रबंध-पद्म', चाबुक' तथा 'चयन' नामक निबंधों में उपलब्ध हैं । काव्य-शिल्प के अंतर्गत आध्यात्मिक काव्य-भाषा के संबंध में उनकी धारणाएं अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । अपनी मौलिक कवि प्रतिभा के अनुरूप उन्होंने भाषा-संबंधी आदर्शों को प्रचलित परम्परा से हटकर नवीन रूप में प्रतिपादित किया है ।

'साहित्य और भाषा' शीर्षक लेख में 'निराला' जी ने भाषा के संबंध में लिखा है -''हमारा यह अभिप्राय भी नहीं कि भाषा मुश्किल लिखी जाये, न ही उसका प्रवाह भावों के अनुकूल ही रहना चाहिए । अपने आप निकली हुई और गढ़ी हुई भाषा छिपती नहीं । भावानुसारिणी भाषा कुछ मुश्किल होने पर भी समझ में आ जाती है ।''[1]

एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्वीकारा है -''किसी भाव को जल्दी और आसानी से तभी हम व्यक्त कर सकेंगे, जब भाषा पूर्ण स्वतंत्र और भावों की सच्ची अनुगामिनी होगी ।''[2]

धर्म और दर्शन के अलावा 'निराला' भाषा और साहित्य की समस्याओं के बारे में भी सोचा करते थे ।

'अध्यात्मक-फल', 'तुम और मैं' तथा माया कविताओं की सम्वेदना दार्शनिक जमीन का स्पर्श करते हुए भी विभिन्न भाषिक-संरचना के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है । 'अध्यात्म-फल' की भाषा और कथन भंगिमा में एक गहरे व्यंग्य की अनुभूति दिखायी देती है । जबकि 'माया' और 'तुम और मैं' संस्कृत की ध्वनि-लहरियों से युक्त एक नयी भाषिक-संरचना का संकेत देतीहै । 'अधिवास' अपनी ही आध्यात्मिक सिद्धि और 'परमपद लाभ' की आकांक्षाओं वाली काव्य रचना से पृथक जन-सामान्य के संस्पर्श की

1- निराला - प्रबंध-पद्म - पृ० - 27

2- निराला - चयन - पृ० - 26

एक शक्तिशाली उद्घोषणा अवकाश के समय 'निराला' रामचरित मानस पढ़ते थे । रामकृष्ण मिशन के सन्यासियों के संसर्ग से वह जो अद्वैत ज्ञान कमाते थे, उसकी कसौटी पर तुलसी की विचारधारा को परखते थे कि जमींदार रवीन्द्रनाथ और गृहत्यागी कवि का पक्ष लेना उनके लिए स्वाभाविक था । उन्होंने समन्वय के लिए एक लेख लिखा- 'तुलसीकृत रामायण में अद्वैतवाद' । इसमें तुलसी का सार्वभौम महत्त्व घोषित करते हुए उन्होंने लिखा है- "हिन्दी का सौभाग्य है कि उसके काव्यकुंज की तुलसी मंजरी का जैसा सुगंध, संसार की साहित्य वाटिका में शायद कहीं नहीं ।"[1]

ब्रह्म-समाजी मूर्ति पूजा आदि को ढ़ोंग समझते थे, रामकृष्ण हर उपासना पद्धति को ईश्वर प्राप्ति के लिए उचित मानते थे । ब्रह्म-समाज में ज्ञान पर अधिक जोर था, रामकृष्ण-मत में भक्ति पर । सूर्यकांत को रामकृष्ण के संस्कार तुलसी के संस्कारों से मिलते-जुलते लगे ।

यद्यपि निराला जी स्वाभाविक भाषा के समर्थक थे, परंतु फिर भी क्लिष्ट भाषा का प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया है । 'तुलसीदास' और 'गीतिका' की भाव बोझिलता की ओर तो उनका स्वयं भी ध्यान गया है ।

यदि सूक्ष्म अभिव्यक्ति के समय स्वाभाविकता के धुन में आवश्यकता से अधिक सरल शब्दावली का प्रयोग किया जाएगा तो कदाचित भाव अस्पष्ट रह जाएंगे, यह सोचकर 'निराला' जी ने उदात्त भावों के प्रतिपादन में क्लिष्टता को दोष न मानकर इसे सहज-स्वाभाविक माना है- "तुलसीदास जी की विनय-पत्रिका मास्टर-पीस होते हुए भी जनप्रिय एवं सरल इसलिए है कि भाषा क्लिष्ट होते हुए भी भावों में बड़ी गम्भीरता है, किंतु हम लोग सरल (भाषा) लिखते हैं जिसके कारण भाव प्रायः स्पष्ट नहीं हो पाते । इसी कारण लोग कविता को क्लिष्ट कहते हैं, किंतु बात बिल्कुल इसकी उल्टी है । उच्चभावों की अभिव्यक्ति के लिए तद्नुरूप भाषा भी होनी चाहिए ।"[2]

'निराला' ने एक कविता लिखी 'तुम और मैं'। इसमें भाषा का जो नया मृदंग हाथ लगा था, उसे खूब जोर से उन्होंने बजाया । आधुनिक हिंदी कविता में ऐसी गंभीर ध्वनि वाली मधुर पदयोजना इससे पहले नहीं हुई थी -

---

1- रामविलास शर्मा -निराला की साहित्य-साधना - पृ० - 54

2- निराला - महाकवि निराला-संस्मरण - श्रद्धांजलियां - पृ० - 55

''तुम तुगं हिमालय - श्रृंग
और मैं चंचल - गति सुर - सरिता ।
तुम विमल हृदय - उच्छवास
और मैं कांत कामिनी - कविता ।
तुम प्रेम और मैं शांति,
तुम सुरापान - घन - अंधकार,
मैं हूं मतवाली भ्रांति ।''[1]

परब्रह्म की माया की चर्चा में संभवतः 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' पहले कवि थे जिन्होंने ब्रह्म को सुरापान-घन-अंधकार कहा था और माया को मतवाली भ्रांति । वह अपनी विचित्र द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति से जीवन के नये अनुभवों का वेदांत - ज्ञान से मेल करा रहे थे । ब्रह्म-सुरापान-घन-अंधकार ही नहीं था, वह मदन पंचशर हस्त भी था और माया मुग्धा नायिका भी ।

'निराला' ने अपनी कविता 'अधिवास' में अपने मन की शंकाएं व्यक्त करते हुए लिखा कि - ब्रह्म में कोई गति नहीं होती, गति संसार में है । दुःखी जनों को देखकर हृदय में करुणा उमड़ आती है । करुणा से दुःखियों को सहारा देना मानव-धर्म है । भले ही कोई इसे माया कहे, परंतु निश्चल ब्रह्म में लीन होने से करुणा की इस माया में फंसे रहना अच्छा है -

''छूटता है यद्यपि अधिवास,
किंतु फिर भी न मुझे कोई त्रास ।''[2]

अध्यात्म, भक्ति, गहन, प्रेम अवसाद, उदासी, खिन्नता, आत्म-साक्षात्कार या प्रकृति की छलछलाती हुई छवि के प्रति कवि 'निराला' का प्रगाढ़ भाव सम्वेदना उसकी ये भिन्न-भिन्न ध्वनियों, अर्थों और रंगों की काव्य दृष्टियां और रचनास्तर लगातार प्रारम्भिक कविताओं से ही मिलने शुरू हो जाते हैं ।

1- निराला - तुम और मैं - परिमल - पृ० - 58
2- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - पृ० - 59

''प्रेम को आंतरिक और ब्राह्य परम पावन अनुभूति से मण्डित करके उसे आत्म-मुक्ति के सोपान तक ले जाने वाले कवि, आधुनिक युग में अकेले निराला हैं ।''[1]

आध्यात्मिक अनुभवों का एक सजीव चित्रण हमें 'निराला' के काव्य में मिलता है । उन्होंने ज्ञानात्मक निसंगता और भावात्मक संलग्नता दोनों के अत्यंत सुन्दर चित्र हमें दिए हैं । ज्ञान आनंदनीय बनकर हमें आत्मविभोर कर देता है और जगत् से हटकर हम ब्रह्म में केंद्रित हो जाते हैं । उसी तरह प्रेम, करुणा, बलिदान और त्याग के क्षणों में हम आत्मोपलब्धि करते हैं । ''कौन तम के पार रे कह'' गीत में ज्ञान में मुक्ति का चित्र है तो ''कैसी बजी बीन'' गीत में भक्ति में मुक्ति की कल्पना है । प्रमुखतः एक होने पर भी दोनों अनुभवों की भाव-प्रणाली और अभिव्यंजना कला भिन्न है । ये उत्कृष्ट अध्यात्मानुभव साधक को निष्क्रिय बनाकर अपने भीतर समेट नहीं लेते । वे उसे नई शक्ति से सम्पन्न कर फिर धरती पर लौटा देते हैं । एक नया अपनापन उसके भीतर जागता है । 'निराला' के इन शब्दों में उसका चमत्कार दिखायी देता है -

''खुल गया रे अब अपनापन,
रंग गया जो वह कौन सुमन ?
सोचना इन नयनों का प्यार,
अचानक भरा सकल भाण्डार,
आज और ही और संसार
और ही सुकृत मंजु पावन ।''[2]

'निराला' का काव्य भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के भीतर से आया है । यह सांस्कृतिक परम्परा अध्यात्म को केंद्र में रखती है और ब्रह्मदृष्टि से जगत् को देखती है । उसमें रूप से वितृष्णा है तो रूप में अरूप देखने की सार्थकता भी है । एक है ज्ञानमार्ग, दूसरा भक्तिवाद । दार्शनिक परिभाषा में इसे निर्गुण-सगुण का विरोध कहते हैं । परंतु भारतीय अध्यात्म इन दोनों के परे देखता है । ''रूप को मायात्मक मानकर उसे उड़ा दे या उसी में अरूप को देखे, लक्ष्य एक ही है जो अपरा से परा की ओर जाना है । अपनी-अपनी सामर्थ्य और अपना-अपना भाग्य । इसी से संत और भक्त में हमारी

1- दूधनाथ सिंह - निराला आत्महन्ता आस्था - पृ० - 49
2- निराला - गीतिका - पृ० - 82

अध्यात्म परंपरा कोई विरोध नहीं मानती और अद्वैती अहं क्षण भर में द्वैती प्रणति में बदल जाता है । प्रमाण पिछले तो है हीं, नया प्रमाण निराला का काव्य है । उसकी भाषा नई परम्परा को निर्वाह करती है ।''[1]

''निराला' के सारे गीत एक ही लम्बी कविता के खण्ड-खण्ड रूप हैं । उनकी कविता का केंद्रीय भाव, सुख, पावनता, आत्मतोष, आशीष और अंततः निष्कामता की चरम अनुभूति है । आश्चर्य की बात यह है कि यह कहीं से जरा भी कृत्रिम नहीं है ।

''आत्म मुक्ति ही निराला के प्रेमगीतों का सूक्ष्म भाव सम्वेदन है । यहीं आकर निराला साधारण और रोमैण्टिक गीतकारों से अलग हो जाते हैं । यहीं आकर वे मध्यकालीन गीतकारों से भी पृथक और सर्वथा स्वतंत्र और मौलिक गीतकार के आसन पर बैठते दिखायी देते हैं । क्योंकि वे प्रेम को अशरीरी न मानते हुए भी उसकी सम्पूर्ण अनुभव-प्रक्रिया से गुजर कर, उससे संतों से भी अलग, एक-दूसरे कोटि की अशरीरी अनुभूति प्राप्त करते हैं । वे उसे माया और दिग्भ्रमित करने वाला सांसारिक आकर्षण मात्र मानकर उसे त्याज्य नहीं समझते, बल्कि उसमें डूबकर उसकी उच्छल पवित्रता की गरिमामयता को संकेतित करते हैं । इसलिए 'निराला' के प्रेमगीतों को न तो स्वच्छन्द रोमैन्टिक गीतकारों के गीतों की कोटि में रखा जा सकता है, न ही संतों के प्रेम के सचराचर प्रसार की अशरीरी अभिव्यक्ति के अंतर्गत इन दोनों से ही अलग उनके गीत उनके निजी जीवनबिम्ब के संगोपन चित्र हैं ।''[2]

'निराला' प्रेम के माध्यम से व्यक्तित्व की पूर्णता का संदेश देते हैं । वह प्रेम का मौन आह्लाद अतीत और भविष्य की अंधेरी जगहों को घेर कर बैठा है । उस अंधेरे से पलायन नहीं है, उसे घेर कर वश में रखना है । भाषा के मौन से उसकी शल्यचिकित्सा करनी है, जिससे उत्थान और पतन की रोग जर्जरता से मुक्ति मिले । यही उसका उद्देश्य भी है । क्योंकि यह उत्थान और पतन का निरंतर आघात् पैदा करता है; मनुष्य की आंतरिक आस्था और पावनता को खण्डित करता है । सिर्फ प्रेम ही वह तत्व है, जिससे 'निद्वान्द्व' और निर्भर स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है ।

1- रामरतन भटनागर - निराला - नवमूल्यांकन - पृ० - 165
2- दूधनाथ सिंह - निराला आत्महन्ता - आस्था - पृ० - 36

''निराला'' उसी 'अशेष प्रणय' को सारी सृष्टि में रमा हुआ देखते हैं । उसकी लहरें आप्लवनकारी होती हैं - उसकी पवित्रता और ओजस्विता को सहन करना आसान नहीं है । 'निराला' यह आह्वान करते हैं कि आओ हम उसकी आप्लवनकारी लहरों का निरंतर आघात सहें और अपने भय, द्वन्द्व और अंधेरे को पवित्र करें ।

''निराला प्रेम की अपनी धारणा को दार्शनिक या रहस्य-रूपक में नहीं खींचते। जहां जायसी और रवीन्द्रनाथ नितान्त लौकिक बिम्बों को दार्शनिक रूपक का संकेत देने के लिए काम में लाते हैं, वहीं निराला रहस्यात्मक और दार्शनिक बिम्बजालों से निजत्व की सीधी-सादी अभिव्यक्ति का काम निकालते हैं ।''[1]

निराला की कविता का सबसे मुख्य स्वर उनकी आत्म-साक्षात्कार की कविताओं में व्यक्त हुआ है । निजत्व की सघनतम, निकटतम पहचान केवल उनके गीतों में ही नहीं व्यक्त हुई है उसकी झंकार उनकी दूसरी रचनाओं में भी सुनायी पड़ती है ।

''अध्यात्मवादियों के लिए यह संसार कारागार है । मनुष्य की देह कारागार है, जिसमें आत्मा बंदी है । निराला इस आशय से संसार को कारागार नहीं कह रहे हैं। संसार कारागार इसलिए है कि यहां मनुष्य आपस में मिलकर मनुष्य की तरह नहीं रहते, स्वार्थ के कारण सब एक दूसरे से अलग हैं -

''बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेर कर ।''[2]

कारुणिक अवसन्नता और एक गला देने वाली उदासी का साक्षात्कार निराला अपने रचना जीवन के प्रारंम्भावस्था से ही करते हुए दिखायी पड़ते हैं, क्योंकि उनके जीवन के प्रारंभिक काल से ही उन पर दैवी और सांसारिक विपत्तियों का पहाड़ टूटना प्रारंभ हो गया था । इन्हीं दुखान्तों और विडम्बनाओं की उच्छल अविस्मरणीय अभिव्यक्ति 'निराला' के गीतों में हुई है ।

1- दूधनाथ सिंह - निराला आत्महन्ता आस्था - पृ० - 40

2- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - पृ० - 253

अपनी नियति को मनुष्य-मात्र की सामूहिक नियति मानकर भुगतने में जो एक शामिल होने का भाव है, वह निराला के इस तरह के गीतों की करुणा में भी सहनशीलता की ऊँचाइयों को दर्शाता है -

''देख चुका, जो जो आये थे
चले गए ।
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गये ।
क्षण भर की भाषा में
नव-नव अभिलाषा में
उगते पल्लव से कोमल शाखा में,
आये थे जो, निष्ठुर कर से
मले गये ।
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गये ।
चिन्ताएं बाधाएं
आती ही हैं, आयें
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लायें
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे छले गये ।''[1]

एक गहरे अंधेरे, एक भयावह विनाश की कारुणिक अनुभूति इस कविता में व्यथित हुई है ।

'निराला' ने 'राम की शक्ति पूजा' में मिथकों का या बिम्बों का प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि तब-तक काव्य-शिल्प इतना विकसित नहीं था ।

''इसके ठीक विपरीत विवरण की भाषा से निजात पाने या उस पर काबू पाने के लिए छायावादी कवि शब्द के भीतर ही लयात्मक दृश्य या श्रव्य बिम्बों की सृष्टि करता था । शब्द के लयात्मक बिम्बों का ही उपयोग 'निराला' ने 'राम की शक्ति पूजा' में करके उसके विवरण की सपाटता को झीना किया है ।''[2]

1- दूधनाथ सिंह - निराला आत्महन्ता आस्था - पृ० - 70
2- दूधनाथ सिंह - निराला आत्महन्ता आस्था - पृ० - 156

'निराला' का काव्य पूर्ववर्ती आध्यात्मिक काव्य की सारी परम्परा को आत्मसात करता हुआ भी अपने नए पन में महत्वपूर्ण है और उसमें उनके जाने - पहचाने साधकों की साधनाएं और सिद्धियां ही प्रकाशित हुई हैं ।

'अनामिका (द्वितीय संस्करण) और गीतिका में 'निराला' अपने लौकिक जीवन की असफलताओं, विद्रोही व्यक्तित्व, देशप्रेम, प्रकृति और कलाकारिता में सिमट गए हैं, परंतु उनका आध्यात्मिक स्वरूप भी निखरा है । उसकी अभिव्यक्ति में उतनी मार्मिकता भले ही न हो, जितनी 'परिमल' की रचनाओं में थी, परंतु भावना और अभिव्यंजना दोनों में परिष्कार मिलेगा ।''[1]

'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' में उन्होंने अपने व्यक्तिगत संघर्षों को राम और तुलसी में प्रतीकबद्ध कर अपने द्वन्द्व को आध्यात्मिक तेज दे दिया है । दोनों रचनाओं में उर्ध्वगमन के चित्र हैं और परामानस की सृष्टि के बाद लौकिक सफलता नायक को मिली है । यह एक प्रकार का आध्यात्मिक आदर्शवाद है, जो निराला के जीवन और व्यक्तित्व का समझौता कहा जा सकता है । जो हो यह स्पष्ट है कि 'परिमल' से 'तुलसीदास' तक 'निराला' का व्यक्तित्व आध्यात्मिक भूमिका को आत्मसात करता रहा है और वह विराग के कवि नहीं, राग के भीतर से विराग के कवि हैं । संयोग श्रृंगार के माध्यम से आध्यात्मिक उपलब्धि की अभिव्यक्ति में उनकी कला अत्यंत सफल रही है ।

'निराला' ने वर्णिक मुक्त छंद में 'पंचवटी प्रसंग' कविता लिखी । पंचवटी में सीता, राम, लक्ष्मण और सूपर्णखा का संवाद । ज्ञान और भक्ति की चर्चा लक्ष्मण के त्याग और सेवा-भाव की प्रशंसा की इस कविता को इन्होंने पूरा किया । ज्यादातर कविता में धर्म और नीति के उपदेश, अलंकार हीन, सीधे-सादे गद्यात्मक वाक्य ही थे । परंतु कविता के तीसरे भाग में सूपर्णखा के आते ही छंद, भाव, भाषा सब बदल गए -

''देव दानवों ने मिल
मथकर समन्दर से निकाले थे चौदह रत्न;
सुनती हूं -
रंभा और रमा ये दो नारियां भी निकली थीं,

1- रामरतन भटनागर - निराला : नवमूल्यांकन - पृ० - 145

कहते लोग सुन्दरी हैं,
किन्तु मुझे जान पड़ता -
सृष्टि भर की सुन्दर प्रकृति का सौंदर्य-भाग खींचकर विधाता ने भरा है इस
अंग में -
प्यार से -
अन्यथा इस बूढ़े विधि शिल्पी की कंपती हुई अंगुलियां बिगाड़ देती
चित्र यह -
धूल में मिल जाती चतुराई चित्रकार की ।''[1]

ऐसा प्रवाह अब तक की उनकी किसी रचना में नहीं आया था । 'महादेव प्रसाद सेठ' ने निराला जी के विषय में लिखा है - ''हां इतना मैं अवश्य कहूंगा और दावे के साथ कहूंगा कि त्रिपाठी जी ने पंचवटी प्रसंग', 'अधिवास', 'जूही की कली' नामक कविताओं को लिखकर हिंदी के पद्य - साहित्य में एक अभूतपूर्व नई शैली का समावेश किया है और यदि हिंदी का कवि समाज इस शैली का आदर और अनुगमन करेगा तो मातृभाषा का बड़ा उपकार होगा और उसके लालित्य में एक नयी बात पैदा हो जाएगी ।''[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला जी आध्यात्मिक कविता की काव्य-भाषा-शिल्प में नवीन शक्ति, नवीन अर्थवत्ता एवं नवीन व्यंजना है, शब्द चयन में प्रवाह है ।

1- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - पृ० - 61
2- रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - पृ० - 63

पंत की आध्यात्मिक कविता की भाषा और शिल्प विधान

छायावादी कवियों में श्री सुमित्रानंदन पंत ने संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक काव्य-कृतियां हिन्दी-जगत् को भेंट की हैं । काव्य-चिंतन में भी उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है । पल्लव आधुनिक कवि (द्वितीय भाग) रश्मिबंध, चिदम्बरा आदि काव्य संकलनों की विस्तृत भूमिकाओं में उनकी तत्संबंधी मान्यताएं सहज ही मिल जाती हैं ।

भाषा के महत्व पर विचार करते हुए पंत जी ने अत्यन्त आश्वस्त स्वर में स्वीकारा है कि भाषा एक ऐसा सबल साधन है जिसके माध्यम से भावों और विचारों को सरलता पूर्वकअभिव्यक्त किया जा सकता है । 'भाषा और संस्कृति' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है कि - ''भाषा मनुष्य के हृदय की कुंजी है और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यंत सबल साधनों में से है । - - - - - भाषा हमारे मन का लिबास या परिधान है । उसके माध्यम से हम अपने विचारों, आदर्शों, सत्य मिथ्या के मानों तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलतापूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन में वाहित करते हैं ।''[1]

पंत जी की भाषा चित्रभाषा है, उनके शब्द भी चित्रमय और सस्वर हैं - देव की तरह उनकी रस-मधुरिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलकी पड़ती है ।

पश्चिमी कला और सभ्यता की अमिट छाप होने पर भी पंत जी सच्चे आस्तिक हैं । उन्होंने स्पष्ट स्वीकारा है कि 'ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे' और विश्वास को वे जीवन का अनिवार्य अंग समझते हैं -

''सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन ।''[2]

'परिवर्तन' में विश्व के अन्तर में व्याप्त इस एक ही शक्ति के विषय में वे कहते हैं -

---

1- सुमित्रानंदन पंत - शिल्प और दर्शन - पृ० - 197
2- डॉ० नगेन्द्र - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 32

''एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास
शरत अम्बर में नील विकास,
वही उर-उर में प्रेमोच्छावास,
काव्य में रस कुसुमों में वास ।''

पंत जी ने उस परम तत्व को प्रेम का विषय बनाया है । परंतु जहां भावना माधुर्य-भाव की कोटि तक नहीं पहुंची, ऐसी रचनाएं भी पंत जी की कृतियों में बिखरी पड़ी हैं । इनकी गणना अध्यात्म चिंतन के अंतर्गत की जाती है । 'वीणा' में एक रचना है -'श्रूयते ही पुरा लोके' । इसमे पंत जी ने स्वीकारा है कि मनुष्य एक पथिक है, यह संसार एक पथ और इस जग के परे सौंदर्य और आनंद का एक लोक है, जहां उसे पहुंचना है । परंतु जैसे मरीचिका में मृग भटक जाता है वैसे ही साधक भी पथ में ही भटक कर रह जाता है -

''उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरू से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है ।''[1]

इसी प्रकार 'युगांत' की 'छाया' कविता में भी ब्रह्म को 'अज्ञेय सिद्ध करता हुआ कवि अद्वैतवाद के आधार पर जीवन ब्रह्म की एकता की ओर संकेत करता है । ईश्वर क्यों नहीं दिखायी देता, इस बात को वह अत्यन्त सहजभाव से सिद्ध करता है -

''पट पर पट केवल तम अपार
पट पर पट खुले, न मिला पार !
सखि, हटा अपरिचय, अंधकार,
खोलो रहस्य के मर्म द्वार ।
मैं हार गया वह छील-छील,
आंखों से प्रिय छवि लील-लील,
मैं हूं या तुम यह कैसा छल

1- विश्वम्भर मानव - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 359-360

या हम दोनों, दोनों के बल ?
हम दो भी हैं या नित्य एक ?
तब कोई किसको सके देश ?''[1]

ये दोनों रचनाएं प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारधारा पर आधारित हैं और पंत जी का स्वतंत्र चिंतन व्यक्त नहीं करती । संसार को माया समझकर उसका तिरस्कार करना या ब्रह्म को एक मात्र सत्य मानकर सब कुछ मिथ्या घोषित करना, गंभीर चिंतन की बातें भले ही हों, परन्तु वे जीवन और काव्य के लिए अनुपयुक्त हैं ।

ये दोनों भावनाएं ही अपनी-अपनी जगह ठीक हैं - एक अध्यात्म के क्षेत्र में, दूसरी लौकिक जगत् की, एक असाधारण व्यक्तियों के लिए हैं, दूसरी जन-सामान्य के लिए ।

ईश्वर की महत्ता के साथ-साथ वे जीवन की महत्ता भी स्वीकार करते हैं । वे उसके गौरव से अभिभूत हैं 'मानव दिव्य स्फुलिंग' में इसी अमरता का गान है । इसी प्रकार कवि पंत प्रकृति को भी सत्य मानते हैं क्योंकि वह भी तो ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है ।

कुछ स्थलों पर कवि के प्रकृति चित्रों में आयात्मिकता का भी आभास मिल जाता है, वह कभी प्रकृति को प्रियतम की प्रतीक्षा में मग्न पाता है -

''कब से विलोकती तुमको,
ऊषा आ वातायन से,
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आंगन से ।''[2]

तो कभी वह देखता है कि प्रकृति उसे मिलन के लिए संकेत कर रही है -

''उठा कर लहरों से कर मौन,
न जाने मुझे बुलाता कौन ?''[3]

1- सुमित्रानंदन पंत - युगांत - छाया
2- डॉ० नगेन्द्र - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 41
3- डॉ० नगेन्द्र - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 41

और कभी ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह किसी अज्ञात छवि का प्रतिबिम्ब है जो उसके उल्लास से उल्लासित और वियोग से दुखी है ।

पंत जी ने अपनी रचनाओं स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और उत्तरा में एक नवीन स्वर छेड़ा है, जिसे एक शब्द में चेतनावाद कहते हैं । इस दिशा में वे प्रसिद्ध दार्शनिक श्री अरविंद से बहुत प्रभावित हैं । ''पश्चिम जहां भौतिक उन्नति की सीमा पर पहुंच गया, वहां उसने अध्यात्मभाव का तिरस्कार किया और दूसरी ओर पूर्व ने ऐसी आध्यात्मिक उन्नति की कि संसार से ही विरक्त हो गया । उचित मार्ग यह है कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय हो । यदि व्यक्ति ने लौकिक उन्नति की है तो उसकी चेतना भी वैसी ही विकसित होनी चाहिए और यदि उसकी चेतना विकसित है तो उसे लौकिक सुख से भी मुंह नहीं मोड़ना चाहिए । सामंजस्य का अभाव ही व्यक्ति, समाज, देश और विश्व की अशांति का मूल कारण हैं ।''[1]

पंत जी के 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में भिन्न-भिन्न वर्णों के चित्र हैं । कहीं श्रृंगार का अरुण राग है तो कहीं वीभत्स का नीला रंग । एक ओर यदि 'स्वर्णमृगों के गंध विहार हैं तो दूसरी ओर 'वासुकि सहस्रफन' की 'शत'शत फेनोच्छवसित स्फीत फूत्कार' है । कवि की भाषा की इतनी प्रबल शक्ति अन्यत्र कम दिखायी देती है ।

'गुंजन' पंत जी के अपने ही शब्दों में उनकी आत्मा का 'उन्मन गुंजन' है, कवि का क्षेत्र अब हृदय से हटकर आत्मा तक पहुंच गया है, इसी कारण उसमें आवेश की कमी और चिंतन एवं मनन की प्रधानता है । इस कविता की शब्द योजना इतनी विशद है कि इसको पढ़ने से गुंजन की ध्वनि सुनाई देने लगती है ।

पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में भाषा के विषय में एक स्थान पर लिखा है- ''जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हल्का तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में भावों के ढ़ांचे में ढ़ालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गला कर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है ।[2] वास्तव में गुंजन की भाषा का इससे अधिक सच्चा वर्ण और नहीं हो सकता । कवि ने अपने चिन्तन और भावुकता के ताप में भाषा को गलाकर पूर्णतया मृदुल बना दिया है ।

1- विश्वम्भर मानव - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 363-364

2- पंत - पल्लव की भूमिका

ऐसे तो 'स्वर्णधूलि और स्वर्ण किरण' में कई प्रकार की कविताएं हैं । कुछ कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएं आत्मगत हैं, जो परिष्कृत मधुर रस अभिषिक्त हैं, कुछ कविताएं प्रकृति संबंधी भी हैं, परंतु अधिकांश कविताएं आध्यात्मिक हैं। 'ग्रन्थि' से 'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुंजन', 'ज्योत्सना' और 'युगान्त' में पंत जी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे, बीच में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ । मार्क्स के वस्तुवादी जीवन दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गए । उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी । 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' दोनों में भी उन्होंने अतिभौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म-सत्य और वस्तु-सत्य के समन्वय पर बल दिया है । परंतु फिर भी इस बात में कोई संदेह नहीं है कि उस काल-खण्ड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है । चेतन पर वस्तु-सत्य का प्रभुत्व है, यद्यपि अवचेतन में आत्म-सत्य की सत्ता का अंत नहीं हुआ है । वह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृति संस्कार फिर उभर आये और पंत जी वस्तु से आत्मा की ओर मुड़ गए-

''सामाजिक जीवन से कहीं महत्त अन्तर्मन,
वृहत विश्व इतिहास, चेतना गीता किंतु चिरन्तन ।''[1]

यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है । और न यह रहस्यवाद ही है । यह आध्यात्मिकता मनोवैज्ञानिक है । इसका संबंध सूक्ष्म चेतना से है । पंत जी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है । परंतु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है, उन्नयन है; दमन नहीं ।

'विश्वम्भर मानव' के शब्दों में ''भारत में आध्यात्मिक उन्नति बहुत हो गयी है, अतः यहां के निवासियों से जीवन सौंदर्य को पहचानने की बात कहते हैं, पश्चिम में भौतिक उन्नति चरम सीमा पर पहुंच गयी है; अतः वहां के व्यक्तियों को आध्यात्मिक सौंदर्य को परखने का संदेश देते हैं । परंतु सब मिलाकर आज का संसार भौतिकवाद की ओर ही तीव्र गति से बढ़ा जा रहा है । इसी से सांस्कृतिक चेतना के जागरण की बात उन्होंने स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न रूपों में उठाई है ।''[2]

1- डॉ० नगेन्द्र - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 168
2- विश्वम्भर मानव - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 365

अतः अध्यात्म चेतना का मूल तत्व है समन्वय व्यष्टि और समष्टि अर्थात उर्ध्वविकास और समदिक् विकास का समन्वय, बहिरन्तर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य दर्शन में अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्मज्ञान) कहा गया है ।

'पल्लव' की कविता में पंत जी कहते हैं कि नीरव चांदनी जब अपनी अंगुलियों से विश्व-शिशु को तन्द्रा के पलनों में सुला देती है, तब वह कौन है जो स्वप्न-रथ पर मेरे हृदय में संचरण करता है और तारक रश्मियों से मुझे निमंत्रण देता है-

> ''स्तब्ध ज्योत्सना में जब संसार, चकित रहता शिशु सा नादान
> विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं जब स्वप्न अजान
> न जाने नक्षत्रों से कौन निमंत्रण देता मुझको मौन ।''[1]

इसी प्रकार वे सर्वत्र एक आह्वान का मौन संकेत पाता है जो कवि को उत्सुक कर छुप जाता है । कवि जान नहीं पाता कि वह कौन है जो इस अनन्त का सूत्रधार है, जो परदे के पीछे से डोरी हिलाया करता है । अध्यात्मवादी इसे रहस्यवाद की पहली सीढ़ी कहते हैं ।

शिल्प बहुत कुछ साधना की वस्तु है । उसके लिए परिष्कृत रूचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न साधन अपेक्षित होता है । पंत में ये तीनों गुण प्रभूत मात्रा में हें, अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है । और 'स्वर्ण-किरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है तथा रूप-रंग के रोमानी उपकरणों के अतिरिक्त यहां आध्यात्मिक, यज्ञ-धर्म, हवि, नीरांजन, रजत घंटियां, अभिषेक, कपूर चन्दन, गंगाजल, अमृत आदि का भी यथेष्ट प्रयोग है -

> ''चन्द्रातप सी स्निग्ध नीलिमा
> यज्ञ-धूप सी छाई ऊपर
> दीपशिखा सी जगे चेतना
> मिट्टी के दीपक से उठ कर !

1- पंत - पल्लव - मौन निमंत्रण - पृ० - 46

आज समस्त विश्व मंदिर सा
लगता एक अखण्ड चिरंतन ।
सुख-दुख जन्म-मरण नीरांजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन ।''[1]

'स्वर्णधूलि' की कुछ कविताओं में नित्य-प्रति के भौतिक जीवन के संस्पर्श है । किंतु ये कवि की प्रतिनिध रचनाएं नहीं हैं । 'स्वर्ण-किरण' की कविताओं में एवं 'स्वर्ण-धूलि' के वैदिक ऋचाओं के अनुवादों में कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है । इस नवीन शक्ति का रहस्य है - प्रसंगानुकूल आर्ष शब्दावली का प्रयोग ।

'स्वर्ण-किरण' की सर्वोदय शीर्षक रचना में कवि ने अपने आध्यात्मिक मानववाद के दर्शन को प्रस्तुत किया है -

''भू रचना का भूतिपाद युग
हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शांति के
हों गत संस्कृत धर्म समन्वित ।

*   *   *   *   *

एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का संघर्षण
विपुल ज्ञान संग्रह भव-पथ का
विश्व क्षेम का करे उन्नयन ।''[2]

इससे स्पष्ट है कि कवि विश्व को अखिल मानवता के भेदों को मिटा कर एक विश्व-संस्कृति के निर्माण के लिए उत्सुक है, पूर्व और पश्चिम के देश-भेद, विज्ञान और ज्ञान के बुद्धि-भेद और धरती और मानवता के सांस्कृतिक भेद को अन्तश्चेतना के समन्वय सूत्र से जोड़कर विश्व-संस्कृति का वह चरम उन्नयन चाहता है । 'स्वर्ण किरण' में प्रकृति और जीवन के प्रति आध्यात्मिक आकर्षण है और इसमें उपनिषद् की भावनाओं से अनुप्राणित आध्यात्मिक चेतना प्रधान कविताएं हैं ।

1- डॉ० नगेन्द्र - सुमित्रानंदन पंत - पृ० - 185
2- पंत - स्वर्ण किरण - सर्वोदय

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पंत जी ने इयत्ता की दृष्टि से अन्य छायावादी कवियों की तुलना में अपनी आध्यात्मिक कविताओं में भाषा शिल्प के संबंध में सर्वाधिक विचार व्यक्त किए हैं और उनका विवेचन समीक्षोचित विश्लेषण क्षमता से युक्त है ।

महादेवी वर्मा की आध्यात्मिक कविता की भाषा और शिल्प-विधान

अपने समकालीन कवि विचारकों की भांति कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी काव्य-रचना के साथ-साथ काव्य सिद्धांतों का पर्याप्त निरूपण किया है, उनका यह सिद्धांत-प्रतिपादन अधिकांशतः छायावाद के अंतरंग तत्वों से सम्बद्ध है । काव्य-शिल्प के संयोजक तत्वों पर भी उन्होंने विचार किया है, परंतु परिमाण की दृष्टि से इस दिशा में उनकी प्रत्यक्ष उक्तियों की संख्या सीमित है । इन मान्यताओं के अध्ययन के लिए उनके निबंध संकलनों-महादेवी का विवेचनात्मक गद्य क्षणदा, साहित्यकार की आस्था और निबंध तथा संकल्पिता का अध्ययन विशेष उपादेय है । रश्मि, सांध्यगीत, दीपशिखा, आधुनिक कवि (भाग एक) यामा आदि काव्य-संकलनों की भूमिका में भी इस विषय में पर्याप्त संकेत हैं ।

भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष काव्य-शरीर के दो महत्वपूर्ण अंग हैं, जिस प्रकार सत्य का प्रतिपादन करने वाले की वाणी में निर्भीकता और व्यक्तित्व में सहज सौंदर्य रहता है, उसी प्रकार अनुभूति सम्पन्न काव्य की प्रतिपादन शैली भी सहज-सरल होती है। उसमें शब्दाडम्बर या कृत्रिम आलंकारिकता के लिए कोई स्थान नहीं होता । भक्ति-काव्य में स्वानुभूति की प्रधानता की चर्चा करते हुए, उन्होंने इस संबंध में यह मत व्यक्त किया है- ''सब प्रकार की अलंकारिकता से शून्य सरल लोकगीतों में जो अंतरतम तक प्रवेश कर जाने वाली भाव-तीव्रता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी ।''[1]

महादेवी जी का काव्य आंतरिक अनुभूतियों का उद्घोष है मनुष्य की आत्मिक अभिव्यक्ति का उत्कर्ष और ऐश्वर्य है । उनकी धारणा है कि प्रत्येक वस्तु या प्राणी केवल प्रकृति का अंग ही नहीं, वरन् अपने आध्यात्मिक प्रभावों के कारण वह एक विराट् और व्यापक चेतना का स्फुलिंग भी है । उसके इन दोनों रूपों को हृदयंगम किए बिना हम उसकी वास्तविक स्थिति का अंदाजा नहीं लगा सकते ।

''महादेवी जी का जीवन-दर्शन अपने निरपेक्ष स्वरूप में भगवान बुद्ध की अनन्त करुणा की भावना से प्रस्फुटित होता है । बुद्ध की करुणा में प्राणी मात्र की आत्मा का क्रन्दन-स्वर है । महादेवी वर्मा ने इसको अपनी सीमित परिधि में अवतरित

1- महादेवी वर्मा - साहित्यकार की आस्था और अन्य निबंध - पृ० - 85

करके काव्यगत वेदना का असीमित स्वरूप दिया है । वास्तव में महादेवी जी यह दर्शन जीवन की इस रूप में व्याख्या की अनन्त सत्ता का स्पर्श नहीं करता है, किंतु उसमें काव्य की चेतना ने आकर कोमल माधुर्य की सरसता को जितनी गहराई तक सींचा है, वह इतनी सुलभता से कहीं प्राप्त नहीं की जा सकती । ऐसा होना आवश्यक एवं स्वभावतः भी था, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन का दर्शन अपनी ज्ञान प्रचेतन से परिपूर्ण रहता है और काव्यमय जीवन का दर्शन एवं सौंदर्य अपनी अनुभूति और भावना प्रचेतना में - अतः कवि के दर्शन में माधुर्य की जो व्यापक लहर पायी जाती है, वह अध्यात्म दर्शन की सुन्दर सड़क से अधिक मनोहारिणी एवं सुखद होती है ।''[1]

''रश्मि की भूमिका में दुःख के विषय में महादेवी जी ने स्वयं ही अपने विचार प्रस्तुत किए हैं - ''दुःख मेरे समीप जीवन का एक ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बांधे रखने की क्षमता रखता है । हमारे असंख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुंचा सके, किंतु हमारा एक बूंद आंसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता ।''[2]

दुःख विषयक अपनी इसी दार्शनिक धारा में महादेवी जी की कविता की नौका प्रवाहित है । जिसमें भावना की कोमलता और प्रतिभा का आत्म-वेदनामय प्रकाश है -

''रजत् रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता
इस निदाध से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता
उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन्न का
एक सूत्र सबके बंधन का
संसृति के सूने पृष्ठों पर करुण काव्य वह लिख जाता ।''[3]

इस विश्व परम्परागत दुःखवाद के अतिरिक्त महादेवी वर्मा ने दुःख को एक अन्य रूप में भी चित्रित किया है - यही उनके जीवन-दर्शन की विशेषता है । इस विशेषता के अनुसार परमात्मा भी वेदना को अधिक दुलारता है ।

1- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 220-221

2- महादेवी वर्मा - 'रश्मि' की भूमिका

3- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 221

पंत जी के समान महादेवी जी ने भी आध्यात्मिक काव्य-भाषा में चित्रात्मकता का गुण श्रेयस्कर माना है । महादेवी जी ने कवि को साहित्य - जगत् में प्रचलित शब्दों का प्रयोग करने के साथ - साथ नवीन शब्दों का व्यवहार करने का परामर्श भी दिया है। किन्तु ऐसा करते समय कवि से यह आशा करती हैं कि शब्द प्रयोग अनगढ़ न हों और साथ ही उसमें माधुर्य का ध्यान रखा गया हो ।

महादेवी जी मूलतः वेदना की कवियत्री हैं । उनका सम्पूर्ण काव्य गीति - काव्य है, अतएव उनकी रचनाओं में संगीत तत्व प्रधान हैं ।

महादेवी वर्मा की काव्य-भाषा में लघु सरल एवं तत्सम संस्कृत शब्दावली प्रधान है । उनका ध्यान गीतों की गेयता और भाषा प्रवाह की ओर अधिक रहा है ।

विश्वास-हीन सा जग सोता, श्रृंगार - शून्य अम्बर रोता
तब मेरी उजली मूक व्यथा, किरणों के खोले केश रही ।'[1]

कहीं-कहीं यौगिक और सामासिक शब्द भी मिलते हैं, किंतु अन्य छायावादी कवियों की भांति उनमें उनका बाहुल्य नहीं है -

चिर मिलन - विरह - पुलिनों की, सरिता हो मेरा जीवन ।'[2]

सब के प्रति समभाव - आत्मभाव रखना और सब में अपने ही स्वरूप का सम्मान करना भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति की मूल चेतना है । अध्यात्म प्रवृत्ति और ज्ञान, भाव और क्रिया-विचार तथा संकल्प का वह मंगलमय समन्वय है, जो लोक-कल्याण का दृढ़ आधार है । स्थितिप्रज्ञ व्यक्ति आध्यात्मिक अनुशासन के अनुरूप संसार में रहते हुए निष्काम कर्म करते हुए आत्मोत्थान और लोक कल्याण में साथ ही संलग्न रहता है ।

''जो कालातीत सृजनशील आध्यात्मिक सम्पूर्ण गति ज्ञान-विज्ञान समय और देश के अंतर्गत अनन्त विभिन्न स्तरों एवं स्थितियों से गुजरता हुआ क्रमशः विकसित और प्रत्यक्ष हो रहा है, मनुष्य की सृजनशक्ति उसी का अंश है । स्वाभावतः वह आध्यात्मिक है ।''[3]

1- महादेवी वर्मा - दीपशिखा - पृ० - 114
2- महादेवी वर्मा - यामा (रश्मि - पृ० - 76)
3- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 74

आध्यात्मिक आनंद को काव्य के माध्यम से व्यक्त करने की भारतीय परंपरा अबाध और अविच्छिन्न रही है । आध्यात्मिक भावानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का काव्य अन्यतम साधन है, क्योंकि वह स्वानुभूति, सहानुभूति तथा समानुभूति के उत्कर्ष से गतिशील होता हुआ समात्मानुभूति के धरातल पर आरूढ़ होकर सबकी चेतना के रसोद्रेक और आंतरिक आनन्द का केंद्र बनने में सहज ही सक्षम है ।

महादेवी वर्मा के संबंध में डॉ० रामकुमार सिंह ने लिखा है - ''उनकी बाह्य अथवा आंतरिक रहस्य भावना किसी दर्शन अथवा पंथ से प्रभावित रूढ़िवादी न होकर स्वतंत्र सात्विक और प्रबुद्ध है अतएव तद्नुसार उनकी काव्य-भाषा भी नवीन, विशुद्ध कल्पनाओं, सरल और कोमल शब्दावली से युक्त है, परीक्षा स्तर की निगूढ़, परिष्कृत व्यंजनाशैली उनकी अपनी है ।''[1] इनकी यह भावना हमें उनकी 'यामा' में परिलक्षित होती दिखायी देती है -

''विधु की चांदी की थाली मादक मकरन्द भरी-सी
जिसमें उजियारी रातें लुटतीं धुलती मिसरी-सी ।
भिक्षुक से फिर जाओगे जब लेकर यह अपना धन,
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणों का महंगापन ।।''[2]

इससे स्पष्ट है कि महादेवी वर्मा पंत जी के समान शब्द शिल्पी नहीं हैं । जीवन व्यापी आध्यात्मिक एकता की खोज ही उनके काव्य का प्रधान स्वर है । इस घोर वैज्ञानिक युग में भी आध्यात्मिक साधना के प्रति एक भावात्मक-सृजनात्मक दृष्टिकोण तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति का श्रेय महादेवी जी को प्राप्त है । उन्होंने लिखा भी है - ''इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्मक की आवश्यकता है वह किसी रूढ़ि, धर्म या सम्प्रदायगत न होकर उस सूक्ष्मता की परिभाषा है, जो व्यष्टि की सप्राणता में समष्टिगत एकप्राणता का आभास देती है । इस प्रकार वह मेरे संपूर्ण जीवन का ऐसा पूरक है, जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है । भौतिकता के कठोर धरातल पर तर्क के निष्करुण और हिंसा से जर्जिरित जीवन में व्यक्ति युग को देख कर स्वयं कभी-कभी मेरा व्यथित मन अपनी करुण भावना से पूछना चाहता है - 'अश्रुमय कोमल कहां तू आ गयी परदेशिनीरी ।''[3]

1- डॉ० रामकुमार सिंह - आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा - पृ० - 664
2- महादेवी वर्मा - यामा
3- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 79

आत्मस्थ कवि अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुंच कर भी लोक मंगल की साधना में लगा रहता है ।

महादेवी वर्मा की आध्यात्मिकता में काव्य दर्शन और जीवन का ऐसा समन्वय मिलता है जो भारतीय तत्व दर्शन की गहन-से-गहन और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म उपलब्धियों को भावात्मक स्थिति देकर अत्यंत सरस और सहज रूप देने में सक्षम है । उन्होंने अखिल जीवन-व्यापी सुख-दुख, विरह, मिलन, स्मृति-विस्मृति, आदर्श-यथार्थ, प्रकृति संस्कृति को ही नहीं, विश्व-जीवन के उपसंहार मृत्यु को भी एक नया रूप और नई सार्थकता प्रदान की है -

''तू धूल भरा ही आया ।
ओ चंचल जीवन-बाल ! मृत्यु जननी ने अंग लगाया !
पलकों पर धर-धर अगणित चुम्बन,
अपनी सांसों से पोंछ वेदना के क्षण,
हिम-स्निग्ध करों से बेसुध प्राण सुलाया !
नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,
तन सजल घटा-सा तड़ित छटा-सा उर दे,
हंस तुझे खेलने फिर जग में पहुंचाया !''[1]

इन पंक्तियों में जीवात्मा के अमरत्व और पुनर्जन्म की भारतीय मान्यता काव्य के सरस भावात्मक रूप में प्रस्फुटित होकर सर्वजन सुलभ बन गयी है ।

महादेवी वर्मा के काव्य में जीवन, जगत् और आत्मा का भावना ऐक्य, तीव्र अनुभूति, संगीतात्मक प्रवाह, मनोज्ञता और मनोरमता आदि गुण समन्वित होकर मुखरित हो उठे हैं ।

महादेवी वर्मा ने केवल गीत ही लिखे हैं और गीत कवि की व्यक्गित अनुभूति पर आश्रित होता है । इसलिए उसे अपनी संवेदनीयता के लिए व्यक्ति की भाव-भूमि की चरम अपेक्षा रहती है । अपने गीतों के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है -

---

1- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 96

"मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोक-गीतों की धरती पर पले हैं। काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय श्रेणियों के बीच में गीत-मुक्तक एक सजल कोमल मेघ-खण्ड है जो न उनसे दब कर टूटता है और न बंधकर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंग-स्नात होकर उन्नत चोटियों का श्रृंगार कर आता है और हर झोंके पर उड़-उड़ कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पन्दन पहुंचाता है ।"[1]

गीतों के कला-सौष्ठव और भावों का मनोहारी मिश्रण महादेवी वर्मा के संगीत, विधान में मिलता है । ध्वनियों के लयात्मक संगठन से उद्भुत संगीत महादेवी जी के गीतों की अपनी विशेषता है । ध्वनियों का ऐसा संगठन अन्यत्र दुर्लभ है -

"श्रृंगार कर ले री सजनि ।
नव-क्षीर निधि की उर्मियों से
रजत् झीने मेघ सित्
मृदु फेन मय मुक्तावली से
तैरते तारक अमित
सखि ! सिहर उठती रश्मियों का
तुहिन अवगुंठन अवनि ।
हिम-स्नात कलियों पर जलाये
जुगुनुओं ने दीप से,
ले मधु पराग समीर ने
बन-पथ दिये हैं लीप से
गाती कलम के कक्ष में
मधुगीत मतवाली अलिनि ।
*   *   *
कनक से दिन मोती सी रात
सुनहली सांझ गुलाबी प्रात ।"[2]

महादेवी वर्मा के प्रायः सभी गीतों का विषय उनके अर्न्तजगत का प्रणय संकल्प और उससे प्रस्फुटित भावनाएं हैं ।

1- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 231
2- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 233

उनका कहना था कि यदि लोक शब्दावली के माध्यम से भावों की सफल अभिव्यंजना संभव हो तो कवि को उसके प्रयोग की स्वच्छन्दता मिलनी चाहिए । यदि हम काव्य-भाषा को नित्यप्रति के प्रयोग की शब्दावली से बचाने का बलात् प्रयत्न करेंगे तो काव्य जीवन से बहुत दूर चला जाएगा । लोक-जीवन और प्रकृति के साथ तादात्म्य करने के पश्चात् उन्हें आंतरिक बोध तथा अनुभव हुआ कि यह सारा संसार उसी अज्ञात प्रियतम से उद्भुत होकर भूलता-भटकता साधना की विभिन्न सीढ़ियों पर चढ़ता अंत में उसी में विलीन हो जाता है -

''साधु की जैसी तप्त उसांस दिखा नभ में लहरों का लास,
घात-प्रतिघातों की वह चोट अश्रुबन फिर आ जाती लौट ।
बुलबुले मृदु उर के से भाव रश्मियों से कर कर अपनाव,
यथा हो जाते जलमय-प्राण उसी में आदि वही अवसान ।[1]

पंत जी की भांति महादेवी जी ने भी आध्यात्मिक काव्य-शिल्प में चित्रात्मकता को ही महत्व दिया है । 'रश्मि' में अभाषा और भाव का विकास पाया जाता है । इससे कवियत्री के उपास्य दार्शनिक दर्शन प्राप्त होता है -

''रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता;
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता ।''[2]

क्योंकि 'रश्मि' में कवियत्री महादेवी को अपने आराध्य का दार्शनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है । अतः उनकी आत्मा को ठीक तरह से समझने के लिए 'रश्मि' यथार्थ में उसकी आत्मा की रश्मि है ।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा जी ने आध्यात्मिक कविता के भाषा और शिल्प के माध्यम से छायावादी काव्य की संरचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है तथा भाषा-शिल्प के माध्यम से आध्यात्मिक काव्य की आध्यात्मिकता को बखूबी उभारा है ।

1- गंगा प्रसाद पाण्डेय - महीयसी महादेवी - पृ० - 239
2- महादेवी वर्मा - रश्मि

निष्कर्ष :- छायावाद शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में हुआ है ।

प्रथमतः रहस्यवाद के अर्थ में जिसमें कि उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जिसमें कवि चित्रमय भाषा में उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है । छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में हुआ है । रहस्यवादी कवियों ने जिन्हें प्रतीकवादी भी कहते हैं अपनी रचनाओं में प्रस्तुतों के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुतों का ही प्रयोग किया है । फलतः उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का प्रयोग होने लगा । आध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सभी प्रकार की कविताओं के लिए भी प्रतीक शैली का प्रयोग किया गया ।

हिन्दी काव्य क्षेत्र में छायावाद के रहस्यवादी अर्थ का प्रयोग करने वाली महादेवी वर्मा ही हैं । पंत, प्रसाद, निराला तथा अन्य सभी कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली का प्रयोग करने की वजह से ही छायावादी कवि कहलाए ।

छायावाद का आगमन द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था । मध्ययुगीन संतों की तरह छायावादी कवि आत्मब्रह्म और आत्म-परिष्कार की खोज न करके विश्वात्मा तथा विश्व-जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए। छायावादी कवियों का व्यापक संघर्ष विश्वात्मा तथा नयी मानव-आत्मा की अभिव्यक्ति का संघर्ष था । छायावाद में भक्ति युग की तरह तन्मयता तथा भावनात्मक गहराई भले ही न हो, परंतु व्यापकता और उर्ध्वता अधिक हैं । छायावादी कवियों के सामने आत्ममुक्ति की धारणा तुच्छ होकर भावमुक्ति, मानवमुक्ति, विश्वमुक्ति तथा लोकमुक्ति की सम्भावना अनेक मूल्यों, विचारों तथा भावनाओं में रूप धारण कर, उनकी वाणी द्वारा स्वप्न मूर्त होने का प्रयत्न कर रही थी । सुमित्रानंदन पंत के शब्दों - "छायावादी तो स्पप्न-पथ से आंख-मिचौनी खेल रही नयी प्रेरणा किरणों तथा नये चैतन्य मूल्यों से नये विश्व-जीवन, नये मानव मन का, स्थूल सामन्ती दृष्टि अग्राह्य, नवीन आशाडकांक्षा से रंजित सौंदर्य पट बुन रहा था । वह अपने युग की धरती पर खड़ा इसी विश्व के क्षितिज को व्यापक बनाने में संलग्न था ।"[1] छायावाद द्विवेदी युग के पौराणिक आदर्शों, मान्यताओं

1- सुमित्रानंदन पंत - छायावाद : पुनर्मूल्यांकन - पृ० - 22

तथा परंपरागत कला-बोध से पोषित विषय वस्तु से पृथक एक नवीन विश्व-बोध तथा मानव-मूल्य से प्रेरित नयी भाव वस्तु को काव्य रूप में उपस्थित करने का प्रयास करता है ।

कविवर निराला अधिकतर दर्शन तत्व या दार्शनिक चैतन्य को बोधात्मक अनुभूति से अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करते हैं, इसका उदाहरण उनकी 'गीतिका' के अधिकांश गीत हैं । 'प्रसाद' की तात्विक अनुभूति में बोध और भाव के स्तर अविच्छन्न रूप से मिले रहते हैं, जिसका उदाहरण उनके अनेक गीतों के अतिरिक्त 'कामायनी' के गीत हैं जो इसका सशक्त निदर्शन प्रस्तुत करती है । तो 'महादेवी' जी में वही दार्शनिक बोध अधिकतर भावनात्मक अनुभूति द्वारा प्रकट होता है । 'जीवन दीप' को सम्बोधित कर 'महादेवी' जी कहती हैं -

''किन उपकरणों का दीपक ? किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्ति ? कौन करता इसका ज्वाला से मेल ?
शून्य काल के पुलिनों पर आकर चुपके से मौन
इसे बहा जाता लहरों में वह रहस्यमय कौन ?''1 इत्यादि रहस्य शब्द इस गीत में प्रयुक्त होने पर भी यह केवल जीवन के प्रति दार्शनिक जिज्ञासा का रूपक भर है और मानव-जीवन में जो भी उपकरण जन्म मृत्यु, आवागमन, देह मन, जड़, चैतन्य का संयोग हमें मानसिक बोध के स्तर पर भी देखने को मिलता है वे इस गीत में अत्यंत कलात्मक संयम के साथ संजोए गए हैं और जीवन तत्व की अभिव्यक्ति के लिए दीपक का रूपक चुनने में कवि की कला-दृष्टि की चरितार्थता है । अतः स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से अधिक आग्रह छायावाद में नवीन जीवन सौंदर्य के मूल्य तथा भाव अभिव्यक्ति के ही प्रति अधिक है ।

वेदना को छायावादी कवियों ने पीड़ा के अतिरिक्त अनुभूति, संवेदन तथा बोध के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है । छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ न रहकर मूल्य-निष्ठ है, इसमें व्यक्ति मूल्य का प्रतिनिधि रहा है और जैसे-जैसे मूल्य के प्रति दृष्टिकोण का विकास होता रहा, उसका व्यक्ति तत्व भी विकसित होकर युग के सम्मुख एक अधिक व्यापक, आदर्शोन्मुखी तथा यथार्थ-आधृत जीवन दृष्टि उपस्थित करने की चेष्टा करता है ।

1- सुमित्रानंदन पंत - छायावादः पुनर्मूल्यांकन - पृ० - 22

छायावाद ने प्रेम के मूल्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया, जिसके कारण उसे अशरीरी-प्रेम या अशरीरी अभिव्यक्ति कहा जा सकता है ।

वर्तमान वैज्ञानिक-युग ईश्वर के नाम ही से संतुष्ट न होकर मानव जीवन-तंत्र के रूप में ईश्वर के रूप को भी अभिव्यक्त करने में संलग्न है । छायावाद भविष्योन्मुखी है, क्योंकि उसने मूल्य का शिखर पकड़ा है, वैसे इस युग के सृजन चिंतन का ध्येय भी मनुष्य के अतीतोन्मुखी भाव तथा वस्तु-बोध को भविष्य की ओर अग्रसर करना ही है । जिससे मनुष्य नवजीवन निर्माण की चेतना के सम्पर्क में आए और भीतरी अवरोध नष्ट हो ।

बिम्ब - योजना

भावों को रूपायित करने की अद्भुत शक्ति के कारण बिम्ब(इमेज) काव्य-जगत का एक प्रमुख शिल्प उपादान है और आधुनिक समीक्षा शास्त्र का प्रमुख विवेच्य-विषय रहा है । काव्य के सृजन, सम्प्रेषण तथा आस्वादन की प्रक्रिया के विवेचन-विश्लेषण में देश-विदेश में जिन अनेक विध सिद्धांतों को महत्व दिया गया है, उनमें काव्य बिम्ब भी एक विशिष्ट तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है । हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रामदहिन मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, अखौरी ब्रजनंदन प्रसाद, प्रभूति चिन्तकों ने इसके स्वरूप और उपयोगिता पर विचार किया है । आचार्य शुक्ल ने "काव्य का काम है, कल्पना में बिम्ब अथवा मूर्त भावना उपेक्षित करना[1] कहकर बिम्ब निर्माण को मुख्य कवि कर्म माना है ।

विभिन्न इन्द्रियों के मूल-धर्म को दृष्टि में रखते हुए[2] बिम्बों को पांच श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है - चाक्षुष, श्रावणिक, स्पर्श संबंधी, घ्राण संबंधी तथा रसना विषयक बिम्ब ।

चाक्षुष बिम्ब :- चाक्षुष बिम्ब मूलतः नेत्रधर्मी होते हैं जिनकी संयोजना विशेषतः रूप चित्रण के लिए की जाती है । छायावाद में इस प्रकार के बिम्बों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। जैसे -

(अ) कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा ।
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहां ?[3]

1- रामचंद्र शुक्ल - रसमीमांसा - पृ० - 310

2- ऐन्द्रियता के आधार पर बिम्बों का वर्गीकरण अधिक समीचीन है । इस संबंध में यह मत अवलोकनीय हैं :-

(अ) बिम्ब शब्द के अर्थ में क्रमशः विकास हुआ है । * * * आज की समीक्षा में उसका चित्रात्मकता वाला अर्थ गौण हो गया है और वह उन समस्त काव्यगत विशेषताओं का बोधक बन गया है जो पाठक को ऐन्द्रिय चेतना के किसी भी स्तर पर प्रभावित करती हैं । (डॉ० केदारनाथ सिंह - आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान - पृ० - 2)

(आ) बिम्ब के प्रकार-भेदों का निर्धारण उसके विधायक तत्वों के आधार पर किया जा सकता है । बिम्ब में ऐन्द्रिय आधार प्रमुख रहता है, अतः ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर बिम्ब के पांच भेद किए जा सकते हैं । (डॉ० नगेन्द्र-काव्य बिम्ब - पृ० - 9)

3- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 175

(आ) काली आंखोंमें कितनी, यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्यासी ।[1]

प्रथम उदाहरण में श्रद्धा के करुण रूप को चित्रित करने के लिए कवि ने दो बिम्बों को उभारा है - (1) एक ऐसा फूल जो शाखा से विलग होकर पृथ्वी पर मुरझाया हुआ पड़ा है और जिसमें पराग के कण भी सूख चुके हैं । एक ऐसा चित्र जिसमें प्रयुक्त रंग समय के दीर्घ प्रवाह में धुंधले पड़ चुके हैं और इसी कारण रंगों के कांतिहीन होने से जो अनाकर्षक और रेखा मात्र प्रतीत हो रहा है ।

चाक्षुष बिम्ब का एक अन्य उदाहरण -

''दुख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे ।[2]

पंत जी के काव्य में भी रूप बिम्ब अत्यंत प्रभावी रूप में प्रयुक्त हुए हैं । छाया के सूक्ष्म और अनाविल सौंदर्य का परिचय देने और पृथ्वी पर उसकी व्याप्ति को प्रदर्शित करने के लिए निम्नलिखित पंक्तियों के बिम्ब अत्यंत समर्थ और सार्थक हैं -

''कौन-कौन तुम परहित वसना,
म्लान-मना, भू पतिता-सी
वातहता विच्छिन्न लता-सी
रति-श्रान्ता ब्रज-बनिता-सी ?[3]

महादेवी जी के काव्य में भी बिम्बों का कुशल प्रयोग मिलता है -

''वेदना की वीणापर देव
शून्य गाता हो नीरव राग,
मिलाकर निश्वासों के तार
गूंथती हो जब तारे रात,[4]

1- प्रसाद - आंसू - पृ० - 21
2- प्रसाद - कामायनी - आशा सर्ग - पृ० - 442
3- पंत - पल्लव - पृ० - 107
4- महादेवी - नीहार - मेरी साध - पृ० - 40

अथवा - "निठुर होकर डालेगा पीस
इसे अब सूनेपन का भार,
गला देगा पलकों में मूंद
इसे इन प्राणों का उद्‌गार ।[1]

जीवन की नश्वरता सरीखे अमूर्त विषय को इंद्रिय संवेद्य रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उसे कैसी गोचरता प्रदान की है -

"दिया क्यों जीवन का वरदान ?
*   *   *
सिकता में अंकित रेखा - सा
बात विकम्पित दीपशिखा - सा,
काल - कपोलों पर आंसू - सा
ढुल जाता है म्लान ।"[2]

उपर्युक्त पंकित्यों में जीवन की क्षणभंगुरता को व्यंजित करने के लिए कवयित्री ने रेत पर खिंची हुई रेखा, वायु-वेग से बुझाते हुए दीपक और कपोलों पर पड़े हुए अश्रु-कणों के शीघ्र नष्ट होने, बुझ जाने और सूख जाने से संबंधित जिन नेत्र-विषयक उपमानों के माध्यम से बिम्ब कल्पना की है, वह विषय को संवेद्य बनाने की दृष्टि से निश्चय ही स्तुत्य है ।

'निराला' ने आकाश में उन्मुक्त विचरण करते हुए निरंतर वृष्टि करने वाले बादलों के लिए जो बिम्ब प्रस्तुत किये हैं, वे भी दर्शनीय हैं -

"घर से क्रीड़ारत बालक से,
ऐ अनन्त के चंचल सुकुमार ।
स्तब्ध गगन को करते हो तुम पार ।
*   *   *
बधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग,
मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग ।"[3]

1- महादेवी - नीहार - याद - पृ० - 81
2- महादेवी - यामा - पृ० - 97
3- निराला - परिमल - पृ० - 163-164

इस उद्धरण में कवि ने दो पृथक-पृथक बिम्बों द्वारा बादल के गुणों को सहृदय संवेद्य बनाया है । पहला बिम्ब उस चंचल प्रकृति वाले बालक का है जो खेलने के लिए घर से निकलेन पर खेलते-खेलते बहुत दूर चला जाता है, और दूसरा चित्र उस बालक का है, जो रोना प्रारंभ करने पर दूर-दूर तक प्रसारत रहकर मानों क्रीड़ारत है और निरंतर जल-वृष्टि कर रहे हैं ।

(2)**श्रावणिक बिम्ब** :- श्रावणिक बिम्ब वह अनुभूति है जिसका सीधा संबंध कानों से रहता है । मानव-जगत् और प्रकृति के अनंत परिवेश में अनेक पदार्थ और भाव सक्रिय होकर ध्वन्यात्मक सौंदर्य से युक्त हो जाते हैं । इनकी कोमलता, मधुरता, कठोरता, कर्कशता, मन्द-तीक्ष्ण गति का बोध ध्वनि के माध्यम से सहज रूप में हो जाता है और यह श्रावणिक संवेदना उन्हें और भी अधिक प्रभविष्णु और आह्लादकारी बना देती है । उन ध्वनियों के सम्पर्क में आते ही पदार्थ अथवा भाव का मानसी बिम्ब व्यक्त हो उठता है । नाना रूपात्मक जगत् से परिचय कराने में नेत्रों के अनन्तर श्रवणों का ही अधिक महत्व है । छायावादी कवियों ने मानवीय और प्राकृतिक परिवेश की विभिन्न ध्वनियों को सतर्कतापूर्वक ग्रहण करके ध्वन्यात्मकता के माध्यम से बिम्बित कर दिया है। पक्षियों का कलरव, पत्तों का कर्मर, कोयल की कूक, निर्झर का झर-झर नाद, झिल्ली की झंकार, हंसी की खिलखिलाहट, रोने की सिसकी, आदि का स्वर उनके काव्य में अनेक स्थलों पर व्यक्त हुआ है । जिनके उदाहरण निम्न हैं -

अरे खिलखिलाकर हंसने होने वाली बातों की ।[1]
खग कुल-कुल-कुल- सा बोल रहा ।[2]
प्यार भरे श्यामल अम्बर में, जब कोकिल की कूल अधीर ।[3]
अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी । [4]
खग-कुल किलकार रहे थे, कल हंस कर रहे कलख ।[5]
सागर-गर्जन रुनझुन मंजीर ।[6]
गर्जन-मृदंग हर-हर मंजीर ।[7]

1- प्रसाद - लहर - पृ० - 11
2- प्रसाद - लहर - पृ० - 19
3- प्रसाद - लहर - पृ० - 44
4- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 202
5- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 285
6- महादेवी - यामा - पृ० - 195
7- महादेवी - ~~दीपसिक्षा~~ दीपशिखा - पृ० - 136

इन पंक्तियों में पक्षियों की कुल-कुल ध्वनि और उनकी किलकारी, कोयल की कूक, हंसी की खिलखिलाहट, हंस का कलरव, पौरुष की हुंकार, सागर की तरंग गर्जना, मंजीर की रुनझुन, तीव्र भावों के बोधक मृदंग के गर्जन स्वर और मंजीर की हर-हर ध्वनि को व्यक्त किया गया है । कहीं-कहीं तो इन कवियों ने विभिन्न ध्वनियों को एक ही स्थल पर संयोजित करके अपूर्णता का विधान किया है । इसका उदाहरण 'निराला' और पंत के निम्नलिखित काव्य-प्रसंग हैं -

अ' मेरी भररर-भरर, दमा में घोर नकारों की है चोप ।
कड़-कड़-कड़ सन्-सन् बंदूकें, अरर-अररर तोप ।[1]

आ - पपीहों की वह पीन पुकार, निर्झरों की भारी झर-झर
झींगुरों की झीनी झंकार, घनों की गुरू गंभीरघहर
बिन्दुओं की छनती छनकार, दादुरों के वे दुहरे स्वर ।[2]

3. **स्पर्श-संबंधी बिम्ब** :- इस प्रकार के बिम्बों में त्वचा की अनुभूति का विशेष योग रहता है । छायावादी काव्य में संस्पर्श से उद्भुत ऐसी अनुभूति के प्रति स्वाभाविक आसक्ति रही है । इन कवियों ने पदार्थ के सुकुमारता, मसृणता, स्निग्धता, तरलता आदि विविध गुणों और इनके संदर्भ से व्यक्त होने वाले बहुमुखी सात्विक तथा कायिक अनुभावों (आलिंग्न, चुम्बन, सिहरन, रोमांच आदि) का अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया है -

''छूते थे मनु और कंटकित होती थी वह बेली ।[3]

अथवा - सोते में चुम्बन लेकर जब रोम तनिक सा जागे ।[4]

जैसी पंक्तियों में प्रसाद जी ने इन्हीं स्पर्श अनुभूतियों को व्यक्त किया है । पंत द्वारा कोमलता और रेशमी अनुभूति को कितने सुन्दर रूप में अभिव्यंजित किया गया है -

''कुंद कलियों की कोमल प्रात ।[5]

''रेशमी घूंघट बादल का ।[6]

1- निराला - अनामिका - पृ० - 110
2- पंत - पल्लव - पृ० - 69
3- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 126
4- प्रसाद - आंसू - पृ० - 49
5- पंत - गुंजन - पृ० - 46
6- पंत - पल्लव - पृ० - 67

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन कवियों के स्पर्श बोध ने छायावादी काव्य को पर्याप्त लालित्य प्रदान किया है ।

(4) **घ्राण संबंधी बिम्ब** :- गंध-विषयक अप्रस्तुत योजना के माध्यम से वर्ण्य की गंधानुभूति को प्रबुद्ध करके उसके समग्र प्रभाव को मूर्तिमन्त करने की दृष्टि से छायावाद में अनेक सुन्दर बिम्बों का निर्माण किया गया है । घ्राण संवेदना के धरातल पर गंध के दो सीमांत हैं - सुगंध और दुर्गन्ध छायावादी कवियों ने अपनी सुरूचि के अनुसार सुगंध के बिम्बों को ही उभारा है । जिसका उदाहरण निम्नलिखित है -

अ- "सुरा सुरभिमय बदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल था जहां बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग ।।"[1]

आ "वे अम्लान कुसुम सुरभित,
मणि रचित मनोहर मालाएं ।।"[2]

इन उद्धरणों में देव-देवांगनाओं के विलासपूर्ण अतीत का वर्णन है ।

'निराला' ने भी अनेक कविताओं में गंध संवेदना को व्यक्त किया है । एक रचना में तो उन्होंने अमलतास, पलास, कुन्द, मल्लिका, माधवी, अरविन्द आदि विभिन्न पुष्पों की चर्चा करते हुए, "सौरभ वसना समीर बहती ।[3] कहकर पवन का सुगन्धि के वस्त्र ही पहना दिये हैं ।

'पंत' ने अपने काव्य में प्राकृतिक गंधों का बिम्ब तो प्रयुक्त किया ही है, कायिक गंधों में भी उनकी रूचि रही है । इसी कारण प्रेयी की मुख-वास और श्वास गंध ने कवि को इस रूप में भावोच्छवसित किया है ।

अ - तुम्हारी पी मुख - वास तरंग, आज बौरे भौंरे सहकार ।[4]

आ - 'चूर्ण-कच, सांस-सुगंध-झकोर।'[5]

1- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 11
2- प्रसाद - कामायनी - पृ० - 13
3- निराला - अनामिका - पृ० - 22-23
4- पंत - गुंजन - पृ० - 57
5- पंत - गुंजन - पृ० - 78

महादेवी जी के काव्य में गंध के प्रत्यायन के लिए प्रायः अगरू, धूप, चन्दन, कपूर आदि का उल्लेख हुआ है । ''सुधि से सुरभित स्नेह धुले ।'' अथवा ''स्वप्नों से सुरभित दृग जल ले ।'' जैसी पंक्तियों[1] में उन्होंने प्रियतम की सुधि और स्वप्नों में भी सुरभि का अनुभव किया है । इस प्रकार यह गंध बोध उनके आराध्य की पवित्रता, सूक्ष्मता और भाव-सौष्ठव का परिचायक है ।

(5) **रसना - संबंधी बिम्ब** :- ज्ञानेन्द्रियों में जिह्वा का भी निजी महत्व है । इसी के सम्पर्क से पदार्थ की मधुरता, कड़वाहट, तिक्तता अथवा अम्ल आदि गुणों की अभिव्यक्ति होती है, किंतु जिह्वा द्वारा प्राप्त आनंद की अवधि क्षणिक होती है और खाद्य व पेय पदार्थों के संदर्भ में ही इससे संबंधित बिम्बों की आयोजना संभव है । सूक्ष्म और सुन्दर भावों के निरूपण में भोज्य पदार्थों का संकेत प्रायः स्थलता ले आता है । छायावाद भी इसका अपवाद नहीं है । डॉ० केदारनाथ सिंह ने आधुनिक कविता के संदर्भ में बिम्बों पर विचार करते समय 'निराला' की उत्तरकालीन कृति 'अणिमा' से एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उसे ''इस युग की सम्पूर्ण कविता में प्रत्यक्ष स्वाद-संवेदना का एकमात्र सफल चित्र माना है ।''[2] और यह विचार व्यक्त किया है कि ''छायावादी कवियों ने प्रत्यक्ष स्वाद संवेदना को पकड़ने का प्रयास बहुत कम किया है ।''[3]

छायावादी कवियों ने न केवल इन्द्रिय विशेष के आधार पर पृथक-पृथक बिम्बों का निर्माण किया है, अपितु अधिकांशतः उनके बिम्ब संश्लिष्ट हैं । संश्लिष्ट बिम्ब का उदाहरण -

''आंसुओं से कोमल झर-झर
स्वच्छ निर्झर-जल-कण-से प्राण
सिमट सट-सट अन्तर भर-भर
जिसे देते थे जीवन-दान
वही चुम्बन की प्रथम हिलोर
स्पप्न स्मृतिदूर, अतीत, अछोर ।।[4]

1- महादेवी - दीपशिखा - पृ० - 94-145
2- रमेश चन्द्र गुप्त - छायावाद की भाषा - पृ० - 229
3- डॉ० केदारनाथ सिंह - आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान - पृ० - 211
4- निराला - परिमल - पृ० - 103

यहां 'झर-झर' द्वारा श्रावणिक बिम्ब उभरता है और 'सिमट', 'सट-सट' 'चुम्बन' आदि के माध्यम से स्पर्श-चेतना को स्पंदित किया गया है । इन बिम्बों के एकत्रित प्रयोग से अभिव्यक्ति में मनोरमता आ गई है ।

छायावादी बिम्ब-विधान की एक अन्य विशेषता यह है, कि इसमें कोमल एवं मसृण बिम्बों के साथ-साथ विराट् बिम्बों की भी सुन्दर कल्पना की गई है । 'निराला' इस दृष्टि से अद्वितीय कवि हैं । उनकी 'राम की शक्ति पूजा' रचना तो विराट बिम्ब-बोध के लिए तो बहुचर्चित है । ''युद्ध-स्थल से लौटते समय राम की जटाएं खुलकर पीठ, वक्ष और भुजाओं की ओर फैल गयी हैं तथा उनके मध्य उनकी दो चिंतातुर आंखें स्पष्ट दिखाई पड़ रही हैं । कवि को राम का यह रूप उस विशाल पर्वत के समान प्रतीत होता है, जिस पर चारों ओर अंधकार व्याप्त हो गया हो और जिसके मध्य से आकाश में कहीं दूर दो तारक-बिंदु चमक रहे हों ।''[1]

'पंत' ने परिवर्तन की कल्पना ''शत्-शत् फेनोच्छवासित स्फीत फूत्कार-भयंकर'' सर्प से करके भी इसी विराट्ता का परिचय दिया है ।[2] महादेवी जैसी कोमल भावों की अनुगायिका ने भी विराट् कल्पनाएं की हैं -

''अवनि-अम्बर की रूपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब कांपता
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्सना के रजत् पारावार में ।।[3]

छायावाद की कवि-चेतना प्रतीकों से भी अधिक बिम्ब-निर्माण के प्रति सजग रही है । भाव-चित्रों को रूपायित करने के लिए इन कवियों ने असंख्य बिम्बों का सृजन किया है। बिम्बों की बहुसंख्या के कारण इस काव्य-धारा को 'बिम्ब-काव्य' कहना अनुपयुक्त न होगा ।

प्रतीक :- आज काव्य में प्रतीकों की बड़ी चर्चा है । शब्द अथवा ब्यष्टि-गत अर्थ के प्रसंग में ही नहीं, पूरे-के-पूरे काव्य प्रबंध को ही प्रतीक अथवा प्रतीकात्मक काव्य कहा

1- निराला - अनामिका - पृ० - 153
2- पंत - पल्लव - पृ० - 150
3- महादेवी - यामा - पृ० - 79

जाने लगा है । पूरी की पूरी कविताएं प्रतीक रूप में रचित होती हैं । वेद के ''प्रतीक में विचक्षणम्'' के बावजूद, आज हिन्दी साहित्य में 'प्रतीक' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, संस्कृत साहित्य-शास्त्र में उस अर्थ में, स्यात, नहीं आया है । भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'उपलक्षण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, 'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थ कथनपुलक्षगम' के अनुसार जब कोई वस्तु नाम इस रूप में प्रयुक्त हो कि वह वस्तु उस गुण में अपने समान अन्य वस्तुओं का भी बोध करा दे, तो वह शब्द 'उपलक्षण रूप में प्रयुक्त कहा जाएगा । यह प्रतीक शब्द आज के अर्थ में नवग्रहीत है और अंग्रेजी के 'सिम्बॉल' शब्द का पर्याय है ।

'प्रतीक' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में हुआ है । उससे अर्थ ग्रहण करते हुए बाल गंगाधर तिलक ने इसका अर्थापन अपने ढंग से किया है - 'प्रतीक' (प्रति+इक) का धात्वर्थ यह है - 'प्रतिः' अपनी ओर, 'इक' झुका हुआ । जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो, और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं । इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी ईश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिन्ह अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है । आचार्य शुक्ल ने भी प्रतीक का ऐसा ही अर्थ लिया है ।

''शुक्ल जी'' का कहना है कि प्रतीक सर्वदा अपने से इतर संकेत देता है । समुद्र, चातक आदि की अर्थवत्ता स्वयं इनमें नहीं है, बल्कि इनके द्वारा संकेतित विशिष्ट अर्थ में है । प्रतीक रूपक बिम्ब और मिथक से भिन्न है । रूपक में सादृश्य का भाव रहता है । लेकिन प्रतीक सादृश्य के आगे भावना जगाने का कार्य करता है । प्रतीक के द्वारा अदृश्य सारतत्व की अभिव्यक्ति होती है ।''[1]

'प्रतीक' शब्द प्रति-पूर्वक 'इण् धातु से बना है । 'गतिः गमनम् गतिः प्राप्तिः, गतिर्ज्ञानम् के अनुसार इसका अर्थ चलना प्राप्ति या पहुंचना और ज्ञान होता है । 'प्रति'+'इण्' (मतों) में 'इण्' का 'इ' ही शेष रहेगा । इसमें 'क्विप' प्रत्यय और दीर्घीकरण से 'प्रती' बन जाता है और फिर स्वार्थे 'कप' प्रत्यय के योग से 'प्रतीक' शब्द सिद्ध हो सकता है । इस सिद्धि के अनुसार 'प्रतीक' का अर्थ हुआ, वह वस्तु जो अपनी मूल वस्तु में पहुंच सके अथवा वह मुख्य चिन्ह् जो मूल का परिचायक हो । मंत्रादि के

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीच शब्द - पृ० - 62

कुछ अक्षर भी जिनसे पूरे का बोध हो, प्रतीक कहे जाते हैं । मूर्ति-पूजा के प्रसंग में 'प्रतीक-पूजा का उल्लेख भी होता है । मूर्ति किसी देवता अथवा महात्मा का प्रतिनिधि होती है । हम मूर्ति को पूजकर उस देवता अथवा महानात्मका की पूजा का संतोष लेते हैं ।

प्रतीक से उसी गुण वाली अन्य सभी वस्तुओं का बोध होता है, या उस एक वस्तु या पद के भीतर निहित गुण या धर्म-विशेष का ही सामान्यीकरण होता है ? प्रतीक रूप में आयी वस्तु एक विशिष्ट इकाई के रूप में अपना महत्व खो बैठती है । जब हम फूल का प्रयोग एक विशेष इकाई के रूप में न कर, फूल की भांति सुखद एवं इन्द्रिय-रंजक समस्त पदार्थों के संकेत के निमित करते हैं तो फूल की व्यष्टि-गत सत्ता का सामान्यीकरण हो ही जाता है । जैसे उदाहरण के तौर पर हम कहें कि अमुक व्यक्ति जीवन में केवल फूल चुनता आया है, शूलों से उसका परिचय नहीं, में फूल के साथ फूल सदृश अन्य सुखकर पदार्थों का भाव बोध या शूल के साथ शूलवत् अन्य दुःखकर वस्तुओं का चित्र मन में प्रमुख नहीं होता ।

प्रतीक का संकेत धर्म-विशेष रखने वाले सभी पदार्थों का बोध नहीं, वरन् उन पदाथों में निहित जातिगत (कॉमन) सामान्य धर्म ही है ।

प्रतीकों की सामान्यतः दो कोटियां निर्धारित की गई हैं - परम्परागत और वैयक्तिक प्रतीक । परम्परागत प्रतीक हजारों वर्षों से मनुष्य के भावों, विचारों और कल्पनाओं को वहन करते आये हैं । अलग-अलग देशों की अलग-अलग परम्पराएं भी होती हैं । इसलिए उनके परम्परागत प्रतीक भी अलग-अलग होते हैं । उषस्, वरुण, त्रिशूल, शरद्, चेतक, सिंह, चक्रव्यूह, आदि इस देश के पारंपरिक प्रतीक हैं, तो बुलबुल, गुलशन, शमा अरब देशों के और मोर, चील, क्रास पश्चिमी देशों के । प्राकृतिक प्रतीक भी देश के अनुरूप होते हैं -श्यामघटा इस देश के माहौल में एक अर्थ देगी और यूरोप में दूसरा । पारम्परिक प्रतीकों के अतिरिक्त वैयक्तिक प्रतीक भी होते हैं। आयरिश कवि एट्स ने अनेक 'प्राइवेट' मिथकों और प्रतीकों की सृष्टि की है । हिन्दी में अज्ञेय की रचनाओं में प्रतीकों की भरमार है । सागर, मछली, सूर्य आदि को उन्होंने वैयक्तिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है ।

प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्दों में 'लक्षणा'- शक्ति भी सक्रिय होती है; लक्षणा अभिधा और व्यंजना के बीच की अत्यन्त मनोरम सुनहली कड़ी है । वाच्यार्थ की स्थलता और व्यंग्यार्थ की सूक्ष्मता के बीच अपनी चित्रात्मकता अथवा मूर्तिमता से यह आवश्यक सेतु निर्मित करती है । मूर्तिमत्ता से जहां ऐन्द्रिक संवेदनों एवं रोमांचों का पुनरून्मेष होता है, वहां मूर्ति अथवा चित्रगत व्यंजना से संकेतार्थ की उपलब्धि । जब सूक्ष्म सामान्य 'धर्म' के आधार पर बने प्रतीक उस 'धर्म' विशेष के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, तो पाठक के सम्मुख एक कल्पनागत बिम्ब उपस्थित होता है । उस बिम्ब के 'धर्म' को 'प्रस्तुत' से सम्बद्ध कर पाठक कवि के उद्दिष्ट अर्थ से आत्मा-प्रसाद लाभ करता है। इस प्रकार हम प्रतीकों में 'साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती' अथवा 'धर्म-गत प्रयोजन लक्षणा' (मम्मट) मान सकते हैं ।

प्रत्येक युग-समाज के काव्य में उसके नवीन प्रतीक भी बनते चलते हैं । पुराने प्रतीकों को क्रमशः छोड़ता हुआ काव्य, नवीन युग-जीवन एवं नये मूल्यों के परिप्रेक्षित में नये प्रतीक ढूंढता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि यह त्याग और ग्रहण उस रूप में और उसी शीघ्रता के साथ होता है, जिस शीघ्रता के साथ राजनीति के अवसरवादी उद्घोष बदलते हैं । एक दिन में न तो समस्त प्रतीक बदले जा सकते हैं और न सर्वथा नवीन प्रतीकों का सवांशतः अर्थ ग्रहण ही सम्भव हो सकता है । यह प्रक्रिया धीरे-धीरे समाज की आन्तरिक चेतना-धारा के साथ होती है ।

शुद्ध-प्रतीक :- शुद्ध प्रतीकत्व की अवतारणा वहीं होती है, जहां हम किसी व्यापक 'धर्म' वाले अनेकानेक पदार्थों में से किसी एक ऐसे पदार्थ को ही उस धर्म के स्थान पर प्रयुक्त कर देते हैं ।

शुद्ध-प्रतीकों में भी दो प्रकार की कोटियां होती हैं - एक ऐसे प्रतीकों की कोटि जो प्रयोग और निरंतर अभ्यास से 'धर्म' विशेष के लिए एक प्रकार से रूढ़ हो जाए और दूसरे, वे जो कवि की मर्मस्पर्शिनी प्रतिभा से चुने जाकर ऐसी प्रकरणिका में उपस्थित किए जाते हैं कि उस रूप में पहले प्रयुक्त न होकर भी, अपनी विशिष्ट व्यंजना में अत्यंत सफल होते हैं । ऐसे प्रतीकों को लाने के लिए विशिष्ट एवं असामान्य कवि-प्रतिभा तथा सुसंस्कृत कला-चेतना की आवश्यकता अनिवार्य होती है । 'पंत' जी की निम्न पंक्तियां दोनों ही कोटियों को उदाहृत करती हैं -

"उषा का था उर में आवास, मुकुल का सुख में मृदुल विकास ।
चांदनी का स्वभाव में भास, विचारों में बच्चों की सांस ।।"[1]

शुद्ध प्रतीकों में रूपाकार की समानता, सावर्ण्य(समान रंग) आदि स्थूल धर्मों को आधार नहीं बनाते, उनमें एक व्यापक और सूक्ष्म साम्य लक्षण होता है । जीवन के शिशुकाल के निमित्त आये प्रभात अथवा उषा जैसे प्रतीकों में रंग या रूप की समानता उछिष्ट नहीं होती । प्रतीक वस्तुतः एक विशाल अर्थ-साहचर्य के साथ प्रयुक्त होते हैं, जिसमें कितने ही संभव संकेतों के भावन का उन्मुक्त क्षेत्र रहता है । प्रतीकों के अर्थ-परिवेश के भावन के लिए अनेकानेक द्वार होते हैं । जो सहृदय अपनी सीमाओं में जहां तक ग्राहक कल्पना का विस्तार कर पाता है, उसे उतनी ही अर्थ-छायाएं प्राप्त होती हैं । प्रतीक रूप में आये शब्दों का अपना एक स्वतंत्र परिवेश होता है और उसका आनयन साम्य के किसी ऐसे नियोजित एवं आलंकारिक तंत्र पर नहीं होता जहां 'प्रस्तुत'-'अप्रस्तुत' के उभय पक्षों की विवक्षा प्रमुख होती है । 'उषा का था उर में आवास' में उषा के संकेत-परिवेश के अनुभावन-परिशीलन में हम अंततः 'उर' में न जाकर प्रथमतः स्वतंत्र रूप से उषा की विशेषताओं का भाव समझ कर के उन पर लक्षणा से 'उर' पर उनका आरोप करते हैं । जब अनेक संकेतों की शक्ति प्रमुख होती है, तो ये प्रतीक साधारण अप्रस्तुओं की सीमित अर्थवत्ता से बहुत आगे बढ़ जाते हैं -

"उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास ।"[2] -

में उषा ताजगी, निश्छलता, भोलेपन, स्फूर्ति, अनुरंजकता आदि कितने ही अर्थों को प्रकट कर देती है । मुकुल कोमलता, आह्लादकता, विकास, सौंदर्य के अछूतेपन आदि अनेक अर्थ-संकेतों को प्रकट करता है । रात्रि के अन्धकार के पश्चात् उषा के उदय और सम्पन्न डाली पर मुकुल के खिलने की . की स्थिति की समस्त विशेषताएं मन में नाच-नाच उठती हैं ।

जीवन की अनेकरूपता की अनुभूति और सहृदय का मनोलोक सांसारिक आकर्षणों एवं कोलाहल की अल्पकालिकता की अनुभूति थोड़े में हो सकती है -

---

1- पंत - पल्लव - आंसू - पृ० - 27
2- सुमित्रानंदन पंत - पल्लव - आंसू - पृ० - 27

''मैं अकेला,
देखता हूं आ रही
मेरे दिवस की सांध्य-बेला
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही
हट रहा मेला ।''[1]

''आंसू समस्त व्यथा-वेदना के प्रतीक हैं -

''किसी ने लिखी आंसूओं से कहानी,
किसी ने पढ़ा किंतु दो बूंद पानी ।''[2]

इसी प्रकार 'प्रसाद' जी के 'कामायनी' के 'लज्जा सर्ग' में प्रतीकों का विधान है -

''वरदान सदृश हो डाल रही,
नीली किरणों से बुना हुआ;
यह अंचल कितना हल्का सा
कितने सौरभ से सना हुआ ।''[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में लज्जा का अंचल नीली किरणों से बुना हुआ और सौरभ से सना हुआ है । नीली किरणें मन की प्रकट होने वाली बात को मन की अबोधता में ही छिपा रखने, बाध्य करने वाले दुरावों, तथ्यों को न समझकर भी उन्हीं में डूबे रहने की वृत्ति और इस वृत्ति की समझ में न आने वाली स्पृहणीयता की मानसिक स्थिति का प्रतीक हैं। 'नीली किरणों' से भी सुन्दरतर और स्पष्टतर प्रतीक है 'सौरभ' । यहां सौरभ का व्यष्टि-गत अर्थ 'गंध' न होकर अनेक सुखदा एवं अह्लादिका लालसाओं और इच्छाओं का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है ।

1- सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' - अणिमा - ग्यारह - पृ० - 12
2- शम्भूनाथ सिंह - छायालोक - पृ० - 1
3- जयशंकर प्रसाद - कामायनी - लज्जा सर्ग - पृ० - 508

'पंत' जी के 'कांटों ने भी पहने मोती' में कांटे संसार में समस्त कठोर और निर्मम पदार्थों के प्रतिनिधि के रूप में आये हैं तथा कठोरता मुख्य एवं व्यापक भाव है ।

अप्रस्तुतात्मक प्रतीक :- ऐसे प्रतीकों को प्रतीकात्मक उपमान या उपलक्षण भी कहा जा सकता है । ये अप्रस्तुत रूप में आकर अपनी अर्थवत्ता और संकेतात्मकता के लिए 'प्रस्तुत' के मुखापेक्षी नहीं होते । उपमा में दोनों पक्षों में भिन्नता स्पष्ट कथित होती है, रूपक में दोनों का कथन करते हुए भी 'प्रस्तुत' पर 'अप्रस्तुत' का आरोप करते हैं और दोनों को एकरूपता प्राप्त कराते हैं । प्रतीक इस समानता की वह चरम सीमा है जहां एक प्रकार से 'अप्रस्तुत' में ही 'प्रस्तुत' आरोपित हो जाता है । भारतीय दार्शनिक पदावली में यदि कहा जाए तो हम कह सकते हैं कि जैसे परमात्मा स्वरूप आत्मा विलग होकर अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व बना लेता है ठीक उसी प्रकार 'प्रस्तुत' की अप्रस्तुतता से उद्भुत होते हुए भी प्रतीक अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सप्राणता में अप्रस्तुतत्व की सीमाओं को डूबो कर सम्बद्ध किंतु स्वतंत्र अर्थ-साहचर्य से युक्त एक निजी व्यक्तित्व बना लेता है । जैसे परमात्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्मा को माध्यम बनाता है, ठीक उसी प्रकार 'प्रस्तुत' भी अपनी अभिव्यंजना के लिए प्रतीक की स्वतंत्र सत्ता की विशिष्टताओं पर आधृत हो जाता है । यह 'प्रतीक' जब अपनी स्वतंत्र अर्थवत्ता को छोड़कर प्रकरण या प्रसंग से अर्थवत्ता ग्रहण करने लगते हैं, तो क्रमशः गौण होने लगते हैं और धीरे-धीरे प्रतीकत्व की सीमा से उतर कर उपमान या अप्रस्तुत की परिधि में प्रवेश करने लगते हैं ।

पंत जी के - 'कांटों' ने भी पहने मोती - में 'कांटों' तो कठोरता के एक मूलवर्ती भाव की व्यापक समानता पर आधृत हैं, अतः वे अपने कठोरता - धर्मों समस्त स - वर्गीयों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं । मोती का 'आंसू' अर्थ उज्जवलता, गोलाकारता द्रवता आदि अपेक्षाकृत स्थूल साम्यों पर आधृत है । 'मोती' में उपमानत्व या अप्रस्तुतत्व उभरा हुआ है । निम्न छन्दों में उपमानों में प्रतीकत्व भी है -

''झंझा झकोर गर्जन था,
बिजली थी नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला ।''[1]

1- प्रसाद - आंसू - पृ० - 15

झंझा, झकोर, गर्जन, बिजली और नीरद माला हृदय में उठने वाली तीव्र विक्षब्धता की सांसों, सहसा जगने वाली व्यथाओं, निराशा-भरी उदासी आदि की प्रतीक हैं । अप्रस्तुतता इसलिए है कि इन प्राकृतिक स्थितियों की समानता में वियोगी के हृदय की विरहगत विशिष्ट दशाओं का संकेत मिलता है । एक अन्य उदाहरण -

''विष - प्याली जो पी ली थी,
वह मदिरा बनी न्यून में ।
सौंदर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन में ।''[1]

विष प्याली और मदिरा प्रेम की कड़वी घूंट और बाद में प्रमोन्माद के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मदिरा अप्रस्तुतता के साथ-साथ मतवालेपन के धर्म वाला प्रतीक भी है ।

''वहां नयनों में केवल प्रात, चन्द्र-ज्योत्सना ही केवल गात ।
रेणु छाये ही रहते पात, मन्द ही बहती सदा बयार ।
हमें जाना उस जग के पार ।।''[2]

उपर्युक्त छन्द में प्रात और रेणु आशा - स्फूर्ति और शीतलता के प्रतीक हैं । परंतु ज्योत्स्ना शरीर के धर्मों के साम्य में नियोजित होने से अप्रस्तुतत्व वहन करती है ।

बच्चन जी भी जीवन की शक्तियों के लिए 'लोहू' को प्रतीक माना है -

''मैं समझूंगा सब व्यर्थ हुआ -
भीगी - ठण्डी रातों में जग
अपने जीवन के जोहू से लिखना अपना जीवन-गायन,
सुखमय न् हुआ यदि सूनापन ।''[3]

नरेन्द्र जी की निम्न पंक्तियों में ज्योति आशा के अप्रस्तुत रूप में भी उपस्थित की गई है-

---

1- प्रसाद- आंसू - पृ० - 32
2- निराला - निराला ग्रंथावली - - 2 - पृ० - 64
3- बच्चन - एकान्त संगीत - बच्चन ग्रंथावली - पृ० - 256

"तिमिर-माया-जाल को हर,
ज्योति से जीवन गया भर,
रहेगा ज्योतित निरंन्तर,
ज्योति-चुम्बन से हृदय के दीप की बाती तली !
घर-घर जली दीपावली ।"[1]

श्री शम्भूनाथ सिंह ने चित्र को जीवन के अनेक रूपों का अप्रस्तुत भी बनाया है -
"समय की शिला पर मधुर चित्र कितने,
किसी ने बनाये किसी ने मिटाये ।"[2]

शम्भूनाथ सिंह की निम्न पंकित्यों में 'गान' जीवनोल्लास का प्रतीक है, ये उल्लास अनेक रूपों में हो सकते हैं -
"मुखरित कर मधुर गान
मेरे मन कोई ।"[3]

प्रतीक लाक्षणिक प्रक्रिया की निर्मित है, अतः मूर्तिमत्ता और चित्रात्मकता उनकी विशिष्टता होती है । प्रतीकों का जन्म प्रयोजन को लेकर होता है, अतएव प्रतीक में प्रयोजनवती लक्षणा ही सक्रिय होती है ।

सीमित अथवा एकोन्मुखी प्रतीक :- प्रतीक जब धीरे-धीरे वस्तु-विशेष के अर्थ में निश्चित से हो जाते हैं, तब इस निश्चितता से उनमें लक्षणा-विच्छित्ति के स्थान पर एक प्रकार की रूढ़ता आने लगती है, फिर वे प्रयोजनवती लक्षणा के क्षेत्र से 'रूढ़ि लक्षणा' की सीमा के अंतर्गत चले जाते हैं । छायावादी युग में भी 'निर्गुण-पंथी', 'हंसा' और 'ठगिनी' की भांति कुछ प्रतीक निश्चितार्थी बन जाते हैं । इसी प्रकार पतझर वियोग, वसंत मस्ती, ग्रीष्म दुःखातिरेक, झंझा उत्पात, सावन अश्रु-वर्षा के अर्थ में निश्चित-प्राय हैं । इनमें प्रच्छन्न उपमानत्व आरोपित हो जाता है -

---

1- नरेन्द्र शर्मा - पलाशवन - पृ० - 23
2- शम्भूनाथ सिंह - छायालोक - पृ० - 1
3- शम्भूनाथ सिंह - उदयाचल - पृ० - 1

"आज किसी के मसले तारों
की वह दूरागत झंकार
मुझे बुलाती है सहमी सी
झंझा के परदों के पार ।"[1]

तार, झंकार और झंझा उपर्युक्त पंक्तियों में ऐसे ही प्रतीक हैं ।

सौंदर्यमय प्रतीक-विधान (प्राकृतिक तथा अन्य) के रूप में लाक्षणिक प्रयोग भी छायावादी शैली की एक विशेषता है । महादेवी के रहस्य-भावनाओं की अभिव्यक्ति सर्वत्र ही प्रतीकों द्वारा हुई है । प्रतीकों के रूप में लक्षणा का सुन्दर उदाहरण निम्न है -

"यह पतझड़ मधुवन भी हो ।
शूलों का दर्शन भी हो कलियों का चुम्बन भी हो ।"[2]

यहां पतझर विषादमय जीवन का प्रतीक है और मधुवन सुखमय जीवन का । शूल दुखों के तथा कलियां सुखों के प्रतीक हैं । इस प्रकार के प्रतीकों के प्रयोग से काव्य की प्रभविष्णुता बढ़ जाती है । एक और उदाहरण निम्न है, अश्रु नीर में उत्पन्न शुद्ध कमल रूपी आत्मा का वर्णन है -

"इसमें न पंक का चिन्ह शेष, इसमें न ठहरता सलिल लेश,
इसको न जगाती मधुप - भीर ।[3]

इन पंक्तियों में पंक तामसिक भावनाओं का 'सलिल' राजसिक भावनाओं का, मधुप-भीर वासनाओं और सांसारिक इच्छाओं के प्रतीक हैं । इसी प्रकार संसार के लिए सागर, तरी जीवन के लिए, पतवार साहस के लिए, वीणा के तार हृदय के भावों के लिए ग्रीष्म रोष के लिए और शिशिर जड़ता के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

एक और उदाहरण निम्न है -

"सांसों की समाधि सा जीवन
मसि-सागर का पंथ गया बन ।"[4]

1- प्रो० क्षेम - छायावाद के गौरव चिन्ह - पृ० - 243
2- महादेवी - नीरजा - पृ० - 84
3- महादेवी - नीरजा - पृ० - 2
4- महादेवी - दीपशिखा - यह मंदिर का दीप - पृ० - 396

अन्य–

"धूप–सा तन दीप–सी मैं ।"[1]

इसी प्रकार 'नीहार' में भी इनके सुन्दर प्रतीक देखने योग्य है –

"इन हीरक से तारों को
कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढाला ।"[2]

'प्रसाद की इस प्रवृत्ति के कुछ मनमोहक उदाहरण निम्न है –

"शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग–जल का,
यह व्यर्थ सांस चल–चलकर
करती है काम अनिल का।"[3]

उक्त पंक्तियों में ज्वाला भी प्रेम के अर्थ में सीमित है । इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण 'आशा' सर्ग से –

"एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड़ में कर वास रहा ।"[4]

अथवा – "उषा की पहली लेखा कांत
माधुरी से भीगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद ।"[5]

इसी प्रकार – "श्रद्धा देख रही थी चुप मनु के भीतर उठती आंधी को" में आंधी भावों की प्रबलता के लिए प्रयुक्त हुआ है । 'इन्दु नील मणि महाचषक' आकाश के लिए, तारे

1– महादेवी – दीपशिखा – धूप सा तन – पृ0- 397
2– महादेवी – नीहार – स्वप्न – पृ0 – 42
3– प्रसाद – आंसू – पृ0 – 10
4– प्रसाद – कामायनी – आशा – पृ0 – 443
5– प्रसाद – कामायनी श्रद्धा पृ0 457

अन्य -

''धूप - सा तन दीप - सी मैं ।''[1]

इसी प्रकार 'नीहार में भी इनके सुन्दर प्रतीक देखने योग्य है -

''इन हीरक से तारों को
कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढ़ाला ।''[2]

'प्रसाद' की इस प्रवृत्ति के कुछ मनमोहक उदाहरण निम्न है -

''शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग-जल का;
यह व्यर्थ सांस चल - चलकर
करती है काम अनिल का ।''[3]

उक्त पंक्तियों में ज्वाला भी प्रेम के अर्थ में सीमित है । इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण 'आशा' सर्ग से -

''एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड़ में कर वास रहा ।''4

अथवा - ''उषा की पहली लेखा कांत
माधुरी से भीगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद ।''[5]

इसी प्रकार - ''श्रद्धा देख रही थी चुप मनु के भीतर उठती आंधी को'' में आंधी भावों की प्रबलता के लिए प्रयुक्त हुआ है । 'इन्दु नील मणि महाचषक' आकाश के लिए, तारे

1- महादेवी - दीपशिखा - धूप सा तन - पृ० - 397
2- महादेवी - नीहार - स्वप्न - पृ० - 42
3- प्रसाद - आंसू - पृ० - 10
4- प्रसाद - कामायनी - आशा - पृ० - 443
5- प्रसाद - कामायनी - श्रद्धा - पृ० - 457

सुख के लिए, बुद्बुद् दुख के लिए, वसंत सुख तथा पतझर, हलाहल दुःख के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

इसी प्रकार पंत ने भी सांझ विरह के लिए वीणा भावों के लिए मधुवन आनंद के लिए, पतझर दुःख के लिए, प्रकाश ज्ञान के लिए, तम अज्ञान के लिए, कांटे दुःख के लिए तथा निम्न पंक्तियों में जो प्रतीकात्मक अन्योक्ति है, उसमें निस्तल जल जीवन की तह के लिए, मोती वाली मछली परमार्थतत्व के लिए, 'तट की चल जल माली' व्यक्त सौंदर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं -

> ''सुनता हूं इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली
> पर मुझे डूबने का भय है भाती तट की चल जल-माली ।''[1]

'निराला' ने भी प्रकाश ज्ञान के लिए, अंधकार अज्ञान के लिए, वसंत आनंद के लिए, पतझर दुःख के लिए, नीड़स्थ पंछी संसार-बद्ध आत्मा के लिए, हीरे की खान आत्म-तत्व के लिए तथा इसी प्रकार के अनेक प्रतीकात्मक प्रयोग स्थान-स्थान पर किए हैं । छायावाद काव्य शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता है।

इस प्रकार छायावादी कवियों ने सौंदर्य-मय प्रतीक-विधान द्वारा भावाभिव्यक्ति को मूर्तता, चित्रात्मकता, एवं तीव्रता देने के सफल प्रयास किये हैं । 'पंत' जी के प्रतीक मूर्तिमत्ता में बड़े सफल हैं । 'परिवर्तन' कविता में उनके प्रतीक-विधान की शक्ति का चरम दर्शन होता है । 'प्रसाद' जी के प्रतीकों में भावोच्छलता अधिक है । 'महादेवी' के प्रतीक चित्र की तूलिका के चटकीले रंग और छाया-प्रकाश की हल्की-गहरी छायाओं से संवारे गए हैं, कहीं व्यथा से सजल, कहीं सुहाग से रंगीन तो कहीं चिंतन से स-कान्त और सतेज हैं । 'निराला' की प्रतीक-योजना में कहीं दर्शन की व्यापकता और गहराई है, तो कहीं जीवनोष्मता का मांसल प्रसाद । 'बच्चन' जी के प्रतीक सीधे, ऐन्द्रिय और खुले होते हैं ।

कुछ कविताएं ही प्रतीक योजना में लिखी गई है । 'निराला' की 'जूही की कली' में एक आध्यात्मिक संकेत है । ' निराला' जी के बहुत से दार्शनिक प्रगीत

1- प्रो० कृष्णदेव झारी - छायावाद और उसके चार स्तम्भ - पृ० - 66

आन्तरिक अर्थ से अन्तः सलिल हैं । 'प्रसाद' जी की 'कामना' नाटिका में कितनी सूक्ष्म वृत्तियों का प्रतीकात्मक मानवीकरण किया गया है । यही बात 'पंत' जी की 'ज्योत्सना' में भी है, जहां बहुत से पात्र प्रकृति के उपादान हैं । 'कुकुरमुत्ता'- रचना में सामाजिक यथार्थ, गुलाब और कुकुरमुत्ता के प्रतीकों से व्यक्त किया गया है । स्वयं 'कामायनी' की कथा-संघटना प्रतीकों से आलोकित है । 'पंत' जी की 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ग धूलि' और 'उत्तरा' की रचनाओं में भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सहारा यत्र-तत्र स्पष्ट है ।

अध्याय छः
नई कविता की आध्यात्मिक दृष्टि

नई कविता में आध्यात्मिक दृष्टि या चेतना

चिंतन की दृष्टि से प्रगतिवाद मार्क्सवादी विचार दर्शन से निश्रित काव्य-धारा थी । उसका मूलाधार भौतिकवाद था । प्रगतिवाद आध्यात्मिक चिंतन की प्रक्रिया को समूल अस्वीकार करता है । इसमें व्यक्ति मानव की अवधारणाओं की अपेक्षा सामाजिक चिंतन को प्रमुखता दी गई । इसलिए यह भाव-वाद और वैयक्तिक चिंतन का विरोध कर आध्यात्मिकता को परे कर देने वाली काव्य-धारा है । एक तरह से कहें तो आध्यात्मिक चिंतन की प्रक्रिया इस काव्य-धारा के अनुसार दोषपूर्ण और आलोचना की वस्तु मानी जाती है अर्थात ईश्वर और व्यक्ति दोनों को प्रगतिवाद इन्कार करता है । इसलिए उसका आध्यात्मिक चिंतन से संबंध नहीं दिखाई देता । इसी काव्यात्मक चिंतन प्रक्रिया के विरुद्ध प्रयोगवाद का उदय हुआ जिसमें मानवीय आस्था के एक नए संसार ने स्वीकृति पाई । व्यक्ति की भाव संपदा को फिर से स्थापित किया गया ।

सन् 36 के आसपास जिस साहित्य का उदय हुआ, उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई । कुछ लोग इसे प्रगतिशील साहित्य कहना अधिक संगत समझते हैं । प्रगतिशील शब्द अँग्रेज़ी के 'प्रोग्रेसिव' का अनुवाद है । सन् 35 में ई०एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव'राइटर्स-एसोसिएशन' का अधिवेशन प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में हुआ । व्यापक अर्थ में दलित मानव का पक्ष लेने वाले सभी साहित्य को प्रगतिशील कहा गया । किंतु जब मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुसार साहित्य को साम्यवादी मूल्यों की स्थापना का माध्यम मान लिया गया तो इसे प्रगतिवादी साहित्य कहा जाने लगा मार्क्सवादी विचारकों ने बराबर इस बात पर जोर दिया कि यह कोई 'कल्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है । गहरी सामाजिक संपृक्ति ही प्रगतिवाद है । पर इसमें संदेह नहीं कि यह मार्क्सवादी के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, बल्कि उस पर आधारित भी है ।

द्वंद्वात्मकता से हमारा तात्पर्य ऐसी विचारधारा से है जिसके अंतर्गत वस्तुओं का अध्ययन उनके विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया के संदर्भ में किया जाता है तथा किसी वस्तु के विशेष गुणों को उसके नए संबंधों के प्रकाश में देखा जाता है और इन संबंधों में वास्तविकता ने जो नया रूप धारण किया, उसके अनुकूल ही अपने विचार को बनाया जाता है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और हर प्रकार के आदर्शवाद में हम सैद्धांतिक अंतर यह पाते हैं कि वह आत्मा-परमात्मा को न मानकर पदार्थ अथवा प्रकृति को मुख्य मानता है - पदार्थ से ही वनस्पति और प्राणियों का विकास हुआ है । मन, पदार्थ के विकास की उच्च स्थिति का ही एक गुण है । चेतन भौतिक का गुणात्मक परिवर्तन बनकर मस्तिष्क में उत्पन्न होता है अर्थात् पदार्थ मस्तिष्क में व्यवस्थित होकर सोचने लगता है । मन एक बार अस्तित्व में आकर उच्च से उच्चतर स्थिति की ओर विकसित होता रहता है और इसी से आध्यात्मिक मूल्य उत्पन्न होते हैं ।

इस सिद्धांतानुसार ज्यों-ज्यों भौतिक परिस्थितियों का विकास हुआ है मनुष्य की आध्यात्मिकता का भी विकास हुआ है । पूंजीवादी सभ्यता और आध्यात्मिकता, सामंती सभ्यता और आध्यात्मिकता से अच्छी थी । और ऐसा विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्था में यह और भी अच्छी होगी, क्योंकि इस व्यवस्था में सभी प्रकार के शोषण का अंत हो जाएगा और व्यक्ति-मानव का स्थान समष्टि-मानव ले लेगा ।

भक्ति आंदोलन के फलस्वरूप हमारे साहित्य और संस्कृति में एक नए युग का उदय हुआ । इससे पहले वाले युग में सामंतशाही को ही ईश्वरीय सत्ता माना जाता था। इस विचारानुसार राजा अथवा सम्राट को ही इस धरती पर ईश्वर का प्रतिरूप माना जाता था तथा उसका आदर-सम्मान उसकी इच्छा और आदेश का पालन करना प्रजा अपना परम कर्त्तव्य समझती थी । धीरे-धीरे लोगों की विचारधारा बदली जिसके फलस्वरूप प्रगतिवाद का उदय हुआ ।

डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां में प्रगतिवाद की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि "प्रगतिवाद छायावाद की भाषा से नहीं पैदा हुआ । वह उसके यौवन का गला घोंटकर ही उठ खड़ा हुआ । कामायनी, तुलसीदास, अनामिका - - - - - उधर युगवाणी के रचनाकाल में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।"[1] सर्वप्रथम ये छायावादी प्रगतिवादी हुए । नगेन्द्र जी ने स्वयं ही कहा है, आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं ।

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 281

36 में ही सुमित्रानंदन पंत ने युगान्त लिखकर उस युग के अंत होने की ही घोषणा कर दी । 'युगवाणी' और ग्राम्या में प्रगतिवादी युग को वाणी दी गई है । 'नया साहित्य' पत्र के प्रकाशन द्वारा भी इसकी अभ्यर्थना की जाने लगी । 'प्रसाद' के साहित्य में सांस्कृतिक राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उत्थान मूलक अभिव्यक्ति तो प्रचुर मात्रा में मिलती है, परंतु प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवाद के प्रति उनका झुकाव कभी नहीं था । 'महादेवी वर्मा' के परवर्ती काव्य पर भी इस आंदोलन का असर हुआ । 'निराला' प्रारंभ से ही प्रगतिशील दृष्टिकोण लेकर काव्य में अवतरित हुए । 'भिक्षुक', 'दीन', 'बादल-राग', 'वनबेला' अनेक ऐसी कविताएं हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से पीड़ित शोषित मानव का पक्ष लेकर क्रांति का आह्वान किया गया है । परंतु आलोचकों की दृष्टि वास्तविक प्रगतिवादी कवि की ओर नहीं गई । उन लोगों ने मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित घटिया काव्यों की प्रशंसा की । इससे लगता है कि प्रगतिवाद पहले सिद्धांत का जामा पहनकर आया । यदि आलोचक अपनी सीमा से बाहर जाकर इसका समर्थन न किये होते तो प्रगतिवाद काव्य अपनी रचनात्मक भूमिका पर खड़ा होकर कुछ टिकाऊ होता । सन् १९४३ में 'अज्ञेय' के संपादकत्व में प्रयोगवादी कविताओं का एक संकलन 'तार-सप्तक' के नाम से प्रकाशित हुआ । इस संग्रह में जिन सात कवियों की रचनाएं संगृहीत हुई हैं, उनमें से मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा स्पष्टतः मार्क्सवादी हैं । 'अज्ञेय' की जो कविताएं इस संग्रह में हैं वे भी प्रगतिवाद से प्रभावित हैं । नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह 'सुमनदं, आदि प्रगतिवादी कवि माने गए ।

आधुनिक विश्व के चिंतकों का एक बहुत बड़ा वर्ग मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित हुआ । मार्क्स हमारे देश के भी आधुनिक साहित्य के प्रेरक रहे हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आधुनिक साहित्य का प्रगतिवादी आंदोलन है । हिन्दी प्रगतिवादी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियां मानव की सर्वोपरिता, जन-शोषण का विरोध, पाशवाद का विरोध, धर्म-विरोध, क्रांति भावना, नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण, समसामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता, साम्यवादी देशों के प्रति श्रद्धा, सरल शैली आदि रेखांकित की जा सकती है ।

लेखकों ने जिस उत्साह से प्रगतिवाद और उसकी प्रवृत्तियों को अपनाया है, उससे प्रगतिवाद भारतीय साहित्य परम्परा की स्वाभाविक आवश्यकता ही प्रतीत होता

है। इस संबंध में डॉ० नामवर सिंह के विचार विचारणीय हैं । "प्रगतिवाद के आरंभ में जो अध्यात्मवाद की प्रवृत्तियां दिखायी पड़ती हैं, उनका रिश्ता मार्क्सवाद से बहुत दूर का है । इससे पता चलता है कि हिंदी के लेखकों ने बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारों की सीमा में ही स्वीकार किया है और उसके अनुरूप उसमें प्रतिक्रियाएं भी हुईं ।"[1]

वर्तमान युग भौतिकवाद और बुद्धिवाद का युग है । विज्ञान के नये-नये अविष्कारों के साथ भौतिकवाद और बुद्धिवाद युग-जीवन के भीतर अपनी जड़ें और भी मजबूत किये जा रहे हैं । मार्क्सवादी विचारधारा अपनी इसी विशेषता के कारण आज विश्व के प्रत्येक भाग में अपना प्रसार कर रही है । स्वयं हमारा देश भी इन प्रभावों से अछूता नहीं है । आध्यात्मिकता ने वर्तमान भारतीय जीवन को अपने भौतिकवादी मान-मूल्यों द्वारा गहराई से प्रभावित किया है । डॉ० शिव कुमार मिश्र ने मार्क्सवाद को प्रगतिवादी काव्य को एक मुख्य अंग मानते हुए लिखा है "मार्क्सवाद प्रगतिवादी काव्य की एक महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति है - यही कारण है कि प्रगतिवादी काव्य में भी हमें भौतिकता एवं बुद्धिवादिता का स्पष्ट आग्रह दिखाई पड़ता है । प्रगतिवादी काव्य जिस मानव समाज को साथ लेकर चला है, उसकी भौतिक सुख-समृद्धि ही उसका प्रधान ध्येय है । भौतिकता के साथ-साथ बुद्धिवादिता भी प्रगतिवादी काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । प्रगतिवाद के आविर्भाव के साथ ही साहित्य के क्षेत्र में जिस नई बौद्धिक चेतना का प्रसार हुआ, उसे प्रगतिवाद की एक महत्वपूर्ण देन कहा जा सकता है ।"[2]

धर्म और ईश्वर के प्रति एक गहरी उदासीनता अथवा क्षोभ का भाव भी प्रगतिवादी काव्य में दिखाई पड़ता है । इसका प्रधान कारण प्रगतिवादी कवियों का भौतिकवादी बुद्धिवादी दृष्टिकोण है और इसकी प्रेरक शक्ति मार्क्सवादी विचारधारा है । मार्क्सवादी विचारकों के मतानुसार धर्म शोषक वर्गों का वह अस्त्र है जिसके सहारे ही वे युग-युग से दलितों और पीड़ितों का शोषण करते आये हैं । जहां तक ईश्वर का प्रश्न है- वे इस संबंध में पूर्णतः संतुष्ट हैं । मनुष्य से अलग वे कोई सत्ता नहीं मानते, किसी भी दैविक शक्ति पर उनकी आस्था नहीं है । प्रगतिवादी कवि उनके विचारों से बहुत कुछ सहमत हैं और इसका प्रमाण उनके काव्य हैं ।

1- डॉ० नामवर सिंह - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 85
2- डॉ० शिव कुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य - पृ० - 181

डॉ० शिव कुमार मिश्र ने प्रगतिवादी कवियों के धर्म विरोधी होने के संबंध में लिखा है कि ''प्रगतिवादी कवि ने जहां भी धर्म का विरोध किया है, उसने धर्म मात्र के स्थान पर उन रूढ़ियों को ही अपने प्रहारों का लक्ष्य बनाया है, जो उसकी दृष्टि में समाज की उन्नति में बाधक हैं ।''[1]

अतः प्रगतिवादी कवियों ने उन रीति-रिवाजों का विरोध किया जो समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति में बाधक थीं ईश्वर के प्रति उन्होंने अपनी जो अनास्था विरक्ति और उपेक्षा दर्शायी है वह सीधी उक्तियों में न करके व्यंग्य रूप में ही की है ।

''वस्तुतः धर्म अथवा ईश्वर के प्रति यह उपेक्षाभाव मात्र प्रगतिवादी काव्य की ही नहीं - छायावादोत्तर समस्त काव्य की विशेषता है । 'बच्चन', 'अंचल', 'दिनकर', 'नवीन', 'भगवती चरण वर्मा' तथा प्रयोगवादी कवियों सभी के काव्य में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है, जिसका कारण भी नये युग की भौतिकवादी बुद्धिवादी चेतना ही है।''[1]

मार्क्सवादियों का धर्म के प्रति विश्वास नहीं है क्योंकि धर्म का ईश्वर समाज-शोषकों द्वारा निर्मित एक अस्त्र है, जिससे भोली-भाली जनता का शोषण होता है। अतः मार्क्सवाद के अनुसार धर्म और ईश्वर भ्रम हैं । मार्क्सवाद ऐसे धर्म की उपेक्षा करता है जो निर्धनों के शोषण का साधन है । प्रगतिवादी कवि ईश्वर की सत्ता को नकारता है । वह कहता है -

''ऊपर बहुत दूर रहता है, शायद आत्मप्रवंचक एक ।
जिसके प्राणों में विस्मृत है, उर में सुख श्री कर अतिरेक ।।''[2] -
'अंचल'

बौद्धिक सहानुभूति ने एक ओर लेखक को यथार्थ की ठोस धरती पर उतारा तो दूसरी ओर उसके सिर को आदर्शवाद के ऊंचे आकाश में उठा दिया । दार्शनिक स्तर पर इसे पंत जी ने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय समझा और माना है ।

1- डॉ० शिवकुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य - पृ० - 182
2- डॉ० जगदीश नारायण त्रिपाठी - हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 139

"लेकिन बौद्धिक सहानुभूति की सीमा का यही अंत होता है, और उसकी कार्य-शक्ति समाप्त होती है । यदि जनता के सम्पर्क से फिर नई कार्य-शक्ति नहीं आयी तो ऐसी दुर्बल दशा में अध्यात्मवाद के पुराने मलेरिया का उभड़ आना स्वाभाविक है।"[1]

मार्क्स की तरह प्रगतिवाद भी किसी अधिभौतिक सत्ता पर विश्वास नहीं करता। वह ऐसी किसी भी अलौकिक शक्ति पर आस्था नहीं रखता जो उसके लिए प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य एवं बौद्धिक परिधि के भीतर नहीं होती । इन्द्रियबोध से हटकर काल्पनिक यथार्थ का वह समर्थक नहीं है । संसार का अज्ञेय शक्ति द्वारा संचालित कुछ शाश्वत नियमों में बांधने का अर्थ, उसके लिए प्रगति का मार्ग अवरूद्ध करना है ।

मार्क्स ने धर्म को समाज के लिए अफीम कहा है । "प्रगतिवाद भी मार्क्स के इस दृष्टिकोण से प्रभावित है । ईश्वर का नाम आते ही उसकी रचनाओं में एक प्रश्नवाचक चिन्ह उभर आता है ।"[2] उसके अनुसार जिस प्रकार शिशु को डरवाने के लिए उसके माता-पिता 'हौआ आया', 'हौआ आया', आदि कहकर आश्चर्यजनक जानवर की ओर इशारा करते हैं, ठीक उसी प्रकार शोषक वर्ग भी अपने स्वार्थ-साधन के लिए धर्म एवं ईश्वर नामक अज्ञात वस्तु की कल्पना कर उसे सजीवता देने का प्रयास करता है ।

"भारतीय समाज में स्वयं धर्म एवं ईश्वर के नाम पर कर्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद ऐसे नियमों को स्वीकृत कराया गया जिससे शोषित वर्ग अपनी परिस्थिति से असंतुष्ट होते हुए भी विद्रोह करने की ओर उन्मुख न हो सके, जो प्रारब्ध उसके साथ ऐसा प्रपंच रचता है कि अनवरत् परिश्रम के पश्चात् भी निर्धनता, लाचारी, दुःख, प्रताड़ना आदि को ही गले लगाने के लिए उसे विवश होना पड़ता है, उसके परिवर्तन के प्रति वह क्रियाशील न हो सके ।"[3]

"प्रगतिवाद स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि अगर कहीं ईश्वर है तो वह निश्चय ही 'ब्रह्माण्ड' का सबसे बड़ा पूंजीपति है ।"[4] अनुशासन पर्व (महाभारत) में भीष्म

1- डॉ० नामवर सिंह - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 91
2- आरसी प्रसाद सिंह - हंस जून 1938
3- रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव - प्रगतिशील आलोचना - पृ० - 129
4- प्रताप नारायण मिश्र - विसर्जन - पृ० - 4

पितामह कहते हैं कि पौरुष धर्म (कर्मवाद) बीज के समान होती है और दैव (पुनर्जन्मवाद) क्षेत्र का कार्य करता है । इन दोनों के सहयोग (समयोगात समृद्धयाते) से फल (शस्यम्) की उपलब्धि होती है । इससे स्पष्ट होता है कि एक ओर दुःख, शोक, पीड़ा के कारणों को पुनर्जन्म के कर्मों का फल बताकर शोषण का विरोध करने से रोक दिया जाता था तो दूसरी तरफ 'पौरुष' के रूप में उसे यह शिक्षा दी जाती थी कि व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ शास्त्र-निर्देशित कर्मों का पालन करना चाहिए । अतः शोषण की प्रक्रिया में अपना साथ देना ही शोषितों का कर्त्तव्य है ।

प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि समाज की विश्रृंखलताओं की ओर अधिक गई है। इन्होंने समाज की वर्तमान दयनीय दशा का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है । किसानों तथा मजदूरों आदि की करुण दशा देखकर इन कवियों को बहुत ही दुःख होता है और बड़ा ही आश्चर्यचकित होता है कि ऐसी खराब स्थिति में ये मजदूर जीवित कैसे रहते हैं ऐसे में वह सोचता है कि शोषक समाज का अंत हो जाना ही ठीक है । इतना ही नहीं वह ईश्वर जिसने क्षुधातुरों की भूख नहीं मिटाई, दलितों की सहायता नहीं की, अत्याचारी शोषकों का दलन नहीं किया वह महाउन्मत्त हड्डियों का शोषक है, नाश हो जाये उसका । यदि वह ईश्वर मंदिर में अधिष्ठित होकर समाज का खून चूसने वाले सेठ जी का हलवा पूरी खाने वाला या बीस आने लड्डू खाकर दीनजनों का शोषण करने वाले साहूकार पर वरदानों की वर्षा करने वाला है तब तो उसके प्रति रोष प्रकाशन जितना ही हो ठीक ही है ।''[1] परलोक के बीच अधिष्ठित ईश्वर की शिवमूर्ति का घृणा से सत्कार करने वाला रोष औचित्य की सीमा को पार कर देता है ।

प्रगतिवादी कविता के कवि केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रामविलास शर्मा शिवमंगल सिंह 'सुमन', गजानन माधव मुक्तिबोध त्रिलोचन, रांगेय राघव, नेमिचंद्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल आदि हैं । निराला, पंत, नरेन्द्र, अंचल, और दिनकर की भी कुछ कविताएं प्रगतिवाद के अंतर्गत आती हैं ।

इनमें ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वाले कवि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह, गजानन माधव मुक्ति-बोध आदि हैं ।

1- विजय शंकर मल्ल - हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद - पृ० - 97-98

नागार्जुन प्रगतिवाद के उन कवियों में हैं जिन्हें अपने देश और देश की जनता से अत्यधिक प्रेम और लगाव है । इस प्रेम की अभिव्यक्ति उन्होंने अपने उन दोनों ही कवि रूपों में की है जो उनकी रचनाओं द्वारा हमारे सम्मुख आते हैं, प्रथम रूप में उनका कवि रूप अपने हृदय की सहज कोमल मार्मिक अनुभूतियों को सरस प्रांजल और प्रौढ़ भाषा में व्यक्त करता हुआ अपनी व्यापक उदार और उदात्त दृष्टि का परिचय देता है और अपने दूसरे रूप में वे व्यंग्य का अस्त्र ग्रहण कर उन सारी रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, भ्रष्टाचार, अनाचार व विषमताओं पर तीव्र और कठोर प्रहार करते तथा उनका मजाक उड़ाते हैं, जो उनके विचार से देश और समाज की प्रगति में बाधक हैं ।

अपने प्रथम रूप में कवि नागार्जुन की विचारधारा अनेक दिशाओं में प्रवाहित हुई है । कभी वे अपने देश व उनके महान् पुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धा और आदर की भावनाएं व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं, तो कभी अपने प्रणय की कोमल उदात्त और स्वस्थ अनुभूतियों को पंक्तिबद्ध करते हैं -

"तुम जगी संसार जाये जाग ।"[1]

कभी अपनी जन्मभूमि मिथिला की याद कर अपने प्रवास के दिनों में तड़प-तड़प उठते हैं - तो कभी प्रकृति की सुषमा के चित्रकार बन कर उपस्थित होते हैं -

"अमल धवलगिरि के शिखरों पर
बादल को गिरते देखा है ।"[2]

कभी देश की आशाओं आकांक्षाओं को पूरा होते न देख अपने माध्यम से जनता के दुःख दर्दों को अभिव्यक्त करके उनके सुख-दुःख में हाथ बंटाते नजर आते हैं, तो कभी उसकी वास्तविक शक्ति से परिचित हो, देश व समाज के भावी निर्माण का विश्वास प्रकट करते हैं तथा उसके सुख स्वप्नों को मूर्त करते दृष्टिगोचर होते हैं ।

समाजवादी यथार्थ के प्रति वे बौद्धिक दृष्टि से ही आकृष्ट नहीं हैं बल्कि उनके चारों तरफ का वातावरण ही इस तरह का है कि वे उसके लिए बाध्य हैं । ईश्वर भी है इसे उन्होंने अस्वीकार किया है । बहुसंख्य लोगों के चेहरे की झुर्रियां इन चन्द

1- नागार्जुन - युगधारा - पृ० - 36
2- नागार्जुन - युगधारा - पृ० - 74

चेहरों की ललाई पर है, जो उनके लिए जिम्मेदार हैं । यह वैषम्य उनकी कविता में तीखेपन के साथ अभिव्यक्त हुआ है -

''कैसे लिखूं शांति की कविता
अमन चैन को कैसे कड़ियों से बांधू ?
मैं दरिद्र हूं पुश्त-पुश्त की यह दरिद्रता
कटहल के छिलके जैसी खुरदुरी जीभ से
मेरा लहुं चाटते आई
मैं न अकेला - - - - - - -
मुझ जैसे तो लाख-लाख हैं, कोटि-कोटि हैं ।''[1]

अपनी इस लाचारी के कारण वे सामाजिक, राजनैतिक विसंगतियों पर व्यंग्य करते हैं, इनकी दृष्टि गांव के शोषित स्वरूप और उसके सौंदर्य पर गई -

''घुन खाए शहतीरों पर की बारह-बारह खड़ी विधाता बांचे
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पांच तमाचे
इसी तरह दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के सांचे ।''[2]

नागुर्जन ने इस बात को अस्वीकार किया है कि ईश्वर भी है, उन्होंने शोषित और दलित वर्गों तथा मजदूरों की दयनीय स्थिति पर अपने दुःख-दर्द की अभिव्यक्ति कर उनके दुःखों को बांटने की कोशिश की है और अपने देश व उसके महान पुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धा और आदर की भावनाएं व्यक्त की हैं और यही उनके लिए ईश्वर-भगवान सब कुछ हैं ।

केदारनाथ अग्रवाल :- केदारनाथ अग्रवाल इस (प्रगतिवाद) धारा के सबसे अधिक सशक्त कवि हैं । क्योंकि वे कविता को वस्तु-सत्ता की आत्मपरक अभिव्यक्ति मानते हैं । नागार्जुन में यह व्यक्तिपरता कम मिलती है । नव्य छायावादी कवियों की भांति प्रगतिवादी कवि भी आलंकारिक स्तर पर छायावादी कवियों से अपने को अलगा रहे थे। केदारनाथ लिखते हैं - - - - -

---

1- बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 283
2- डॉ० बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 283

''कविता यों ही बन जाती है बिना बनाए
क्योंकि हृदय में तड़प रही है याद तुम्हारी ।''[1]

केदारनाथ की प्रारंभिक कविताएं छायावादी प्रभाव से मुक्त नहीं हैं । किंतु क्रमशः छायावादी काव्य-परिपाटी से मुक्त होकर वे निजी शैली बना लेते हैं । युग की गंगा (1947) नींद के बादल (1947) समय-समय पर (1970) उनके काव्य संग्रह हैं । 'युग की गंगा' की भूमिका में कवि ने लिखा है -

''इसमें ईश्वर का मखौल है, इसमें समाज की अर्थनीति के विरूद्ध प्रहार है, इसमें कटु जीवन का व्यंग्य है, साथ-ही-साथ प्रकृति का किसानी चित्रण भी है और देश की जागृत-शक्ति का उबाल है । - - - - - -
जिंदगी की भीड़ की इन कविताओं में जनता के मोर्चे की प्रतिध्वनि है ।''[2]

'नींद के बादल' के पश्चात् ही कवि के विकास क्रम में एक निश्चित और अत्यधिक महत्वपूर्ण मोड़ आता है, तब वह रूमानियत के प्रतीक अपने नींद के बादलों को विदा देकर -

''लेकिन प्यारे नींद के बादल, लाल सबेरा होते-होते ।
चुपके-चुपके चल देते हैं, जैसे कभी नहीं आये थे ।''[3]

'युग की गंगा' (1947) के रूप में प्रगतिवाद के यथार्थवादी जगत् में प्रवेश करता है । 'युग की गंगा' में कवि का यह नया रूप अप्रत्याशित इसी कारण प्रतीत नहीं होता कि जिस समय वह नींद के बादलों की खुमारी में लीन था, वस्तुतः उसी समय उसने कुछ ऐसे दृश्य देख लिए थे, जिन्होंने न केवल उसे जीवन की विषमताओं से ही परिचय कराया थां, वरन् उनके प्रति एक वितृष्णा भी उत्पन्न कर दी थी -

''मैंने देखा है नग्न नृत्य, पापों से बोझिल धर्म कृत्य,
भूखी आत्माओं का विलाप, पागल कुत्तों का सा-प्रलाप ।''[4]

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 284
2- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 284
3- केदारनाथ अग्रवाल - नींद के बादल - पृ० - 31
4- केदारनाथ अग्रवाल - युग की गंगा - पृ० - 20

'युग की गंगा' में जीवन की विषमताओं के प्रति उसकी यह अनुभूति और भी प्रखर होकर सामने आती है और गांवों की जिंदगी हो -

"सड़े घूर की, गोबर की बदबू से दबकर
महक जिंदगी के गुलाब की भर जाती है
रार, क्रोध, तकरार, द्वेष से, दुख से कातर
आज ग्राम की दुर्बल धरती घबराती है ।"[1]

या शहरों की -

"अंध वासना में नर खब पिए, रंडियों के साथ खोया,
नर्क में डूबा
सत्य, ज्ञान, उच्चादर्श, गंदी मल-मूत्र की नालियों में बहते हैं
विश्व का निकृष्ट अंग मूलगंज ।।"[2]

दोनों में ही उसे ऐसे चित्र देखने को मिलते हैं, जो इस विषमता को उसके नेत्रों के सम्मुख साकार कर देते हैं । परंतु शहरों की अपेक्षा गांवों की जिंदगी उसे इस कारण अधिक ग्राह्य प्रतीत होती है कि विषमताओं और विरूपताओं के साथ-साथ वह ग्रामीण जीवन के एक दूसरे पहलू से भी परिचित होता है, जो जीवन संबंधी उसकी आस्था को टूट जाने से बचाये रखते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "नींद के बादल का प्रेमी कवि लोक और आलोक तक पहुंचते-पहुंचते अपने जनवादी स्वरूप को पूरी तरह उभार देता है । ईश्वर, समाज और धर्म की रूढियों-रीतियों पर किये गए उसके व्यंग्य न केवल उसकी पैनी लेखिनी के परिचायक हैं, वरन् नये समाज की रचना के लिए आवश्यक माध्यम भी हैं । केदार जी का यह यथार्थ जो गरीबी और अभावों के फलस्वरूप होने वाले मनुष्य के पतन को उसके सही रूप में उभारता है । इसी कारण आकर्षक है कि वह इस पतन को ही अंतिम सत्य नहीं मान लेता, वरन् इसी के बीच से ऊपर उठते हुए मनुष्य पर विश्वास रखता है । वस्तुतः जन-जीवन के यथार्थ और सजीव चित्र सींचने में केदार की तूलिका अत्यधिक सक्षम है ।"[3]

1- केदारनाथ अग्रवाल - युग की गंगा - पृ० - 50
2- केदारनाथ अग्रवाल - युग की गंगा - पृ० - 34
3- डॉ० शिव कुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य - पृ० - 186

त्रिलोचन शास्त्री :- त्रिलोचन प्रगतिवाद के वे कवि हैं जिन्होंने उसे वास्तविक रूप से ग्राहय और व्यापक बनाने में अतुलनीय योग दिया है । सैद्धांतिकता से बहुत दूर उनके काव्य में जीवन के वे अनुभव ही बोलते हैं, जिन्हें उन्होंने जीवन के संघर्षों में तप-गल कर प्राप्त किया है । धरती और श्रमजीवियों से वास्तविक प्रेम करने वाले कवियों में वे अग्रणी हैं । मार्क्सवाद अथवा प्रगतिवाद की सैद्धांतिक मान्यताएं उनके काव्य में व्यावहारिक बनकर ही उपस्थित हुई हैं, यही कारण है कि उसमें आकर्षण, प्रभाव, स्वच्छता, स्वस्थता, सब कुछ उचित मात्रा में विद्यमान है ।

'त्रिलोचन' स्वस्थ, सरल और निश्छल अनुभूतियों के कवि हैं, यह बात न केवल उनके धरती (1945) काव्य-संग्रह की कविताएं स्पष्ट करती हैं, वरन उनके नये सानेट प्रयोग भी प्रमाणित करते हैं । कुंठा, घुटन, पराजय और पस्ती से शून्य उनकी विचारधारा और भावधारा सदैव एक स्फूर्ति और ताजगी लिए हुए ही दिखाई पड़ती है । चाहे कवि प्रकृति का चित्र खींच रहा हो -

> ''सघन पीली उर्मियों में और
> हरियाली सलोनी, झूमती सरसों ।''[1]

> ''चल रही हवा धीरे-धीरे सीरी-सीरी
> उड़ रहे गगन में झीने-झीने कजरारे चंचल बादल ।''[2]

चाहे अपने प्रणय की अभिव्यक्ति कर रहा हो -

> ''आज तुम्हारी याद मुझे आयी है
> एक मित्र है; अभी-अभी बस व्याह हुआ है
> अपनी परिणीता का फोटो दिखा रहे थे
> दिखा रहे थे, बता रहे थे
> देख गया इतिहास कि जब से एक सूत्र में हम दोनों हैं ।''(3)

1- त्रिलोचन शास्त्री - धरती - पृ० - 76
2- त्रिलोचन शास्त्री - धरती - पृ० - 30
3- त्रिलोचन शस्त्री - धरती - पृ० - 41

चाहे अपने ग्राम के छोटे व्यक्तियों के बीच बैठकर उनसे दुःख की गाथा सुन रहा हो, उन्हें धीरज बँधा रहा हो - और चाहे अपने सोनेटों में अपने स्वयं के जीवन के अभावों को, अपने कड़वे-मीठे अनुभवों को पिरो रहा हो -

(क) ''हँस कर, गाकर और खेलकर पथ जीवन का
अब तक मैने पार किया है ।

(ख) आभारी हूँ मैं पथ के सब आघातों का
मिट्टी जिनसे ब्रज हुई उन उत्पातों को ।'' प्रतीक नवम्बर - 51

''उसके विचार - दर्शन, अनुभूतियों एवं अभिव्यक्ति का स्वच्छ, सरल एवं प्रेरक रूप ही दृष्टिगोचर होता है । प्रत्येक अवस्था में उसकी तूलिका बड़े सरल और साफ रेखा चित्रों का सृजन करती है । उसका गहन आत्म-विश्वास, सामाजिक लक्ष्य की ओर बढ़ने की उसकी अप्रतिम ईमानदारी, उसकी सामाजिक यथार्थवादिता, उसकी कविताओं से उभर-उभर उठती है । त्रिलोचन की यही सफलता उन्हें प्रगतिवाद के श्रेठतम कवियों की श्रेणी में बिठा देती है ।''[1]

''बाधाएँ आती हैं, आएंगी
हारने के रूकने के, कभी नहीं किंतु चरण ।''[2]

'त्रिलोचन' ने सतर्कतापूर्वक अपने को प्रगतिवादी नारों से बचाया है । फिर भी कुछ कविताओं में इनका समावेश हो ही गया है, जैसे - सोच - समझकर चलना होगा, तुम बढों विजय के पथ पर, चीन महान चीन, इन दिनों मनुष्य को कोई महत्व नहीं है आदि। 'त्रिलोचन' का प्रगतिवाद त्रासदीय जीवन - बोध में है । यह बोध उसे सैद्धांतिक स्तर पर नहीं मिला है बल्कि जीवन के लघु - लघु प्रसंगों से प्राप्त हुआ है ।

मैं जब कभी अकेला बिल्कुल हो जाता हूँ, गोविंद आज तुम नहीं हो, जीवन का निश्चय क्या, जीवन का एक लघु प्रसंग आदि ऐसी कविताएँ हैं, जिसमें उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को नकारा है । मैं जब कभी अकेला बिल्कुल हो जाता हूँ, कि कुछ पंक्तियाँ -

---

1- डॉ० शिवकुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य - पृ० - 190 -191
2- त्रिलोचन शास्त्री - धरती - पृ० - 33

'दृश्य बदलता है
कि देखता हूँ फ़िर
मैं बीमार खाट पर लेटा हूं मनमारे
सिरहाने बैठी हो तुम माथे पर अपना हाथ पसारे
पूछ रही हो
(दृग में चिंता वाणी में विश्वास अटल है)
अब कैसी तबियत है ?''[1]

स्फूर्तिदायक प्रथम परिचय का एक चित्र त्रिलोचन के कुंठाहीन हृदय में दिखाई पड़ता है-

''यों ही कुछ मुस्कराकर तुमने
परिचय की वह गांठ लगा दी
था पथ पर मैं भूला-भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी ।
कभी-कभी यों हो जाता है
गीत कहीं कोई गाता है
गूंज किसी उर में उठती है,
तुमने वही धार उमगा दी ।
जड़ता है जीवन की पीड़ा
निस्तरंग पाषाणी क्रीड़ा
तुमने अनजाने वह पीड़ा
छवि के शर से दूर भगा दी ।''[2]

त्रिलोचन का अनुभव है कि '
''मुझे जगत् जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा ।''[3]

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास - पृ० - 286
2- नामवर सिंह - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 106-107
3- नामवर सिंह - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 107

कवि त्रिलोचन प्रगतिवाद के उन कवियों में माने जा सकते हैं, जो यह सूचित करते हैं कि 'प्रगतिवाद' मरा नहीं है, नये और अधिक व्यापक जनवादी स्वरूप में आज भी हिन्दी कविता की स्वस्थ परम्परा को गतिशील किये है । "अपने काव्य में उन्होंने इस उदाहरण को भी प्रस्तुत किया है कि प्रगतिवाद किस रूप में जन-मन की आशाओं -आकांक्षाओं को चित्रित कर, उन्हें नयी दिशा की ओर उन्मुख कर, एक नये समाज और नये भविष्य की रचना के लिए प्रेरित कर उनके साथ-साथ सभी को प्रभावित कर सकता है तथा साहित्य की एक स्थायी निधि बन सकता है ।"[1]

शमशेर बहादुर सिंह :- अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण इतिहास के सम्मुख अनेक प्रश्न खड़ा कर देते हैं, 'शमशेर' को कहां 'सिचुएट' किया जाए ? क्या उन्हें दूसरे सप्तक का कवि मानकर 'नई कविता' का कवि मान लिया जाए ? लेकिन प्रयोगवादी कवियों ने जिस तरह अपने को छायावादी चेतना से अलगाने तथा प्रगतिवाद की प्रचारवादी भाषणशैली से हटाने की चेष्टा की उससे शमशेर मुक्त हैं । नई कविता के कवियों में वे लगभग अकेले प्रचार से पृथक, आत्मस्थ और मौन हैं । वे न 'अज्ञेय' की तरह कला के प्रति अत्यधिक सचेत हैं और न मुक्तिबोध की तरह प्रतिबद्ध । "वे रोमैंटिक होकर भी रोमैंटिक नहीं हैं, प्रगतिवादी होकर भी प्रगतिवादी नहीं हैं, प्रयोगवादी होकर भी प्रयोगवादी नहीं हैं । 'शमशेर' पर कोई लेबुल नहीं लगाया जा सकता । यदि कोई लेबुल लगाया जा सकता है तो - कवि का लेबुल सही अर्थ में वे कवियों के कवि हैं ।"[2]

कदाचित 'शमशेर' पहले नये कवि हैं, यदि अनुभूति की प्रामाणिकता नई कविता की अनिवार्य शर्त है । यों उन्हें 'निराला' और 'मुक्तिबोध' की परम्परा से जोड़ा जा सकता है - वह भी आत्मसंघर्ष के आधार पर ।

"शमशेर ने अपने को पाने का उल्लेख बार-बार किया है । छायावादी काव्य में आत्मविस्तार है यानी अपने तें जो नहीं है उसे भी समाविष्ट कर लेने की प्रवृत्ति । प्रयोगवादी काव्य में जो कुछ अपने में व्याप्त है, उसी को खोजने की स्पृहा है और शमशेर में अपने को पाने का प्रयास है । अपने को पाने को कवि ने स्पष्ट नहीं किया है।"[3]

1- डॉ० शिवकुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य - पृ० - 192

2- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 318-319

3- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 319

अपनी अभिव्यक्ति में अपने को पा लेने के पश्चात वे रचनाओं के प्रकाशन में भी दिलचस्पी नहीं लेते । 'पा लेना' प्रकाशन की पूर्ति करता है । फलस्वरूप उनकी कविताओं के कुल दो ही संग्रह प्रकाशित हो सके हैं - कुछ कविताएं तथा कुछ और कविताएं ।

'शमशेर' अन्तदृष्टि संपन्न कल्पना के कवि हैं, वे खूबसूरत लयात्मक सृष्टि करते हैं । किन्तु उनकी रचना बहुत कुछ गड्ड-मड्ड, अमूर्त और अस्पष्ट होकर रह जाती है । उदाहरण के लिए 'चिन्तप्रसाद की बहार' शीर्षक कविता सुनकर 'उद्धृत' की जा सकती है । उनकी एक अति यथार्थवादी रचना का उदाहरण निम्न है -

''सींग और नाखून
लोहे के बख्तर कंधों पर ।
सीने में सूराख हट्टी का ।
आंखों में घा - काई की नमी ।
एक मुर्दा हाथ
पांव पर टिका
उलटी कलम थामे ।
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर ।''[1]

इसमें शब्द स्वयं वस्तु है - सींग, नाखून आदि, आदिम हिंस्र प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं । लोहे के बख्तर प्रतिरक्षा को प्रतीकित करते हैं । युद्ध का अंजामः सीने में सूराख हड्डी का । उलटी कलम थामें, लेखकीय विडम्बना है । प्रत्येक प्रतीक अपना अलग अस्तित्व रखते हैं । यह एक अति यथार्थवादी चित्र का नमूना है । सारी चीजें एक साथ एकत्र हैं - यह कविता से अधिक चित्र अधिक है : संभवतः युद्ध-चित्र का बिखराव । यह अवचेतन मन की सृष्टि है । अवचेतन मन. सृष्टि का एक अन्य उदाहरण निम्न है -

''नींबू का नमकीन सा शरबत, शाम
(गहरा नमकीन)
प्राचीन ईसाई चीजों-सी कुछ

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 321

राजपूताने की-सी बहुत कुछ
गहरी सोन-चंपई
सोन गोरिया शाम ।
- - - - - शान्त ।
तुम्हारी साड़ी की-सी शाम
बहुत परिचित ।
मेरे दिल के अजीब फैलाव की
लातीनी पीतल-काले के घंटों की-सी
क्लासिक शाम
बहुत दूर तक बजती हुई शाम ।''[1]

शाम यह बिम्ब बिल्कुल निजी हैं, किंतु पिछले चित्र की तरह दुरूह नहीं इसके माध्यम से कवि अपने अन्तर्लोक की यात्रा करता है और पाता है ।

''कल्पना लोक में ढ़ाई अरब धड़कनों का अनहद नाद सुनकर स्वभावतः कवि को ब्रह्म याद आ जाता है । शान्ति बच्चों और दोस्तों के लिए चाहिए, ''और उस अमर परम शक्ति के लिए जो पिता का रूप है ।''[2] जो लोग यथार्थ पर किसी न किसी रूप में - कल्पना का आवरण डालते हैं वे स्वभावतः कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी, रहस्यवाद की शरण में आते हैं और इस नव्य रहस्यवाद का कोई क्रांतिकारी दार्शनिक या सामाजिक पक्ष नहीं होता । नये और पुराने रहस्यवाद में यही अन्तर है ।

''ज्ञानातीत संज्ञा से भी आगे
और वही है जो कुछ है,
है - है से आगे और पार
जो कि है का है का है का है - - - - -
''है'' ।[3]

शमशेर को यद्यपि अधिक नई पीढ़ी कवियों के साथ 'दूसरा-सप्तक' में स्थान दिया गया है, परन्तु वस्तुतः वे ''तारसप्तक' के रामविलास शर्मा और 'अज्ञेय' जैसे

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 321
2- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 85
3- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 86

कवियों की भांति पर्याप्त लम्बे अर्से से अपने कवि-कर्म का निर्वाह करते आ रहे हैं । ''सप्तकों के उन कवियों में जो एक साथ ही व्यष्टि और समष्टि तथा वैयक्तिकता और सामाजिकता के प्रति अनुरक्ति रखते हैं, कदाचित वही एक हैं, जिनमें इन दोनों भावनाओं का न तो कोई विशेष द्वन्द्व हो सका है और न कोई खास कशमकश ही । यदि कतिपय कविताओं में शमशेर एक आदर्श प्रगतिशील कवि के रूप में दर्शन देते हैं तो शेष में उनका शुद्ध रूपवादी-प्रयोगवादी (बिम्बवादी कवियों सा) स्वरूप अपनी पूरी समग्रता में उभरा है । शमशेर के कवि का अध्ययन उसके इन अलग-अलग रूपों को लेकर ही किया जा सकता है ।'' दलितों-पीड़ितों के प्रति सहानुभूति ।

''ये शाम है कि आसमान है खेत है पके हुए अनाज का
लपक उठीं लहू भरी दरातियां, कि आग है
धुवां-धुवां सुलग रहा, ग्वालियर के मजूर का हृदय ।''[1]

जन-जन की मुक्ति और एकता के प्रति अडिग विश्वास -

''दैन्य दानव । क्रूर स्थित । कंगाल बुद्धि । मजूर घर भर ।
एक जनता का अमर वर। एकता का स्वर । अन्यथा स्वातंत्रय इति ।''[2]

मानव व्यक्तित्व पर आस्था, मानवता के नवयुग के प्रति वास्तुविक आकांक्षा -

''नया इक संघर्ष, नयी दुनिया का, नये मूल्यों का, नये मानव का,
एशिया का नया मानव उठ रहा है, एक नया युग.ला रहा है ।''[3]

राष्ट्र के प्रति कवि का वास्तविक प्रेम सभी कुछ उनमें बड़े ही सधे और सुधरे रूप में व्यक्त हुआ है -

''भारत की आरती देश-देश की स्वतंत्रतादेवी
आज अमित प्रेम से उतारती ।''[4]

'शमशेर' के रहस्यवाद का लगाव यदि दादू, रज्जब, कबीर से होता तो वे किसी दूसरी जगह पहुंचते । किंतु इलियट, एजरा पाउण्ड की सीढ़ियां उतरते हुए वे सीधे गिन्सबर्ग के पास पहुंचते हैं -

---

1- हंस - जून - पृ० - 1946
2- दूसरा सप्तक - पृ० - 92
3- नया साहित्य - नवम्बर - 1950
4- दूसरा सप्तक - पृ० - 109

दशाश्वमेघ घाट पर जहां भारतीय और अमरीकी-संस्कृतियों का मिलन होता है -

''दूर एलन गिन्सबर्ग सैनफ्रान्सिस्को से, इधर
दशाश्वमेघ संगम की - - - - चिलम संध्याओं में सुलग
गांजा सा लाल उठता है, लपक-कुछ नये युग के नशे सा ।''1

''चिलम में भी क्या अद्‌भुत शक्ति है ! हजारों हिप्पी हर साल आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने के लिए भारत भूमि की ओर खिंचे चले आते हैं । जो काम पीस कौंसिलें नहीं कर पाती, वह गांजे की चिलम कर दिखाती है । उपासक ठीक ही कहते हैं, जिसने न पी गांजे की कली उस लड़के से लड़की भली । फिर शंकर भगवान की नगरी और पावन गंगा तट, दुगुना महात्म्य । दिमाग में नये युग का नशा छा जाए तो क्या आश्चर्य ! मुक्तिबोध इस मंजिल तक नहीं पहुंचे ।''[2]

गजानन माधव - मुक्तिबोध :- मुक्तिबोध 'तारसप्तक' के वे कवि हैं, जिनके काव्य में व्यक्तिवाद का स्वर अपनी संपूर्ण विशिष्टता को लिए हुए पूरी शक्ति के साथ सुनाई पड़ता है । मध्यवर्ग के इस कवि के मानस में एक ऐसे गहरे द्वन्द्व की सत्ता है, जो उसे किसी भूमि विशेष पर टिकने नहीं देती, धीर असंतोष और व्यापक अशान्ति से व्यथित तथा पीड़ित वह इधर-उधर भटका करता है । यद्यपि इस प्रकार का द्वन्द्व 'तारसप्तक' के कतिपय अन्य कवियों में भी है, परंतु मुक्तिबोध में उसकी तीव्रता कहीं अधिक है । उनका व्यक्तिवाद भी समकालीन प्रयोगवादी कवियों से भिन्न प्रकार का है । वह उन्हें अपने व्यक्ति को ही सवांशतः सत्य मानने को विवश नहीं करता, वरन् 'व्यक्ति' की संकीर्ण सीमाओं से बाहर भी झाकने को उन्मुख करता है और उसकी यही विशिष्टता भी उपर्युक्त द्वन्द्व अथवा कशमश को जन्म देती है, जिससे कवि छूट नहीं पाता उसकी सौंदर्यानुभूति घुट-घुट कर रह जाती है, उसे किसी वस्तु में सार नहीं प्रतीत होता, उसे सारी मान्यताएं नकारात्मक लगने लगती हैं ।

''कर सको घृणा क्या इतना रखते हो अखण्ड तुम प्रेम,
जितनी अखण्ड हो सके घृणा, उतना प्रचण्ड रखते क्या जीवन का व्रतन्नेम।[3]

1- कल्पना - जुलाई - पृ० - 1963
2- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 86
3- अज्ञेय - तारसप्तक - पृ० - 57

और इस प्रकार अपने द्वन्द्व और अपनी कशमश के इस उलझन भरे रूप द्वारा वह अपने सारे काव्य को गूढ़, अस्पष्ट और दुरूह बना लेता है ।

निराशा, घुटन, रुदन, हाहाकार आदि उसके व्यक्तित्व में बद्धमूल होकर रह जाते हैं । नाश ही उसका आराध्य बन जाता है -

''मेरे सिर पर एक पैर रख, नाप तीन जग तू असीम बन ।''[1]

यदा-कदा अपनी सूक्ष्म बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के फलस्वरूप कवि अपना आत्मविश्लेषण भी करता है, अपने द्वन्द्व को निकट से देखता है और अनुभव करता है कि उससे उसका मुक्ति पाना अनिवार्य है, फलतः अपने 'महान' से वह दृढ़ता और शक्ति की याचना भी करता है -

''हे महान ! तब विस्मृत उर से
दृढ़ परिरम्भण की क्षमता दो,
तव स्नेहोष्ण हृदय का स्पन्दन
सुन पाने की आकुलता दो ।''[2]

और उसके प्रति आकुलता भी प्रकट करता है, अपनी स्थिति के प्रति पश्चाताप करता है-

''आत्मवंचना पीड़ित मेरा, तिमिर मगन उर बिम्बित मुख पर ।
सिहर उठा मैं अश्रुमिलन मुख, अपने अन्तर के दर्शन कर ।।''[3]

मृत्यु की अनिवार्यता के सम्मुख भी जीवन को वाणी देने के लिए प्रयत्नशील रहता है । संस्कार के ऊपर विवेक को प्रतिष्ठित करने की जी-तोड़ कोशिश करता हे, पूंजीवादी समाज की कटु आलोचना करता है -

''इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि,
इतना ज्ञान संस्कृति और अंतः शुद्धि
x x x x

1- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' - तारसप्तक - नाश देवता - पृ० - 62
2- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' - तारसप्तक - हे महान - पृ० - 74
3- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' - तारसप्तक - अन्तर्दर्शन - पृ० - 67

तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ,
तेरा ध्वंस, केवल एक तेरा अर्थ ।''[1]

अपनी क्रियमाण जीवन शक्ति के सहारे एकदम टूट जाने से बचा भी रहता है । वस्तुतः मुक्तिबोध का महत्व उनकी अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म बौद्धिक आत्मानुभूति में निहित है ।

''कलाकार पहले बाह्य जीवन-जगत् का अभ्यन्तरीकरण करता है और फिर उसका बाह्यीकरण । बाह्य के आन्तरीकरण और आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का व्यापार अनवरत चलता रहता है । कलाकार के अभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया में उसका अपना जिया और भोगा जाने वाला जीवन तो समाहित रहता ही है, दूसरों द्वारा जिया जाने और भोगा जाने वाला जीवन भी समीकृत होता है । इसी को वह पुनः रचता है ।''[2]

मुक्तिबोध रचयिता के लिए बाह्य के अभ्यन्तरीकरण को जरूरी समझते हैं । बाह्य जीवन-जगत् के परिदृश्य में ही आन्तरिक तनावों का महत्व है ।

''बाह्यीकरण का अर्थ है युगीन विसंगतियों का गहरा दबाव लोगों ने इसका ताल-मेल मार्क्सवाद से बैठाया है । आभ्यन्तरीकरण की संगति अस्तित्ववाद से बैठ जाती है लेकिन उनमें रहस्य का कुहासा भी है । इसलिए मुक्तिबोध को किसी वाद विशेष में बांधना उचित नहीं है । किंतु सब मिलाकर वह मार्क्सवाद के प्रति ही प्रतिबद्ध है । मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्ध होने का अर्थ अस्तित्ववाद और आधुनिकता से अप्रतिबद्ध होना नहीं है । सार्त्र ने जिस ढंग से दोनों को मिश्रित करने का प्रयास किया है उसकी झलक मुक्तिबोध में देखी जा सकती है ।''[3]

नामवर सिंह के अनुसार मुक्तिबोध पूर्ण ज्ञान की खोज नहीं करते उन्हें विकासमान ज्ञान चाहिए, ''ज्ञानी पूर्वज को जो पत्थर मिला वह उतना ही ऐतिहासिक है जितना सागर । कभी उस पत्थर का रूप धार्मिक था, लेकिन आज भी उसका धार्मिक होना आवश्यक नहीं है । रूप बदलते रहते हैं, मूल ज्ञान-तत्व अपनी जगह अटल,

---

1- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' - तारसप्तक - पूंजीवादी समाज के प्रति - पृ० - 61
2- बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 322
3- बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 323

अपरिवर्तित बना रहता है । आत्मा अविनश्वर है, केवल शरीर बदलता रहता है । पत्थर का रूप धार्मिक था, आन्तरिक तत्व नहीं । पहले यह रूप धार्मिक था, अब धर्म का रूप उतारकर वह अधिक उद्भासित हो उठा है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह ऐतिहासिकता रहस्यवाद नहीं, बल्कि रहस्यवाद का दुश्मन है । जो कुछ इतिहास में घटित होता है, वह सब ऐतिहासिक है । बड़े से बड़ा रहस्यवादी भी पैदा होता है, और मरता है, इसलिए वह इतिहास के बाहर नहीं है । इस हिसाब से वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है, वह भी ऐतिहासिक है । मुक्तिबोध ने जिस तरह के ज्ञान को पाने की लालसा 'एक स्वप्न कथा' में व्यक्त की है, वह उक्त पद्धति से ऐतिहासिक कहा जा सकता है, किंतु उसका ऐतिहासिक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है ।''[1] मुक्तिबोध कहते हैं -

''सम्भव है, वह पत्थर
मेरा ही नहीं वरन्
पूरे ब्रह्माण्ड की केन्द्र-क्रियाओं का तेजस्वी अंश हो ।
सम्भव है,
सभी कुछ दिखता हो उसमें से,
दूर-दूर देशों में क्या हुआ,
क्यों हुआ, किस तरह, कहां हुआ ।।
इतने में कोई आ कानों में कहता है -
ऐसा यह ज्ञानमणि
मरने से मिलता है ।।''[2]

मुक्तिबोध की रचनाओं को तीन बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है । ये तीन बिंदु हैं - अंधेरा, टेरर और प्रकाश मुक्तिबोध की यात्रा का प्रस्थान बिंदु है - अंधेरा । उसके आस-पास अंधेरा है, वह स्वयं अंधेरे में है । अंधेरे की अरक्षात्मक भयावह स्थितियां, उसे 'टेरर' के बोध के बिना प्रकाश को नहीं खोजा जा सकता ।

''अंधेरे में'' कविता के संबंध में शमशेर ने लिखा है -

''यह कविता देश की आधुनिक जन इतिहास का स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का एक दहकता दस्तावेज है । इसमें अजब और अद्भुत रूप से व्यक्ति और जन का

1- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 219
2- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 219

एकीकरण है ।"[1] यह कविता जैन दर्शन के 'स्यातवाद' का अच्छा खासा उदाहरण बन गई ।

मुक्तिबोध जिस छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्यधारा से सटे हुए थे, उसमें कुछ ऐसे कवि भी थे जो व्यक्ति सत्य के नाम पर अपने अहं को स्थापित करना चाहते थे । इसके विरूद्ध व्यक्तित्व का अन्तरण उनका लक्ष्य था । अहं के विसर्जन का दावा करने वाले कवियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा है '

"सत्य के बहाने
स्वयं को चाहते हैं प्रस्थापित करना
अहं को तथ्य के बहाने ।"[2]

अपने लिए उन्होंने लिखा है -

"कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में,
उमग कर,
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वान्तरिक होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूं सच ।"[3]

व्यक्तित्वान्तरण हवा में नहीं होता - समूह से सम्बद्ध होकर ही हो सकता है । नए सिरे से जीने के लिए नए सिरे से समझना आवश्यक है किंतु यह व्यक्तित्वान्तरण द्वारा ही संभव है ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रगतिवादी कविता उन समस्त वृत्तियों का विरोध करती है, जो शोषण की प्रक्रिया में सहायक होती हैं । शोषण का स्वरूप चाहे जो हो, वह उसका समर्थन नहीं कर सकती । अगर धर्म, ईश्वर एवं परम्परागत मान्यताएं भी इस शोषण-वृत्ति के प्रसार में सहायता पहुंचाती है, एक ऐसे मोहक आवरण का निर्माण करती है, जिससे शोषण के विरोध में स्वर नहीं उठाया जा सके, तो प्रगतिवादी कविता उसकी भी समुचित विवेचना कर शोषण-पद्धति को समूल नष्ट करने के लिए सन्नद्ध हो जाती है ।

1- बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 323
2- बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 326
3- बच्चनसिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 326

प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में प्रयोगवाद का उदय

प्रगतिवादी भूमि पर ही प्रयोगवाद के अंकुर फूट आये थे । प्रगतिवाद दोनों ने ही यथार्थ को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और छायावाद की 'सूक्ष्मता' के विरूद्ध जोरदार मोर्चा तैयार किया । प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं हैं और शिल्प संबंधी साम्यता की स्वीकृति को प्रगतिवादी कवि ही देते हैं - ''एक पुरानी परम्परा थी जिसमें उच्च वर्गों की सौंदर्य-साधना थी, दूसरी ओर बौद्धिकता नये काव्य की मांग कर रही थी और काव्य इस व्यामोह में दो खण्डों में बंट गया । पुरानी परम्परा हिन्दी में आज 'प्रयोगवाद' है और नयी परम्परा को प्रगतिवाद कहा जाता है । इन दोनों में ही यद्यपि दूर-दूर का भेद होना चाहिए परंतु अभिव्यक्ति और शैली में दोनों एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं, क्योंकि दोनों ही छायावाद की शैली को लेकर चले हैं ।''[1]

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद कुछ समय तक एक साथ एक में घुलमिल कर चलते रहे । लेकिन प्रगतिवाद ज्यों-ज्यों कुत्सित समाजवादियों के सिद्धांतों में जकड़ता गया त्यों-त्यों प्रयोगवाद उससे अलग होता गया । 'तारसप्तक' में ही जैसा प्रगतिवाद के प्रसंग में कहा गया है - ''कम-से-कम पांच कवि ऐसे हैं जो मार्क्सवादी होने का दावा करते हैं । बाद में दोनों के अलग-अलग शिविर हो गए और एक के लिए दूसरे का शिविर निषिद्ध हो गया । समय-समय पर एक शिविर के लोग दूसरे शिविर पर हमला करते रहे । प्रगतिवाद काव्य - आन्दोलन थोड़े ही समय में समाप्त हो गया । किंतु प्रयोगवादी काव्य 'नई कविता' का रूप लेकर अब भी क्रियाशील है ।''[2]

प्रयोगवादी कविता का समारंभ अज्ञेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'तारसप्तक' के प्रकाशन काल (1943) से माना जाता है । परंतु प्रगतिवादी काव्यधारा की भांति प्रयोगवादी काव्य का स्रोत भी छायावाद ही है । निराला के समस्त काव्य को प्रयोग का अलबम कहा जा सकता है । प्रगतिवादी - प्रयोगवादी दोनों निराला की अगुआई स्वीकार करते हैं । अपने एक निबंध 'तारसप्तक प्रसंग' में नेमिचंद्र जैन ने लिखा है - ''जिस बदलती हुई काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति तारसप्तक के कवियों में मिलती है ।

1- रागेय राघव - आधुनिक कविता में विषय और शैली - पृ० - 32

2- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 299

वह उस दौर के अन्य बहुत से तरुण कवियों में थी, जिनमें निराला के अतिरिक्त शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, राजेश्वर गुरू, केदारनाथ अग्रवाल और नरेंद्र शर्मा तक का उल्लेख किया जा सकता है ।''[1]

'प्रयोगवादी' शब्द का प्रयोग सबसे पहले नंददुलारे बाजपेयी ने अपने एक निबंध 'प्रयोगवादी-रचनाएं' में किया । इस निबंध में मुख्यतः 'तार-सप्तक' की समीक्षा की गई है । उन्होंने लिखा है - ''पिछले कुछ समय से ही हिन्दी काव्य-क्षेत्र में कुछ रचनाएं हो रही हैं, जिन्हें किसी सुलभ शब्द के अभाव में 'प्रयोगवादी' रचना कहा जा सकता है ।''[2] 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जी ने बाजपेयी जी का उत्तर देते हुए 'तार-सप्तक' की रचनाओं को प्रयोगवादी कहना स्वीकार नहीं किया है । पर तार सप्तकीय कवियों के वक्तव्यों में प्रयोग शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है । ऐसी स्थिति में इस शब्द का चलन हो जाना स्वाभाविक था । प्रयोगवाद शब्द हमारे लिए अपरिचित था, परंतु प्रयोग भावना प्राचीन थी । यह प्रयोग-भावना प्रयोगवादी आंदोलन के पूर्व ही जोर पकड़ चुकी थी । छायावादी कवि निराला ही सर्वथा नये छंदों में, नये दृष्टिकोण लेकर नये प्रतीकों एवं नयी वस्तु की सृष्टि करने लगे थे । 'कुकुरमुत्त' तथा 'नये पत्ते' काव्य-संग्रहों में मुहरबंद वस्तु घिसे-पिटे शिल्प एवं रूढ़ परम्परा के प्रति एक प्रबल विद्रोह व्यक्त हुआ । अतः कुछ लोग तो निराला को ही प्रयोगवादी काव्य का प्रवर्तक मानते हैं ।

1940 ई० के आस-पास राष्ट्रीय जीवन में संघर्ष, दमन, गतिरोध, महंगाई, भ्रष्टाचार आदि विभिषिकाओं ने मध्यम वर्गीय विक्षुब्ध बुद्धिजीवी समुदाय को तीव्र असंतोष वृत्ति तथा पराजय-भावना से भर दिया । अधिकांश बुद्धिजीवियों को अपनी स्थिति अधर में लटकते 'त्रिशंकु' के समान जान पड़ी । त्रिशंकु- ''जो 'अभिजात्य वर्ग' से घृणा करता था और निम्नवर्ग से झूठी प्रतिष्ठा के मोह के कारण तादात्म्य स्थापित कर सका, मध्यवर्ग द्वारा भी वह उपेक्षित हुआ । ऐसे ही समय 'अज्ञेय' ने सन् 1943 ई० में तार सप्तक का प्रकाशन करके इन कुंठित व्यक्तित्वों का नेतृत्व संभाला और बहु प्रयोगवादी काव्य-धारा के मार्ग के अवरोध को दूर करने में प्रवृत्त हो गए ।[3]

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 298-99

2- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० - 299

3- शैल सिन्हा - प्रयोगवाद और अज्ञेय - पृ० - 38

छायावाद के अतिरिक्त प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद की कतिपय मान्यताओं के दृढ़ विरोध में उद्‌भुत हुई । ''सबसे प्रथम, विरोध व्यक्ति की महत्ता के प्रश्न को लेकर उठा । व्यक्ति की 'स्वाधीनता' के समर्थक प्रयोगवादी कवि को प्रगतिवादियों की व्यक्ति के स्थान पर समाज को अपनी कला का केंद्र बनाने की घोषणा कतई नहीं रूचि, उसने अपने सिद्धांतों और अपनी कला के भावी स्वस्थ विकास का हनन देखा, फलतः उसने व्यक्ति की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए प्रगतिवादियों की इस मान्यता की कड़ी आलोचना की । दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न वस्तु व रूप को लेकर उठा । प्रगतिवादी काव्य ने रूप पक्ष की ओर से उदासीनता दिखाकर अपने को अधिकांशतः वस्तु तत्व पर ही केंद्रित रखा जबकि प्रयोगवादी कवि ने वस्तु तत्व की अपेक्षा शैली और शिल्प के नवीन प्रयोगों पर ही सारी शक्ति केंद्रित कर देने का समर्थन व आग्रह किया । उसने तर्क दिया कि सूक्ष्म कल्पना नये रूपकों तथा प्रतीकों का प्रयोग काव्य के मूल स्वरूप को विकृत करने के स्थान पर इसमें चमत्कार तथा सौंदर्य की सृष्टि करता है । वस्तुतः प्रश्न विषय वस्तु का उतना नहीं था, जितना उनके रूप का । प्रगतिवादी कवियों की इस संबंध में अपनी अलग आस्था थी और प्रयोगवादी कवि भी अपनी निजी धारणा के कायल थे - प्रगतिवादियों के अनुसार जो मात्र प्रतिक्रियावादी धारणा थी । दोनों ही अपने-अपने सिद्धांतों का त्याग करने को प्रस्तुत न थे, फलतः दोनों ओर से आक्रमण-प्रत्याक्रमण प्रारंभ हुए और आगे भी चलते रहे । प्रगतिवादी व प्रयोगवादी कवियों में अन्य अनेक प्रश्नों को लेकर भी मतभेद उठे परंतु उपर्युक्त दो प्रश्न ही महत्वपूर्ण बन कर सामने आये ।[1]

सामाजिक यथार्थ और लोक-जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति प्रगतिवादी काव्य की विशिष्ट उपलब्धि हैं, किंतु प्रगतिवाद के पुरस्कर्ताओं ने आंदोलन के जोश में ऐसे काव्य का निर्माण प्रारंभ कर दिया जो मार्मिकता से हीन और कलात्मकता से शून्य प्रचारवादी सिद्ध हुआ । ऐसी अकाव्यात्मक अभिव्यक्तियों के विरोध में प्रयोगवादी काव्य का जन्म हुआ । सन 1943 में 'तारसप्तक' अभिधान से अभिहित किया । 'तारसप्तक' के सम्पादकीय वक्तव्य और संकलित कवियों के वक्तव्यों ने इस नए काव्य को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया ।

1- डॉ० शिव कुमार मिश्र - नया हिन्दी काव्य - पृ० - 209

इस प्रकार प्रयोगवाद का इतिहास 'तारसप्तक' (सन 1943) से प्रारंभ होता है। इसमें सम्मिलित कवि हैं - गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारत-भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' । 'दूसरा सप्तक' 1951 में प्रकाशित हुआ । इसके कवि हैं - भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती । 'तीसरा सप्तक' सन 1959 में प्रकाशित हुआ । इसमें संकलित कवि हैं - प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, विजयदेव नारायण साही और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना । तीनों सप्तकों में प्रत्येक कवि की कविताओं के आरंभ में सम्बद्ध कवि का जीवन वृत्त तथा उसका वक्तव्य दिया गया है और प्रत्येक सप्तक के प्रारंभ में सम्पादक 'अज्ञेय' की भूमिका है ।

"जिस प्रकार प्रगतिवादी कविता पर मार्क्स का प्रभाव है, उसी प्रकार प्रयोगवादी कविता फ्रायड के विचारों से प्रभावित है । एक में समष्टिगत चेतना है तो दूसरे में व्यष्टिगत चेतना का आधिक्य है ।"[1]

1- जगदीश नारायण त्रिपाठी - हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 144

सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' :-

'अज्ञेय' की काव्य-यात्रा चौथे दशक में ही प्रारंभ होती है । उनके प्रथम संकलन 'चिंता' में काव्यानुभूति की नयी ध्वनियां सुनाई देने लगती हैं । 'इत्यलम्' तक आते-आते उनकी एक पहचान बनने लगती है । संवेदना और संरचना का एक नया अंदाज 'इत्यलम्' की कुछ कविताओं में साफ दिखलायी पड़ता है ।

उदाहरण स्वरूप उनकी कविता 'जन्म-दिवस' को लिया जा सकता है, जहां वे एक ओर पिता कहलाने वाले का तो उपहास करते हैं, किंतु दूसरी ओर विराट् प्रकृति से अपने संबंध की बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं और प्रकृति के अनेक तत्वों के आभार को बहुत गहराई से स्वीकार करते हैं -

''मैं मरूंगा सुखी
क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था - - - -
(पिता कहलाते हो तो
जीवन के तत्व पांच
चाहे जैसे पुंज-बद्ध हुए हों,
श्रेय तो तुम्हीं को होगा - - - - -)
उससे मैं निर्विकल्प खेला हूं - - - -
खुले हाथों उसे मैंने वारा है - - - -
धज्जियां उड़ायी हैं ।
x x x
किंतु नहीं धो रहा मैं पाटियां आभार की
उनके समक्ष,
दिया जिन्होंने बहुत कुछ, किंतु जो
अपने को दाता नहीं मानते - - - -
नहीं जानते :
अमुखर नारियां
धूल भरे शिशु,
खग
ओस-नमे फूल,
गंध

मिट्टी पर पहले असाढ़ के अयाने वारि - बिंदु की,
कोटरों से झांकती गिलहरी,
स्तब्ध, लय-बद्ध भौंरा
टंका - सा अधर में
चांदनी से बसा हुआ कुहरा
पीली धूप शारदीया प्रात की,
बाजरे के खेतों को फलांगती
डार हिरनों की बरंसात में - - - -
नत हूं मैं
सबके समक्ष बार-बार में विनीत स्वर
ऋण - स्वीकारी हूं - - - -
विनत हूं ।
मैं मरूंगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियां उड़ाई हैं ।"[1]

इस कविता का महत्व इस बात में है कि यह 'अज्ञेय' के उस प्रारंभिक दौर की कविता है, जब वे अपने को नास्तिक अथवा अनीश्वरवादी मानते थे । इस कविता में पिता के रूप में ईश्वर की ही अवदान या उसके अस्तित्व से इन्कार किया गया है, किंतु उस दौर में भी 'अज्ञेय' ने खुले मन से विराट् प्रकृति और उसकी छोटी-छोटी जीवन्त इकाइयों से अपने व्यक्तित्व के निर्माण में कितने बड़े ऋण को स्वीकारा है । एक विराट सत्ता से उसकी अभिव्यक्त इकाइयों से इतने जीवन्त संबंध को और उन्हीं के आधार पर अपने निर्मिति को स्वीकार करने वाली ये पंक्तियां संकेत करती हैं कि 'अज्ञेय' आगे चलकर अपने आप को एक विराट समवाय में विसर्जित करने का प्रयास करेंगे । 'इत्यलम्' के बाद 'अज्ञेय' निरंतर काव्य - रचना में लगे रहे और उनके संकलन एक-एक कर आते रहे - 'हरी घास पर क्षण भर' बावरा अहेरी, 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', आदि संकलनों में उनकी कविता क्रमशः अपने निजत्व के घेरे से बाहर की समष्टि की ओर उन्मुख होते चले गए ।

'आंगन के पार द्वार' संकलन की कविताओं में एक नए क्षितिज को पहचानने का स्पष्ट अहसास होता है, जो अनेक बिम्बों और अनुभव वृत्तयों में अभिव्यक्त होता

1- अज्ञेय - इत्यलम् - पृ० - 224 - 225 - 226

दिखता है । कवि को लगने लगता है कि वह जब-जब प्रकृति को उसके विराट रूप में देखता है, उसके भीतर एक दाता जाग उठता है । इन पंक्तियों में उस उद्दात्त अनुभूति को देखा जा सकता है ।

''मतियाया
सागर लहराया ।
तरंग की पंखयुक्त वीणा पर
पवन ने भर उमंग से गाया ।
फेन - झालरदार - मखमली चादर पर मचलती,
किरण - अप्सरायें भारहीन पैरों से थिरकी - - - -
जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती ।
दूर धुंधला किनारा
झूम - झूम आया, डगमगाया किया ।
मेरे भीतर जागा
दाताः
बोलाः ल
लो, यह सागर मैंने तुम्हें दिया ।''[1]

इस पूरी कविता में बार-बार प्रकृति के उद्दात्त एवं विस्तीर्ण रूप को देखकर कवि के भीतर एक गहरी उद्दात्ता अथवा दाता-भाव जाग उठता है, जो प्रकृति की संपूर्ण उद्दात्तता को स्वयं को ही दान करता है और इस प्रकार अपने सीमित अस्तित्व को अनन्त विस्तार में विसर्जित कर देता है । कविता की अंतिम पंक्तियां बड़ी ही अर्थगर्भा हैं -

''फिंर भीतर
दाता खिल आया ।
हंसा, हंसाकर तुम्हें बुलाया ।
लो यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हंसी,
यह आहूत, स्पर्शपूत भाव,
यह मैं, यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार, यह प्लवन,
यह प्यार, यह अडूब उमड़ना -

1- अज्ञेय - 'आंगन के पार द्वार' - भीतर जागा दाता - पृ० - 15

सब तुम्हें दिया ।
सब
तुम्हें
दिया ।।''[1]

इस कविता में जो प्रकृति की विराटता, उसका उल्लास, उसकी हंसी उसका सौंदर्य एवं उसकी सम्पूर्ण उद्दात्तता से जिस गहरे तादात्म्य की स्वीकृति कवि की वाणी मे अभिव्यक्त हुई है, उसी की परिणति आगे और एक गहरे तलाश में होती है और कवि को लगता है कि जिस आंगन में वह अब - तक विचरण कर रहा था, उसके पार एक द्वार है और द्वार के पार फिर एक आंगन है, जिसमें उसे प्रवेश लेना है, उसके प्रकाश से अपनी आत्मा को भास्वर करना है । उस आंगन तक पहुंचने की प्रक्रिया में कवि जिस मुक्ति का अहसास करता है, उसको उसने इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है -

''कभी रात मुझे घेरती है,
कभी मैं दिन को टेरता हूं,
कभी प्रभा मुझे हेरती है,
कभी मैं प्रकाशकिरण बिखेरता हूं ।
कैसे पहचानूं कब प्राण-स्वर मुखर है,
कब मन बोलता है ?''[2]

और इस बेचैन तलाश के बाद कवि उस सत्य का साक्षात करता है जहां उसे लगत है-

''सांस का पुतला हूं मैं :
जरा से बंधा हुआ हूं और
मरण को दे दिया गया हूं :
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं ।''[3]

1- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - भीतर जागा दाता - पृ० - 16 - 17
2- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - सांस का पुतला - पृ० - 36
3- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - सांस का पुतला - पृ० - 36

इस मुक्ति के अनुभव से आगे बढ़ने पर कवि उस 'महाशून्य के शिविर' तक पहुंचता है, जो अपनी असीमता में ऊपर छाया हुआ है, और उसके नीचे महामौन की सरिता दिक्विहीन बहती है और उस शिविर में पहुंचने पर कवि उस विराट सत्य का साक्षात्कार करता है, जिसकी झलक हमें इन पंक्तियों में मिलती है -

"रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में ओझल,
अपौरूषेय मिलता है ।"[1]

रूपों में एक अरूप के खिलने को, गोचर में एक अप्रमेय अगोचर का अनुभव तथा पुरुषों के हर वैभव में एक अपौरूषेय सत्ता की अनुभूति निश्चय ही कवि के अनुभव के उस नए आयाम की प्रतीति करती है, जहां वह पार्थिव जगत् के सामान्य अनुभवों का अतिक्रमण कर चुका है, इसीलिए वह निपट साहस के साथ यह कह पाता है -

"जितना रूपाकार - सारमय मैं दीख रहा हूं,
रेत हूं ।"[2]

यह स्वयं को विसर्जित कर देने का भाव, यह एक विराट अनुभव में अपने निजत्व को लय कर देने का भाव कवि में धीरे-धीरे दृढ़तर ही होता जाता है, जो एक धवल शिला पर आलोक में नहाया हुआ, उजला, अक्लान्त अशांत, अपनी स्थिर, धीर मंद, स्मृति से काल के सारे लेख को मिटाता चलता है । कवि उस ईश्वरयोगी से प्रार्थना करता है -

"योगी ।
वह स्मृति मेरे भीतर लिख दे :
मिट जाये सभी जो मिटता है ।
वह अलग होगी ।"[3]

कवि की रचना यात्रा का यह दौर लगातार उस अतीन्द्रीय अनुभव को पहचानने का दौर है, जबकि उसे लगने लगता है -

---

1- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - चक्रांत शिला 'एक' - पृ० - 39
2- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - चक्रांत शिला 'आठ' - पृ० - 47
3- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - चक्रांत शिला 'उन्नीस' - पृ० - 60

"मुझे और कुछ लिखने-सुनने,
पढ़ने - लिखने को नहीं रहा :
अपने भीतर
गहरे में मैंने पहचान लिया
है यही ठीक । सागर ही गाता रहे,
धरा हो मौन,
यही सम्यक् स्थिति है ।"[1]

इस सम्यक् स्थिती का विशद् अख्यान 'अज्ञेय' ने अपनी लम्बी कविता 'असाध्य - वीणा' में किया है, जहां कवि ने बड़े विस्तार से इस सत्य को भास्वर किया है कि कलाकार जब अपने को पूर्ण रूप से विसर्जित कर देता है, तभी कला अपनी समग्र अभिव्यक्ति के साथ उसके व्यक्तित्व में चरितार्थ होती है । 'असाध्य-वीणा' तब तक असाध्य रही जब-तक कलाकार अपने अह्म का कुछ भी अंश अपने में बचाए हुए उसे साधने का प्रयास करता रहे । वह भी उस साधक के हाथों, जो यह कह पाता है -

"श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था -
सुना आपने जो, वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी -
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है "2

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि अपनी कविता यात्रा के उस पड़ाव पर पहुंच चुका है, जहां व्यक्ति में कोई कर्ता-भाव नहीं रहता, वह अपने को निमित्त-मात्र मानता है, माध्यम

1- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - चक्रांत शिला 'पच्चीस' - पृ० - 69
2- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार - असाध्य वीणा - पृ० - 87

भर मानता है । कोई विराट-सत्य उस माध्यम से अपने को करता हो, तो उसमें उसका क्या ?

इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'आंगन के पार द्वार' के बाद की 'अज्ञेय' की सारी कविताओं का स्वर उस अतीन्द्रीय अनुभूति को ही अभिव्यक्त करने का है । वे उस आंगन से इस आंगन में भी बार-बार लौटते हैं, किंतु उस आंगन में पहुंचकर जिस अरूप का स्वर, उसकी आभा बराबर बनी रहती है, इसलिए वे कहते हैं -

"दिया सो दिया
उसका गर्व क्या
उसे याद भी फिर किया नहीं ।
पर अब क्या करूं ?
कि पास और कुछ बचा नहीं
सिवा इस दर्द के जो मुझसे बड़ा है - - - -
इतना बड़ा है, इतना बड़ा है कि मुझसे पचा नहीं
बल्कि मुझसे ऊंचा नहीं - - - -
इसे कहां धरूं
जिसे देने वाला भी मैं कौन हूं ?
क्यों वह तो एक सच है ।
जिसे मैं तो क्या रचता - - - -
जो मुझी में अभी पूरा रचा नहीं ।"[1]

इस कविता में जहां एक ओर हम देखते हैं कि कवि इस दुनिया की बातें कह रहा है, जो हमारी परिचित है, तो दूसरी ओर हम यह भी अनुभव करते हैं कि उसकी मानसिक स्थिति में एक विचित्र अधूरेपन का बोध समाया हुआ है । वह कहीं से भी अपने को स्रष्टा या रचयिता नहीं मान पाता है । अनुभूति के इस धरातल तक पहुंचने के लिए 'अज्ञेय' को एक गहरी अंतः साधना की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, जैसे 'ईसा मसीह' ने सारी दुनिया की यातना और कष्ट झेलकर दुनिया को मुक्त करने का प्रयास किया था। कुछ उसी मानसिकता के साथ 'अज्ञेय' कहते हैं -

---

1- अज्ञेय - कितनी नांव में कितनी बार, जो रचा नहीं - पृ० - 83

''व्यथा सब की
निविड़तम एकांत
मेरा ।
कलुष सबका
स्वेच्छया आहूत;
सद्यःधौत, अंतःपूत
बलि मेरी
ध्वान्त, इस अनसुलझ संसृति के
सकल दौर्बल्य का,
शक्ति तेरे तीक्ष्णतम्, अनर्मम, अमोघ
प्रकाश - सायक की !''[1]

'अज्ञेय' को उस तीक्ष्णतम्, निर्मम, अमोघ, प्रकाश-सायक से बिंध कर अपनी सम्पूर्ण दुर्बलता से मुक्त होने की शक्ति का अहसास होने लगा था । इसीलिए वह एक व्यापक समवाय को अपने निपट ऐकांतिक व्यक्तित्व में रूपायित होते अनुभव करते हैं और वे यह कहने में समर्थ हो पाते हैं -

''वही एकांत सच्चा है
जिसे सब छू सकें ।''[2]

'अज्ञेय' की आध्यात्मिकता की पहचान करने में उनकी जिन अनुभूतियों से हम उनकी कविताओं में साक्षात्कार करते हैं, उनकी बनावट उस प्रकार की नहीं है, जैसा कि भक्त कवियों के निपट और चरम समर्पण में देखने को मिलता है । असल में 'अज्ञेय' अपने भीतर के स्वत्व को पहचानने, प्रतिष्ठित करने और फिर उसे विसर्जित करने की समग्र यात्रा का अहसास कराते हैं, इसीलिए उनकी आध्यात्मिक अनुभूति की पहचान आधुनिक व्यक्ति के लिए एक आत्मीय अनुभव बन सकती है । उसमें एक सहज स्वाभाविक आत्म-विसर्जन की प्रक्रिया को देखा और समझा जा सकता है, जब वे कहते हैं -

---

1- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार -चक्रांत शिला 'तेइस' - पृ० - 66
2- अज्ञेय - आंगन के पार द्वार -चक्रांत शिला 'चौबीस' - पृ० - 67

''दिया सो दिया
उसका गर्व क्या, उसे याद भी फिर किया नहीं ।
पर अब क्या करूँ
कि पास और कुछ बचा नहीं
सिवा इस दर्द के
जो मुझसे बड़ा है - - - - - - इतना बड़ा है
कि पचा नहीं ।''[1]

इस आत्म-गर्व से मुक्ति और स्रष्टा - भाव का तिरोभाव 'अज्ञेय' को उस बिंदु तक पहुंचाता है, जहां उनका सम्पूर्ण अस्तित्व एक विराट दर्द की अनुभूति से भर उठता है, जैसा ऊपर संकेत किया गया है । उस उदात्त धरातल से 'अज्ञेय' बार-बार अपने निजत्व की ओर मुड़-मुड़ कर देखते भी हैं किंतु फिर बार-बार उसे अतिक्रमित करते हैं और अपनी नयी पहचानी हुई उदात्त भूमि पर ही विचरण करते हैं जैसे कि इन पंक्तियों में -

''यह एक और घर
पीछे छूट गया,
एक और भ्रम
जो जब-तक था मीठा था
टूट गया ।
कोई अपना नहीं कि
केवल सब अपने हैं ।''[2]

यदि वह सहज भूमि है, जिस पर 'अज्ञेय' का मन अब विचरण करता है । अब कोई खास अपने लिए नहीं है, बल्कि समग्र समवाय उनका अपना हो चुका है । जब तुलसीदास कहते हैं -

''सियाराम मय सब जग जानी
करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी ।

1- अज्ञेय - कितनी नांव में कितनी बार - जो रचा नहीं - पृ० - 83

2- अज्ञेय - कितनी नांव में कितनी बार - विदा के चौराहे पर`` अनुचिंतन - पृ० - 74

तो जो सर्वात्म भाव ध्वनित होता है, वह अज्ञेय की इन पंक्तियों में ध्वनित भाव से भिन्न नहीं ।

अपनी रचना यात्रा में 'अज्ञेय' किस तरह पुरानी जमीन को छोड़ते हैं और नयी दिशाओं का संधान करते हैं, उसका बड़ा ही सशक्त चित्रण उनकी 'सम्पराय' शीर्षक कविता में हुआ है -

''और कहां तक थी अनुक्रम
कितना और कुहासा
कितनी देहरियों पर कितनी ठोकर ?
कितना हठ
कितने-कितने मन, कितना उछाह ।
है राह !
कुहासे तक ही नहीं,
पार देहरी के है ।
तीर्थाटन को निकला हूं
कांधे बांधे हूं लकड़ियां चिता की :
गाता जाता हूं
हैं । पथ है ।''[1]

अपने कंधे पर अपनी चिता की लकड़ियों को बांधे हुए तीर्थाटन को निकला हुआ यह यात्री, इस अमोध विश्वास के साथ चलता ही चला जा रहा है कि पथ है, पथ है, और आगे पथ है और इस प्रकार पुराने क्षितिजों को छोड़ता हुआ, नये क्षितिजों को पार करता हुआ आगे बढ़ता जाता है । उसे बार-बार लगता है कि आगे कोई नया संसार है, जिसे साक्षात्कृत करना उसका परम कर्त्तव्य है । उस नए संसार की पहचान 'अज्ञेय' को उनकी अंतःप्रज्ञा के द्वारा बहुत साफ तौर पर करायी जाती है, वे कहते हैं-

''कुछ है
जिसमें मैं तिरता हूं ।
जबकि आस-पास
न जाने क्या-क्या झिरता है ।''[2]

1- अज्ञेय - कितनी नांव में कितनी बार - 'सम्पराय' - पृ० - 92

2- अज्ञेय - कितनी नांव में कितनी बार - जिसमें मैं तिरता हूं - पृ० - 87

इस प्रकार उनके सामने पुरानी यादों के खण्डहर डूबते जाते हैं और उस क्षण का साक्षात्कार करना चाहते हैं । जो देशकाल मुक्त हो जाते हैं -

> ''होते हैं क्षण : जो देशकाल मुक्त हो जाते हैं ।
> X X X
> उनका होना, जीना, भोगा जाना
> है स्वर-सिद्ध, सब स्वतः पूर्त
> हम इसीलिए तो गाते हैं ।''[1]

उन क्षणों तक पहुंचने की बेचैनी और साधना कवि को बराबर आगे बढ़ाती है और उस अमोध क्षण तक पहुंचना चाहती है, जहां पहुंचकर कवि उस गीत को गाएगा, जो कभी नहीं मरेगा ।

'अज्ञेय' के चिंतन में इस लोक-सत्य के परे की सच्चाइयों को कुरेदने और आत्मसात करने की प्रवृत्ति अनेकमुखी होती जाती है । उसके आयाम इतने भिन्न हैं कि एक आयाम से दूसरे आयाम में संचरण करना अपने आप में एक स्फूर्तिप्रद अनुभव है, कहीं यह अतीन्द्रीयता की अनुभूति बनकर आता है, कहीं समर्पण के चरम भाव के रूप में रूपायित होता है और कहीं ऐसे क्षणों की अनुभूति बनकर आता है, जहां क्षणिकता ही शाश्वतता में बदल जाती है । ऐसी ही एक कविता में वे कहते हैं -

> ''जाना और जीना
> जीना और जाना :
> न यह गहरी बात है,
> कि इनमें होड़ है
> न यही कि इनमें तोड़ है,
> गहरी बात यह कि दोनों के बीच
> एक क्षण है कहीं,
> एक मोड़ है,
> जिसपर एक स्वयंसिद्ध जोड़ है,

1- अज्ञेय - क्योंकि मैं उसे जानता हूं - 'होते हैं क्षण' - पृ० - 9

और वहीं,
उस पर ही
गाना है,
यह गीत
जो मरेगा नहीं ।।''[1]

जाना और जीना के बीच जीवन और मृत्यु के उस सेतु की तलाश जहां सृजन का क्षण अमर हो जाता है, 'अज्ञेय' की आध्यात्मिकता का एक ऐसा सृजनात्मक आयाम है, जो बार-बार उनकी कविताओं में जहां-तहां झांकता रहता है । क्षण का अनुभव एक बूंद नहीं रह जाता, बल्कि सागर की अपार जलराशि का एक शाश्वत अंश बन जाता है । इसी स्वर में वे एक दूसरी कविता भी लिखते हैं, जहां वे कहते हैं -

''मैं मरा नहीं हूं,
मैं नहीं मरूंगा,
इतना मैं जानता हूं
पर इस
अकेला कर देने वाले विश्वास को लेकर,
मैं क्या करूंगा
यह मैं नहीं जानता ।''[2]

किंतु जहां यह विश्वास अकेला कर देने वाला है, वहीं एक अमरत्व का अहसास देने वाला भी ।

'अज्ञेय' की कविता की केंद्रीय संवेदना उनकी रागानुभूति से निर्मित होती है, किंतु यह रागानुभूति भी अपनी वैयक्तिकता की परिधियों को अतिक्रमित कर के एक विराट - चेतना में बदलती जाती है, इस तरह की स्थितियों का दर्शन हमें उनकी अनेक कविताओं में मिलता है -

---

1- अज्ञेय - क्योंकि मैं उसे जानता हूं - मोड़ पर का गीत - पृ० - 2
2- अज्ञेय - क्योंकि मैं उसे जानता हूं - जाना - अनजाना - पृ० - 8

''क्या दिया था तुम्हारी
एक चितवन ने
उस एक रात
जो फिर
इतनी रातों ने मुझे
सही - सही
समझाया नहीं - - - -
x x x
''दुहरा दो, दुहरा दो, तुम्हीं बता दो
उस चितवन ने क्या कहा था ?
जिसमें तुम ही तुम थे,
संसार भी डूब गया था
और मैं भी नहीं रहा था ।''1

इसी प्रकार जीवन के एक अमर क्षण का चित्रण उनकी कविता 'एक दिन' में हुआ है, जहां कवि अत्यन्त सृजनात्मक अहसास में डूबा हुआ कहता है -

''ठीक है,
कभी तो, कहीं तो चला जाऊंगा ।
पर अभी कहीं जाना नहीं चाहता ।
अभी नभ के समुद्र में
शरद के मेघों की मछलियां किलोलती हैं ।
मधु-मालती के झूमरों में,
कलियां पलकें अध-खोलती हैं
अभी मेंहदी की गंध-लहरें
पथरीले मन-कगारों की दरारें टटोलती हैं
अभी एकाएक, मैं तुम्हें छूना, पाना
तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाना नहीं चाहता,
पर अभी तुम्हारी स्निग्ध छांह से
अपने को हटाना नहीं चाहता
x x x

1- अज्ञेय - क्योंकि मैं उसे जानता हूं - 'चितवन' - पृ० - 54

शब्द झूमते हैं, जो गहराइयां टोहते हैं,
पर छन्दों में बंधते नहीं,
बिम्ब उभरते हैं, जो मुझे ही मोहते हैं,
मुझसे सधते नहीं,
एक दिन - - - - होगा ? - - - - तुम्हारे लिए लिख दूंगा,
प्यार का अनुठा-गीत
पर अभी मैं मौन में निहाल - - - -
गाना, गुन गुनाना नहीं चाहता ।''[1]

सृजनात्मकता के तन्मय क्षण का यह प्रतिबिम्ब रचना की प्रक्रिया का अतिक्रमण करता है । 'अज्ञेय' इस प्रकार बार-बार क्षण-क्षण की शाश्वत् अनुभूति से गुजरते हैं और पाठक को भी उसमें से गुजरने की स्थिति प्रदान करते हैं ।

'अज्ञेय' के आध्यात्मिक अनुभूति का एक आयाम यह है कि वे व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व को समाप्त करते हुए उस धरातल पर अपनी सर्जना को पहुंचाते हैं, जहां उनके लिए व्यष्टि सत्य और समष्टि का सत्य पूरी तौर पर एकात्म हो जाते हैं । दोनों एक ताल, एक लय और एकाकार हो जाते हैं, एक कविता में वे लिखते हैं कि -

''तुमसे मैं कहता हूं
तुम्हारी ही बात
जैसा कि तुम सुनकर ही जानोगे :
सुनते ही बार-बार, पहल-दर-पहल, कटाव-दर-कटाव
तुम्हारे ही लाख-लाख प्रतिबिम्बों में कही जाती,
लाख-लाख स्वर-धाराओं में, अविराम बही जाती,
तुम्हारी ही बात पहचानोगे ।
या फिर पाओगे
केवल वह तुम्हारी से भी आगे
सब की बात है, ऐसी सबकी
कि किसी की नहीं है,
कहीं की नहीं है, कभी भी नहीं है

1- अज्ञेय - क्योंकि मैं उसे जानता हूं - 'एक दिन' - पृ० - 75

पर अपनी और अपने आप में स्वायत्त, स्वतः प्रमाण होने के नाते
ठीक यहीं की है और ठीक अब की है ।
कविता तो
ऐसी ही बात होती है ।''[1]

यहां कवि की स्थिति ठीक महाकवि 'गोस्वामी तुलसीदास' की स्थिति से मिलती-है, जहां वे एक ओर तो कहते हैं -

''स्वान्तः सुखाय तुलसी, रघुनाथ गाथा ।''

किंतु दूसरी ओर उन्होंने कहा है -

''कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सबकर हित होई ।

उनके स्व का आनंद और सुख सम्पूर्ण समष्टि के आनंद और सुख से एकलय हो जाता है । ठीक इसी प्रकार 'अज्ञेय' भी अनुभूति के उसी धरातल पर पहुंचते हैं, जहां उनकी स्वानुभूति सम्पूर्ण समवाय के अनुभव-सत्य से एकात्म हो जाती है । 'अज्ञेय' की यह स्थिति उनकी बहुत सी कविताओं से पुष्ट और प्रमाणित की जा सकती है । वे उसी प्रकार अद्वैत के अनुभव से अपनेको सम्पृक्ति कर लेते हैं, जिस प्रकार भक्त कवियों ने किया था, एक कविता में उन्होंने कहा भी है कि - उनकी कविता में अद्वैत का सत्य प्रपात की तरह झरता रहता है ।

'अज्ञेय' की अनुभूति का अतीन्द्रीय धरातल उनकी प्रकृति से जुड़ी कविताओं में भी बहुत स्पष्ट रूप से भास्वर हुआ है । नदियां, पहाड़, समुद्र, वन उनकी कविताओं में इस प्रकार बार-बार गूंजते हैं कि लगता है, प्रकृति के इन विराट रूपों में कवि की चेतना उन्मुक्त विचरण कर रही है और उनकी विराटता के प्रति नितान्त सहज रूप में अपने को अर्पित करती है । उनकी कई कविताएं प्रकृति के विराट साक्षात्कार से परिपूर्ण हैं । 'भेंड़ाघाट की स्मृति' में लिखी हुई, उनकी कविता, बेतवा नदी के लहरीले स्वर को अद्‌भुत सौंदर्य के साथ प्रस्तुत करती है । नन्दा देवी के शिखरों पर चलते हुए पर्वतीय सौंदर्य के लिए अलौकिक दृश्य का बार-बार अंकन हुआ है, उसे पढ़कर पाठक

1- अज्ञेय - सागर मुद्रा - 'कविता की बात' - पृ० - 92 - 93

अभिभूत हो उठता है । नन्दा देवी के क्रम में उनकी अनेक कविताएं रची गयी हैं । सबमें एक विराट सत्ता का वैविध्यपूर्ण साक्षात्कार होता है । इसी प्रकार 'सागर-मुद्रा' शीर्षक से सागर के अनुभवों से अभिसिंचित उनकी अनेक कविताएं हैं । इन सभी में समुद्र के विभिन्न अनुभवों को रूपायित किया गया । कवि लिखता है -

"देखो न, सागर बड़ा है, चौड़ा है
जहां तक दीठ जाती है फैला है
मुझे घेरता है, धरता है, सहता है, धारता है, भरता है,
लहरों से सहलाता है, दुलराता है, झुमाता-झुलाता है,
और फिर भी निर्बन्ध - मुक्त रखता है, मुक्त करता है -
मुक्त - मुक्त, मुक्त करता है ।"[1]

एक दूसरी कविता में कवि सागर से साक्षात्कार करते हुए अपने अन्तस् की अनुभूतियों का ऐसा निर्ब्याज चित्रण करता है कि लगता है सागर कवि के अन्तर्मन को खोलने का एक बहुत बड़ा कारक तत्व है । वह कहता है -

"जो भी पाया, दिया :
देखा, दिया :
आशाएं, प्यार, अहंकार, बिनतियां, बड़बोलियां,
ईर्ष्याएँ, दर्द भूलें, अकुलाहटें,
सभी तो दिए :
जो भोगा, दिया; जो नहीं भोगा, वह भी दिया;
जो संजोया, दिया,
जो खोया, दिया ।
इतना ही तो बाकी था कि कह सकें :
जो बताया वह भी दिया ?
कि अपने को देख सकें,
अपने से अलग होकर
अपनी इयत्ता माप सकें ।
और सह सकें ।"[2]

1- अज्ञेय - सागर मुद्रा - 'सागर मुद्रा' - दो - पृ० - 66
2- अज्ञेय - सागर मुद्रा - 'सागर मुद्रा - 6' - पृ० - 73 -74

सागर ही कवि को वह सामर्थ्य देता है कि वह अपने से अलग होकर सत्य की गहराइयों को नाप सकें और साथ ही सागर ही कवि को वह सामर्थ्य देता है कि वह अपना सब कुछ समवाय को समर्पित कर सके, सागर से कवि प्रार्थना करता है -

"यों मत छोड़ दो मुझे सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो, सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो !
मेरे दीठ को और मेरे हिये को,
मेरी वासना को और मेरे मन को,
मेरे कर्म को और मेरे मर्म को,
मेरे चाहे को और मेरे जिये को,
मुझको और मुझको और मुझको
कहीं मुझसे जोड़ दो !"[1]

इन पंक्तियों में कवि का यह भाव का निर्मल रूप झलकता है कि सागर कि विराटता के सामने उसकी क्षुद्रता स्वयं ही विसर्जित हो जाएगी । समुद्र की विराटता जहां एक ओर उसे आह्लादित करती है, गुंजरित करती है और निनादित करती है, वहीं उसमें एक समर्पण और आत्म-विसर्जन का भाव भी भरती है । वह कहता है -

"रोको मत, तुम्हीं बयार बन पाल भरो,
तुम्हीं पहुंचे फड़फड़ाओ,
लटों में छन अंग - अंग सिहरो ;
और तुम्हीं धार पर संतार दो, चलो,
मुझे सारा सागर
सहने दो ।"[2]

शिखारोहण का अनुभव 'अज्ञेय' में और भी विचित्र है, जहां शिखर पर चढ़ना मृत्यु का साक्षात्कार करना है । फिर भी कवि की चेतना उस शिखर चुनौती की तरह उन्हें आह्वान कर रहा है, उसे लगता है, शिखर तक पहुंचना अपने आम-में एक सिद्धि है -

---

1- अज्ञेय - सागर मुद्रा - 'सागर मुद्रा 8 (आठ)' - पृ० - 77
2- अज्ञेय - सागर मुद्रा - 'धार पर संतार दो' - पृ० - 21

''क्यों शिखर कीओर
दुर्निवार
जाना ही प्रमाण है
कि शिखर बस एक आयाम है,
किसका आयाम,
x x x
शिखर से आगे क्या है ?
त्वाद्रिड. भूयाम नचिकेता पृष्टा,
शिखर से आगे क्या है ?
क्या ? क्या है, है
साकाष्ठा, सा परागति ।''[1]

1- अज्ञेय - सागर मुद्रा

नरेश मेहता :- सन् 1950 के बाद हिन्दी काव्य के विकास को जिस नाम से पहचाना जाता है, उसे 'नयी कविता' कहा जाता है । 'नयी कविता' किसी एक विशिष्ट प्रवृत्ति का प्रतिबिम्बन नहीं है । इस काव्य-धारा में अनेक उपधाराएं हैं, यद्यपि इसकी केंद्रीय संवेदना और मनुष्योन्मुखता कही जा सकती है । कविता मूलतः मानव केंद्रित है और मनुष्य के व्यक्तित्व को बाधित करने वाले किसी भी नियंत्रण अथवा आरोपण को अस्वीकृत करती है । इस युग में एक बहुत बड़ी बहस न केवल भारतीय परिवेश में बल्कि विश्वव्यापी धरातल पर यह रही है कि व्यक्ति और समाज का अंतः संबंध कैसा हो ? सोच की एक दिशा यह रही कि समाज बड़ा सत्य है, उसके सामने व्यक्ति की सत्ता गौण है और जहां कहीं किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसका आग्रह अथवा उसकी महत्वाकांक्षा, समाज के सर्वांगीण विकास में बाधा उत्पन्न करते हों, वहां व्यक्ति की उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है । दूसरी ओर ऐसे व्यक्तियों की भी काफी बड़ी संख्या रही, जो यह मानते रहे कि समाज के सामान्य व्यक्ति, अपने परिमाण में और संख्या में चाहे जितने महत्वपूर्ण हों, किंतु समाज की ऊंचाई, उसका उत्कर्ष और उसकी गुणवत्ता हमेशा ऐसे असाधारण और विशेष प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा ही नापी जा सकती है, जिनका अपने क्षेत्र विशेष में योगदान हो । उदाहरण के लिए - भारतीय संदर्भ में बात करें तो हम कह सकते हैं कि आधुनिक भारत की श्रेष्ठता और शक्ति की पहचान तभी हो सकती है, जब हम दयानंद सरस्वती, विवेकानंद, राममोहन राय, बाल गंगाधर तिलक, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, विनोबा भावे, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, सुभाष चन्द्र बोस, राम मनोहर लोहिया आदि को ध्यान में रखें । यदि इन मुट्ठी भर व्यक्तियों को भारतीय समाज के मानचित्र से हटा दिया जाए तो सारी जनसंख्या के बावजूद देश का व्यक्तित्व अत्यंत सामान्य कोटि का बचेगा ।

सोच की इन दो अतिवादी दिशाओं को इन्कार करती हुई, एक नयी दिशा प्रस्फुटित हुई, जो यह मानती है कि व्यक्ति और समाज का संबंध परस्पर विरोध का नहीं है । बल्कि श्रेष्ठ और समुन्नत व्यक्तियों से ही श्रेष्ठ और समुन्नत समाज बनता है । साथ ही एक स्वतंत्र और चिंतनशील समाज में सहज ही स्वस्थ व्यक्तियों का विकास होता है, व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । सन् 1950 के बाद की हिन्दी कविता में इसी तीसरी धारणा को स्वीकारा गया है । अज्ञेय की कई कविताएं इस संवेदना को चरितार्थ करती हैं - ''नदी के द्वीप', 'यह द्वीप अकेला' ऐसी ही कविताएं हैं। नरेश - मेहता का उदय इसी पृष्ठभूमि में हुआ, जहां उनके भीतर वर्तमान दृष्टियों के टकराव के प्रति एक सजग उन्मुक्तता रही, वहीं वे संस्कारवादी व्यक्ति थे, उनकी

प्रारंभिक कविताओं में समाज के लिए एक विशेष आग्रह का स्वर है, किंतु जैसे-जैसे समय बीतता है, नरेश-मेहता की दृष्टि में एक नव्य विकास का स्वर मुखर होने लगता है और वह स्वर संपूर्ण सृष्टि में एक कल्याणकारी उपस्थिति की पहचान का स्वर है ।

उनकी बाद की रचनाएं, विशेषकर जो 'उत्सवा' नाम के संकलन में प्रकाशित है, इस नए बोध और नयी अनुभूति से परिपूर्ण है । पूरा-का-पूरा उत्सवा का काव्य-संसार इसी साक्षात्कार का प्रतिफलन् है । कहीं कवि को लगता है कि बिछी हुई हरी-हरी दूर्वा, अपने वैभव में परिपूर्ण वनस्पतियां सभी प्रार्थना - स्वरूप हैं, उनमें कवि को जगह-जगह ऋचाओं का मान सुनाई देता है । संख्या और उषा दिवा और रात्रि, आकाश और उसके सारे नक्षत्र-मण्डल इन सभी में कवि को एक महाचेतना का अनुभव होता है और वह चेतना सर्वत्र इस सृष्टि के जीवों के कल्याण की भावना से परिपूर्ण है। 'उत्सवा' की कविताएं यद्यपि अलग-अलग और स्वतंत्र हैं किंतु सबकी सब एक महाकाव्यात्मक संरचना का अंग प्रतीत होती है और सब में एक महालीला भाव का अहसास होता है । उन कविताओं का बिम्ब विधान, इनमें प्रयोग किए गए प्रतीक और मिथक (प्राचीन कथाएं) सभी प्राचीन भारतीय वाड.मय (साहित्य) से लिए गए हैं और सबका केंद्रीय स्वर एक विराट पुरुष के अनुभव को आत्मसात करने का है, इन कविताओं में एक निपट समर्पण भाव और वैष्णवता का दर्शन होता है । कहीं भी किसी भी कविता में कवि का अहम् रंचमात्र भी झांकता नहीं है । चारों ओर एक विराट् सत्ता के अनुभव और उसके प्रति निर्व्याज समर्पण का भाव है ।

नरेश मेहता की आध्यात्मिक अनुभूति के तीन स्तर बहुत स्पष्ट हैं - एक तो उनके व्यक्तित्व में जो एक वैष्णवी समर्पण भाव है - दूसरे प्रकृति से उसके नाना रूपों से, एक गहरा तादातम्य और - तीसरा संपूर्ण चराचर जगत् में एक विराट् चेतन सत्ता की अनुभूति ।

ये तीनों स्वर उनके काव्य में बड़े ही सशक्त रूप में प्रतिभासित हैं । भारतीय चिंतन में प्राणसत्ता का निवास उतना ही जीवन्त रूप में वनस्पतियों में भी माना जाता रहा है, जितना अन्य जीवों में । पश्चिम का प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता मूलक जीवन-दर्शन भारत में नहीं रहा । यहां की परिकल्पना में बीहड़ बनों में रहने वाला ऋषि हिंसक-जन्तुओं के बीच भी उतना ही आत्मीय और वत्सल भाव से रहता रहा है, जितना अपने परिवार में । ''वसुंधैकुटुम्बकम्'' वाली उचित केवल एक उक्ति भर नहीं

है, बल्कि जीवन की चरितार्थता को प्रमाणित करने वाला सत्य है । 'नरेश-मेहता' इस भारतीय दृष्टि और चिंतन परम्परा को अपने काव्य में पूरी गहराई से स्वायत्त किए हुए हैं । इसलिए प्रकृति का कोई भी रूप उन्हें खूंखार, हिंसक अथवा आक्रामक नहीं प्रतीत होता । चारों ओर जैसे मंगल की वर्षा हो रही हो । आकाश, ऋचाओं और उपनिषदों का सृजन कर रहा हो, ऐसा उन्हें लगता है, उन्होंने लिखा है -

"कौन है आकाश से बड़ा गायत्रिन ?"

धरती पर बिछी हुई दूर्वा उन्हें अपनी प्रार्थना मयता और समर्पण भावना से प्रभावित करती है । पीपल के पत्ते के कम्पन में उन्हें एक वासुदैविक प्रकम्पितता का बोध होता है । धूप उन्हें गान्धारी प्रतीत होती है और सूर्य की किरणें सवत्सा धेनुएं ।

नरेश मेहता ने अपने प्रतीकों बिम्बों और मिथकों को भारतीय आर्ष शब्दावली में इस प्रकार ढ़ाला है कि जैसे वह एक बार नए सिरे से वेदों और उपनिषदों की यात्रा कर रहे हों । अंतर इतना है कि उस औपनिषदिक शब्दावली में नरेश जी ने बड़ी ही खूबी से वैष्णव-समर्पण भाव को पिरोया है और इस प्रकार उनकी एक ऐसी नयी दृष्टि बन सकी है । आध्यात्मिक चेतना को इतने विराट् बिम्बों में अंकित किया गया है कि कभी-कभी आश्चर्य होता है । उनकी कविता 'लीलाभाव' इसका सशक्त उदाहरण है -

"यह किसका लीलाभाव है,
यह कैसा लीलाभाव है ?
कि अग्नि ही अग्नि
अग्नि का होम कर रही है
और अग्नि ही स्वाहा भी हो रही है ।
x x x
हमारी वायु के वस्त्र
ये विभिन्न वर्णमालाएं
ये विनम्र वनस्पतियां
ये कामातुर नदियां -
भाषाओं की
पृथ्वी की
और पदहीन पदार्थों की
स्वाहा यात्राएं ही तो हैं ।"

उस विराट् लीला पुरुष की इस ब्रह्माण्ड व्यापी लीला को अपने पूरे विस्तार में नरेश-मेहता अनुभव करते हैं और उतनी ही विराट्ता से उसे अभिव्यक्त भी करते हैं । उस विराट् अभिव्यक्ति का दर्शन हम उनके काव्य में अत्यन्त सशक्त बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से करते हैं -

''कौन है वह
जो महाकल की अलगनी पर
ग्रहों - नक्षत्रों की राशियों की
और अंकों की आकृतियां प्रदान कर रहा है
क्षणों के चीनांशुकों
और सवत्सरों के अभिषेक पट्टों वाले इतिहासों को
पौराणिक बुनावट में बुनकर
नये आकाशों के निर्माण में फैलाता जा रहा है
फैलाता ही जा रहा है ।''[1]

नरेश मेहता ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है - ''जब बारम्बार प्रकृति की रम्यता से उसका हठात् साक्षात होता रहा होगा, तब-तब प्रतिबार अपने भीतर श्रेष्ठत्व का अनिवर्चनीय आनंद प्रकम्पित होता रहा होगा । सम्भव है दिन की जाज्वलता में जहां वह युद्ध भावरत रहता रहा होगा वहां निश्चय ही रात्रि की कमनीय एकान्तताओं में प्राथमिक उदात्तताएं अनव्याख्यायित रहती रही होंगी । आरंभ में ऐसा आन्तरिक मनोरमता का कार्य-कारण रूप में संबंध स्थापित करना सीख लिया होगा ।[2]

नरेश जी प्रकृति के साक्षात्कार से केवल कमनीयता या रम्यता का ही अनुभव नहीं करते बल्कि उसे कहीं आगे जाकर उन्हें लगता है कि यह सारा पर्यावरण मनुष्य को उसके रचयिता की ओर खींचे जा रहा है ।

''तुम नहीं जानते, कि
एक कवय है
एक प्रार्थना है
एक मंत्र है -

1- भूमिका - काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व - नरेश मेहता - पृ० - 1
2- भूमिका - काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व - नरेश मेहता - पृ० - 1

जो तुम्हें संपूर्ण आवेष्टित किए हुए है
जो तुम्हें निष्णात सुगन्धित किए हुए है
जो तुम्हें ईश्वरत्व की ओर लिए जा रहा है ।''[1]

आत्मिक अनुभव को भारतीय परम्परा में ग्रहण करने का जो स्तर रहा है, उसे नरेश मेहता इस प्रकार व्यंक्त करते हैं :- ''जिसे भारतीय दृष्टि के रूप में जाना जाता है उसमें जड़ीय प्रगति को कभी प्रमुखता नहीं दी गयी और सम्भवतः इसीलिए देशगत ऐतिहासिकता को भी कभी महत्व नहीं दिया गया । मानव को आधारभूत चेतनात्मक प्राणी मानने के कारण ही सम्भाव्य स्थूलताओं को भारतीय मनीषा ने गौण कर दिया । मानवीय स्वत्व को जब अपनी स्थिति के लिए जितनी पदार्थता या जड़ीय स्वत्व को स्वीकारना पड़ा उस सीमा तक उसे भी हिरण्यमय बनाने का उपक्रम किया गया । जब आर्षता, जड़ और चेतन दोनों स्तरों पर ''सोडहम् का उदघोष करती है, तब यही तात्पर्य है । जड़ और चेतन, देश और काल, रूप और अरूप, स्थाणु और क्षिप्र इन सर्वथा विपरीतताओं में आत्म-भाव केवल भारतीय आर्षता की विशेषता रही है ।''[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नरेश-मेहता के काव्य में आत्मीयता चरितार्थ हुई है । साथ ही वह यह भी जानते हैं कि इस सृष्टि के पीछे ''सर्वत्र एक सुविचारित प्रयोजन-दृष्टि है । चीड़ की परम उर्ध्वता के ठीक पदतल में अनाम घास का जो वृत होगा वह संयोगवशात नहीं होगा । एक निश्चित प्रयोजन है । संतुलन का समरसता का। विपुल की अत्यल्प से, विराट की लघुता से, प्रकाश की अंधकार से, कठोर की कोमलता से पग-पग पर चूल सी बैठा सी गई है। चट्टानों और पहाड़ों की पंजीभूत राशीय जड़ता को तराशने के लिए किसी लौह-पौरुषता को न चुनकर, जल की अनविल मसृणता का व्यवहार क्या संयोग है ? मरूस्थलों में बालुओं की अपार राशि को निरंतर समतल बनाये रखने का उत्कट-कार्य किसी अन्य को न सौंप कर पारदर्शी हवाओं को क्या संयोग से दिया गया है ? सृष्टि में मानवीय-सभ्यता की औपचारिकता या आडम्बर या मिथ्याभाषा का व्यवहार कहीं नहीं मिलेगा और न कोई असंतोष । प्रकृति में, सृष्टि में, सामरस्य है, प्रतिद्वन्द्विता नहीं ।''[3]

1- नरेश मेहता - उत्सवा - प्रार्थना पुरुष - पृ० - 91
2- नरेश मेहता - काव्य का वैष्णवव्यक्तित्व - पृ० - 5 - 6
3- नरेश मेहता - उत्सवा की भूमिका - पृ० - 15

जहां कवि सृष्टि के इस उपक्रम में इतने गहरे सामंजस्य और सरसता का दर्शन करता है, वहीं उसे उस प्रकृति में चारों ओर एक विचित्र उत्सवता, मंगलमयता एवं वैष्णवता का अनुभव होता है । धूप को लेकर कवि की यह अनुभूति रेखांकित करने योग्य है -

''प्रतिदिन पीताम्बरा यह
वैष्णवी
किसके अनुग्रह - सी
आकाशों में देव वस्त्रों सी
अकलंक बनी रहती है ?
सम्पूर्ण वानस्पतिकता
पीत चंदन लेपित
उदात्त माधवी वैष्णवता लगती है ।
मेरा यह कैसा, अकेलापन
जो इस वैश्विक उत्सवता से वंचित है ।''[1]

कवि को वृक्ष का जीवन एक वैष्णवी सम्पूर्णता से युक्त लगता है । उसे लगता है, अपने में से फूल को जन्म देना एक उदात्त अनुभव है । इसी प्रकार ''आकाश उसे एक बड़े गायत्रिन की भांति प्रतीत होता है । उसे लगता है, आकाश राशि की ध्यानावस्था में सन्यासी की भांति प्रकाश का आचमन करता है । आकाश एक धूल जटिल है जो अग्नि के अनुष्टुप लिख रहा है । यह विष्णुवर्णी नीलाम्बर है जो निरंतर रूद्र पाठ कर रहा है, जो तबसे है, जब कुछ नहीं था और तब भी रहेगा, जब कुछ नहीं रहेगा ।''[2]

नरेश मेहता की आध्यात्मिक अनुभूति में वैष्णवता का तत्व कूट-कूट कर भरा है । एक विचिद्ध समर्पण-भाव उन्हें सृष्टि में दृष्टिगोचर होता है । वे लिखते हैं । ''दिन प्रभु की कृपा है । उन्हें विश्वास है कि विश्व में व्याप्त यह वैष्णवता हर पाठक को एक दिन प्रभु कर जाएगी ।''[3]

1- नरेश मेहता - उत्सवा - धूप-तृष्णा - पृ० - 27
2- नरेश मेहता - उत्सवा - गायत्रिन
3- नरेश मेहता - उत्सवा - दिन, कृपा है

इस समर्पण भाव का अद्‌भुत निदर्शन इन पंक्तियों में हुआ है -

''ये फूल
और यह धूप
लहलहाते खेत
नदी का कूल
क्या प्रार्थनाएं नहीं हैं ?
व्यक्तित्व
उर्ध्व के प्रति क्या निवेदित नहीं है ।''[1]

नरेश मेहता सभी वनस्पतियों को एक विशाल कौटुम्बिक भाव से देखते हैं । उन्हें लगता है -

''अमानुषी वन पर्वतों
निर्जन जंगलों
एकाकी पत्तकाओं में भी
पत्र लिखी भूषाएं धारे
सुरम्य वर्णी पूर्खों से
ये वनस्पतियां
भाषा दिप्त संकीर्तन करके
निवेदित, सुगंध-ही-सुगंध देती रहती है ।''[2]

कवि की यह दृष्टि इतनी दिंगत व्यापिनी है कि वह धरती के प्रत्येक स्पर्श में एक ऋचा की प्रतीति करता है । वह लिखता है -

''इसीलिए मैं एक भाषा का अनुभव करता हूं
जो ग्रंथों में नहीं होती
क्योंकि उनमें फूल, मंत्र नहीं होता,
जबकि कौन विश्वास करेगा कि
फूल भी मंत्र होता है,
क्योंकि फूल
एक शब्द ही नहीं संपूर्ण भाषा है ।''[3]

1- नरेश मेहता - उत्सवा - सर्वत्र - पृ० - 39

2- नरेश मेहता - उत्सवा - महाभाव - पृ० - 41

3- नरेश मेहता - उत्सवा

हम देखते हैं कि कवि नरेश मेहता अपने तिलस्मी वैचारिक स्तर पर अपने वैष्णवी समर्पणता के स्तर पर और सृष्टि की विराट् फलक को एक गहरे आश्चर्य-भाव से आत्मसात करने के स्तर पर लगातार उस महाचेतना को अपने भीतर अनुभव करते हैं, जिसके अभिव्यक्ति के रूप में यह चराचर विश्व है । नरेश मेहता मध्य-काव्य भक्त-कवियों की भांति केवल समर्पण की ही बात नहीं करते बल्कि एक गहरे और तीक्ष्ण वैचारिकता का भी सहारा लेते हैं, किंतु उस मार्ग से चलकर ही वे काव्य के वैष्णव व्यक्तित्व को ही चरितार्थ करते हैं । आधुनिक युग में बहुत से प्राचीन मिथक अप्रासंगिक लगते हैं । कपोल कल्पनाएं लगती हैं किंतु एक तथ्य और भी गहराई से उजागर हुआ है और वह है ब्रह्माण्ड की विराट्ता का तथ्य । अगणित सौर मंडलों से निर्मित यह विश्व आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धिवाद के समक्ष एक असाध्य चुनौती और रहस्य है । नरेश मेहता का काव्य ब्रह्माण्ड की विराट्ता को एक गहरे काव्यात्मक स्तर पर चरितार्थ करता है ।

धर्मवीर - भारती :- नयी कविता के वैष्णवी रूपानियत के कवि धर्मवीर भारती हैं । दूसरा सप्तक के कवियों में धर्मवीर भारती का व्यक्तित्व कई अर्थों में अपनी विशिष्टता रखता है । एक तो भारती के काव्य में ताजगी का तत्व बहुत प्रखर है । दूसरे उनकी भाषा का अंदाज बड़ी ही वेगवत्ता लिए हुए है । इधर के कवियों में कोई भी दूसरा कवि भाषा की इतनी रवानगी लिए हुए नहीं है । लेकिन भारती की सबसे बड़ी विशेषता उनकी रूमानियत की वैष्णवता है और इसी धरातल पर वे सर्वथा आधुनिक हैं और उनकी रूमानी कविताएं अपने आधुनिक स्फूर्तिजन्य आवेशमयता के साथ पाठक को अभिभूत करती चलती है । निम्न पंक्तियों में रूमानियत का एक उर्ज्जस्वित आराधना भाव देखा जा सकता है -

> "जिस दिन थे तुमने फूल बिखेरे माथे पर
> अपने तुलसी-दल जैसे पावन होंठों से;
> मैं सहज तुम्हारे गर्म वृक्ष में शीश छुपा
> चिड़िया के सहमे बच्चे सा,
> हो गया मूक
> लेकिन उस दिन मेरी अलबेली वाणी में,

थे बोल उठे,
गीता के मंजुल श्लोक
ऋचाएं वेदों की ।''[1]

रूमानी भाव को इतनी पवित्रता और पूजा का धरातल देना भारती की खास विशेषता है। वे बार-बार इस पवित्र पूजा-भाव को भिन्न प्रतीकों से व्यंजित करते हुए थकते नहीं और इस प्रकार प्रेम में अपने भगवान का दर्शन वे बार-बार करते हैं । उनकी एक कविता की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं -

''रख दिए तुमने नजर में बादलों को साधकर
आज माथे पर सरल-संगीत से निर्मित अधर :
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांव में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर ।''[2]

भारती ने जिस पूजा-भाव से मनुष्य की सहज मानवीय चेष्टा को अंकित किया है, उसे पढ़कर लगता है कि कवि की दृष्टि में केवल प्रेम का भाव ही ईश्वरीय-भाव नहीं है, बल्कि उस भाव की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में जो मानवीय चेष्टाएं होती हैं वे भी उतनी ही पवित्र हैं । किसी प्रेमी के अधर जब प्रेमिका के माथे का स्पर्श करते हैं तो कवि को भागवत के पृष्ठ पर रखी हुई बांसुरी याद आती है । इतना ही नहीं वे और भी आगे बढ़कर बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -

''किसी की गोद में सर धर,
घटा-घनघोर बिखराकर,
अगर विश्वास हो जाए,
धड़कते वक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व खो जाए,
न हो यह वासना,
तो जिंदगी की माप कैसे हो ?''[3]

1- धर्मवीर भारती - दूसरा सप्तक - जाड़े की शाम - पृ० - 198
2- धर्मवीर भारती - दूसरा सप्तक - चुम्बन - पृ० - 195
3- धर्मवीर भारती - दूसरा सप्तक - गुनाह का दूसरा रूप - पृ० - 186 - 187

और फिर आगे बढ़कर उसी कविता में भारती कहते हैं -

''अगर मैंने किसी की मदभरी अंगड़ाईयां चूमी,
अगर मैंने किसी की सांसों की पूर्वाईयां चूमीं
महज इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो ?
महज इससे किसी का स्वर मुझ पर शाप कैसे हो ?''[1]

डॉ० भारती की इन कविताओं के माध्यम से उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों की तलाश एक दूर की खोज प्रतीत होती है । परंतु थोड़े गहरे जा कर विश्लेषण करने पर यह बात समझ में आ जाती है कि भारती मनुष्य और मनुष्य के बीच आकर्षण को वही पवित्रता, वही सात्विकता, प्रदान करते हैं जो मनुष्य और उसके आराध्य प्रभु के बीच संभव है । इसीलिए ज्यों-ज्यों भारती आपनी कविता की यात्रा में आगे बढ़ते हैं, उनकी यह पवित्र अद्वैत भावना एक बौद्धिक उद्‌भावना भी बनती जाती है । उनकी अनुभूति को लेकर डॉ० रघुवंश की ये पंक्तियां बहुत सारगर्भित लगती हैं -

''भारती ने सांस्कृतिक दृष्टि से वैष्णव परम्परा को ग्रहण किया है । हिन्दी काव्य के धारावाहिक क्रम में अतीन्द्रीय अमूर्त ब्रह्मकी अपेक्षा एन्द्रिक प्रत्यक्ष ब्रह्म के प्रति भाव-समर्पण मध्य-युग में अधिक भावोल्लास के साथ मिलता है । कबीर आदि संत कवियों ने अपने इन्द्रीयातीत प्रियतम के प्रेम-विरह की मार्मिक व्यंजना की है; पर वैष्णव कवियों के रूप, रस, गंधमय प्रेम का आलम्बन प्रत्यक्ष प्रिय है । इसी कारण उनके आराध्य (प्रिय) का सौंदर्य रूपाकारमय तथा शरीरी, उनकी प्रेम व्यंजना में शारीरिक हर्षोल्लास तथा विरह-वेदना की अनेक आभावर्णी भाव तरंगें आलोड़ित हैं, परंतु इस समस्त मांसल सौंदर्य और शरीरी भाव - सम्पूर्णता प्रिय के परात्पर होने की वैष्णव - पावनता सर्वत्र व्याप्त है । भारती ने रोमैंटिक व्यक्तित्व प्रेम और सौंदर्य को जिस मानसिक सहज कैशौर्य की कल्पनाशील पावनता से आभामण्डित किया है, वह इस वैष्णव परम्परा से जुड़ जाती है ।

भारती के काव्य में रूपासक्ति, प्रणय, प्रेमकांक्षा के उद्दाम आवेग के क्षणों में भी इस पावनता का स्पर्श बना रहता है। प्रणय-वासना की अभिव्यक्ति सरलता, सहजता और ईमानदारी, अनुभूति की कोमलता तथा तन्मयता को पावन रूप देती है ।''[2]

1- धर्मवीर भारती - दूसरा सप्तक - गुनाह का दूसरा रूप - पृ० - 186 - 187
2- रघुवंश - भारती का काव्य - आमुख - पृ० - 4 - 5

ऊपर की मान्यता को भारती की बहुत सी कविताओं से पुष्ट किया जा सकता है -

''हरी बांसुरी को आयी है, मोहन के होंठों की याद''

अथवा -

''प्रातः सद्यः स्नात । कन्धों पर बिखेरे केश
आंसुओं में ज्यों । धुला वैराग्य का संदेश
चूमती रह-रह । बदन को अर्चना की धूप
यह सरल निष्काम । पूजा सा तुम्हारा रूप ।''[1]

यह निष्काम पूजा-भाव भारती के तन-मन में इस कदर व्याप्त था कि अनेकानेक संदर्भों में छन-छन कर अभिव्यक्त होता था ।

''यह आत्मा की पावनता, मन की ऊँचाई,
यह रेशम के सपने,
अंजान गुफाओं में खो जाते हैं ।''[2]

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, दूसरा सप्तक, और ठंडा लोहा की कविताओं के बाद भारती की काव्य-यात्रा के अगले चरण में उनकी यह वैष्णव रूमानियत एक चिंतनशील मुद्रा अपनाती है । जैसा कि उनकी इन पंक्तियों में हम देखते हैं -

''प्रभु
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?
जिसमें श्रृंगार की आसक्ति नहीं
जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं,
जिसमें बाहों के
आकुल परिरम्भण की गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी
ध्यान कहीं और चला जाता है,

1- धर्मवीर भारती - ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएं - प्रार्थना की कड़ी - पृ० - 13
2- धर्मवीर भारती - ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएं - यह आत्मा की खूंखार प्यास - पृ० - 60

तन पिघले फूलों की
आग पिया करता है
पर मन में कई प्रश्न चिन्ह ऊभर आते हैं
यह सब क्या है ?
क्यों है ?''[1]

जिज्ञासा का यह स्वर कनुप्रिया तक पहुँचते - पहुँचते और अधिक रहस्याकूल हो उठता है । राधिका और कृष्ण चिर-संख्य भारती की कविता में एक नयी भूमि पर खड़ा होता है । राधा कहती है -

''क्या तुमने उस बेला मुझे बुलाया था, कनु ?
लो मैं सब छोड़-छाड़कर आ गयी !
इसीलिए तब
मैं तुममें बूँद की तरह विलीन नहीं हुई थी,
इसीलिए मैंने अस्वीकार कर दिया था
तुम्हारे गोलोक का
कालावधिहीन रास,
क्योंकि मुझे फिर आना था !
तुमने मुझे पुकारा था न
मैं आ गयी हूँ कनु !
और जन्म-जन्मान्तरों की अनन्त पगडण्डी के
कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ
कि इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ

1- धर्मवीर भारती - कनुप्रिया - समापन - पृ० - 87 - 88

लक्ष्मीकांत वर्मा :- नई कविता का अतुकान्त स्वर

लक्ष्मीकांत वर्मा : आध्यात्मिक चौखटे में :- लक्ष्मीकांत वर्मा की कविताओं को भाषा और संवेदना दोनों ही धरातलों पर सुपाच्य नहीं कहा जा सकता । उनकी रचनाएं अतुकांत तीसरा पक्ष, आदि संकलनों में प्रकाशित होती रहीं । सन् 50 से 70 के बीच की कविताओं में लक्ष्मीकांत जी अत्यन्त कड़वाहट से भरे दिखायी पड़ते हैं । उनके कवि व्यक्तित्व पर स्थितियों का गहनतम् दबाव है । ''तीसरा पक्ष'' की भूमिका में उन्होंने लिखा है - ''आदतन मैं बन्द कमरे में रहकर नहीं जी सकता, मुझे खुलापन चाहिए मुझे धूल-धक्कड़, कंकड़ - पत्थर, शोर गुल, नारों गालियों से न तो परहेज है और न अब मुझे उसमें जीवन का प्रवाह मिलता है । अपनी मानसिकता को ही शांति उस व्यापक अशांति से जुड़कर ही मिलती है; इसीलिए मेरे मन में बार - बार चौराहे पर खड़े होने की तीव्रता बनी रहती है । लेकिन यह तीव्र व्यग्रता केवल तमाशबीन के रूप में नहीं; उस शोर-गुल, धूल-धक्कड़ में पड़कर भोगने की भी प्रबल इच्छा मन में हमेशा मौजूद रहती है । कभी-कभी यह चौराहा मेरे घर गली के पास का भी होता है और कभी-कभी यह व्यापक संसार का भी चौराहा होता है । दुनिया का वह लम्बा-चौड़ा परिवेश भी होता है, जिसमें आदमी की शक्ल-सूरत नहीं दीख पड़ती लेकिन एक सजातीय गंध बार-बार आकर्षित करती है । आदमी - आदमी की यह गंध और उसमें एक अज्ञात सा रिश्ता मुझे संसार के प्रत्येक उस मनुष्य में जोड़ देता है, जो मुझसे हजारों लाखों मील दूर अकेले किसी जंगल बियाबान में किसी सत्ताधारी के अनन्य के प्रति समर्पित है । मेरी उसकी कोई जान पहचान नहीं है । मैं शायद यह भी नहीं कह सकता कि वह अकेला आदमी कहाँ है, लेकिन मेरा कवि मानस ''सर्वभूतेषु'' रूप में दूर कहीं पा लेता है ।''[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्ष्मीकांत जी मनुष्य और मनुष्य के बीच सम्बन्ध को अपनी कविता के माध्यम से पहचानने का प्रयास करते हैं । उस रिश्ते की मूलवत्ता उन्हें प्रेरित करती है -

> ''एक व्यक्ति ही जब समेह बन जाता है
> हो जाता है अवचार, संस्कार
> समाज की धड़कन, साँस, आत्मा, प्राण

1- लक्ष्मीकांत वर्मा - तीसरा पक्ष की भूमिका

और फिर जब वह सहसा छीन लिया जाता है
तो समूह का समूह बन जाता है लाश ।''[1]

उसी क्रम में वे आगे कहते हं -

''लोक जब व्यथित होता है,
नरक जब गंगा के जल को ललकारता है
जरासंध के प्राचीरों में जब अहंकार जयी हो
निकलता है कोलाहल बन,
तोड़ता है अर्गला, खंडित करता है विधान-संविधान
रक्त अर्ध्य दे सोखता है सारे का सारा बन ।''[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्ष्मीकांत वर्मा अपनी कविता यात्रा में अपनी निजी संघर्षों से निकलकर समाज के व्यापक संघर्षों से होते हुए एक ऐसी रचना भूमि तक पहुँचते हैं, जहाँ उन्हें अपने देश के संस्कार, उदात्तताएँ और परम्पराएँ नये अर्थों के साथ उद्भाषित होने लगती हैं । वे भारतीय मिथकों को आधुनिक जीवन के संदर्भों से संपृक्त होकर नये सिरे से जीते हैं । वे पुरानी चीजों को मिथकों और प्रतीकों को ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण करते और न उनसे मुक्त होने वाली आधुनिकता के ही समर्थक हैं । इधर की उनकी रचनाओं में उनकी मानसिकता को देखने का साफ अवसर मिलता है । 'कंचन मृग' की भूमिका में लिखते हैं -

यहाँ मैं एक बात और कह दूँ कि जब मैं संस्कारबद्ध होने की बात करता हूँ तो उसी के साथ संस्कारमुक्त होने की बात करता हूँ, जब मैं देश की जलवायु की बात करता हूँ तो इस जलवायु के बंधन को तोड़कर भी लिखने की बात सोचना हँ, जब मैं तापमान की बात करता हूँ तो तापमान के परे उससे ऊपर उठकर भी लिख सकने की क्षमता में विश्वास करता हूँ, जब देश की धड़कन की बात करता हूँ तो ठण्डेपन की भी कल्पना कर सकता हूँ, पुरातत्व के बंधन, धर्म के उन्मेष और मिथक के प्रेरक तत्वों की अनिवार्यताओं को स्वीकारते हुए एक ऐसी भी स्थिति की कल्पना करता हूँ , जहाँ हम इन सब के बंधनों को तोड़कर लिखते हैं । लेकिन शर्त है तोड़कर यह याद रखिए

1- लक्ष्मीकांत वर्मा - तीसरा पक्ष - पृ० - 85
2- लक्ष्मीकांत वर्मा - तीसरा पक्ष - पृ० - 105

संरचनात्मक तोड़ना वही कर सकता है जो इन सारे संदर्भों को जिया हो । जिसने देश को जाना ही नहीं, जलवायु की सर्दी, गर्मी सहन ही नहीं की, इतिहास को पहचाना नहीं, धर्म, पुरातत्व मिथक में रमा ही नहीं, वह कम-से-कम रचना में उन्हें तोड़कर या उनसे ऊपर उठकर कुछ भी ऐसा नहीं लिख सकता जो सार्थक हो ।''[1]

यह पृष्ठभूमि जिसमें लक्ष्मीकांत जी की आध्यात्मिक दृष्टि की पहचान करनी चाहिए । बिना इस पृष्ठ-भूमि को समझे हुए कवि की आध्यात्मिकता की पहचान संभव नहीं, इस संदर्भ को सामने रखते हुए हम कवि की इन पंक्तियों की व्यंजना को समझ सकते हैं -

''अजस्र ज्योति वर्षा कैसी होती होगी भला
मैंने तो केवल अंधकार ही आते देखा है
ज्योति को थिर ही पाया है
कैसे लगता होगा :
जब ज्योत चलती होगी
प्रकाश दहते होंगे
अवकाश गलते हांगे
प्रवाह बहता होगा
अथाह थहता होगा
मैंने तो एक बूँद में ही सब देख लिया
फिर सागर कैसा होगा ?''[2]

कवि की इन पंक्तियों में जिस प्रकार की अनुभूति को हम रूपायित होते देखते हैं वह प्रकाश उस प्रकार का नहीं है, जैसा सुमित्रानंदन पंत जी के आँगन में बरसने वाला प्रकाश है । यह तो प्रकाश की एक बूँद को अपने भीतर पचा लेना है, जो बहता हुआ आता है और अथाह को थाहता है, इसी प्रकार कवि एक दूसरे संदर्भ में कहता है -

''मैंने तुमसे कहा
शून्य में नहीं नीचे देखो
यह अतुल तुमुल नाद नहीं

1- लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग की भूमिका से

2- लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग - अनुत्तरित प्रश्न - पृ० - 53

तुम्हारी प्रार्थना में गाये जाने वाली ऋचाएँ हैं
लेकिन तुम अपने सामानान्तर ही देखते रहे
"तुमने जाना नहीं
कि यह जो प्रार्थना है
वह तुम्हारी नहीं मेरी अवधारणा है
व्याकुल है तुम तक पहुँचने के लिए,
लेकिन तुमने घेर लिया अपने को
अपने ही आभा मण्डल में
और मेरी अवधारणा उसके बाहर
एवं याचिका परिव्रजिका सी खड़ी रही ।"[1]

इन पंक्तियों में कवि ने उस आध्यात्मिक मुद्रा को चुनौती दी है, जिसमें हम केवल अंधश्रद्धा के साथ एक अपने ही कल्पना के ईश्वर के सामने खड़े हो जाते हैं, कवि तो चाहता है कि यह जड़ मुद्रा समाप्त होकर वाणी, भाषा और मंत्र बने तभी वह उसकी अभयमुद्रा को उसके ज्योतिरत्तम्भ को उसके अनासक्त रूप को देख सकता है, इसीलिए कविता की अंतिम पंक्तियों में वह कहता है -

"मैं नहीं कहता कि तुम जो कुछ करते हो न करो,
या बेबसी में मत हिलो - डुलो
मैं बस इतना ही चाहता हूँ
मेरे साथ - साथ --
तुम उगो ।"[2]

अंतिम दो पंक्तियाँ कवि की दृष्टि को जड़ परम्परा से सर्वथा अलग करती हैं ।

लक्ष्मीकांत जी के आध्यात्मिक अनुभव सपाट नहीं है और न किसी उद्बोधन या मार्ग दर्शन से निर्मित हुए हैं, उन्होंने जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों को तिल-तिल कर भोगा है । अभाव और यातना की कड़वी से - कड़वी घूँट पीकर वे क्रमशः पुरात्व धरातल पर पहुँचते गए हैं, उनकी इस अनुभव यात्रा का एक सहज

1- लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग - अनुत्तरित प्रश्न - पृ० - 53
2- लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग - अनुत्तरित प्रश्न - पृ० - 53

अनुक्रम है, जहाँ वे अपने निजत्व के घेरे से निकलकर और फिर व्यापक सामाजिक दायरों में और फिर उनसे भी निकलकर वृहत्तर परिवेश में संचरण करते हैं । इस पूरी यात्रा में उनकी मनःस्थिति कभी भी ऐसी नहीं होती जैसे उन्होंने समाधान प्राप्त कर लिया हो । वे कदम-कदम पर शंकालु हैं जिज्ञासु हैं और साथ ही किसी विराटतर चेतना के संस्पर्श का भी अनुभव करते हैं इसलिए वे कहतें हैं -

''लेकिन मैंने जब कभी भी
अपने दिल के आइने को देखा
मुझे अपना अंतश हँसता हुआ लगा
एक गुलाब पर पसीने की बूँद मिली तो क्या
मैंने उसे भी होंठ से लगाया ।

यह सुख, यह दुःख दो आँखें हैं
जिनके बिना जिंदगी तलख नजर आती है
जीवन में जिनके सुख-ही-सुख हैं वे अंधे हैं
और जिनके जीवन में दुःख-ही-दुःख हैं वे बुद्धिमान हैं
क्योंकि सुख हमेशा धृतराष्ट्र पैदा करता है
और दुःख को हमेशा एक कृष्ण समझता है ।''[1]

इन काव्य पंक्तियों में जो काव्य - भाव हैं, वह दुःख के मार्ग से कृष्ण तक पहुँचने का मार्ग है, इसी प्रकार एक अन्य संदर्भ में कवि ने कहा है -

''किसी मरियम के बेटे का
पुनर्भाव होने वाला है
शायद जख्मी की आवाजें
मौन ही होती हैं ।''[2]

इस प्रकार दुःख और पीड़ा के रास्ते से लक्ष्मीकांत जी मसीहा के जन्म की कल्पना करते हैं, फिर भी जैसा ऊपर संकेत किया गया उनकी दृष्टि कभी भी समाधान पा लेने वाले व्यक्ति की नहीं वे हमेशा किसी धुँधलके में किसी विराट्तर अनुभव की खोज करते हैं । इसी परिप्रेक्ष्य में उनकी निम्नलिखित पंक्तियों को रेखांकित किया जा सकता है -

---

1- लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग - दो आंखें - पृ० - 114
2- लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग - आवाज - पृ० - 119

''समिधायें हमेशा धुँआ वहन करती है
यज्ञवेदी का नारिकेल
केवल शंकाएँ पैदा करता है
जो बलि होता है
वही जन्म दे जाता है
सावधि शंकाएँ भी
समिधाएं समाधान नहीं
जिज्ञासाएँ दे जाती हैं ।''[1]

---

(1) लक्ष्मीकांत वर्मा - कंचनमृग - जिज्ञासा - पृ० - २५

डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल :- आधुनिकता और आध्यात्मिका का
एक अद्‌भुत रसायन : डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल

नयी कविता में विपिन अग्रवाल की स्थिति कई दृष्टियों से विशिष्ट है । लक्ष्मीकांत वर्मा की ही भाँति विपिन अग्रवाल तारसप्तकों में शामिल नहीं किये जा सके। व्यक्ति के रूप में विपिन अपनी कविताओं में बहुत समय तक कहीं भी आध्यात्मिक चिंता या चिंतन के प्रति उत्सुक नजर नहीं आते । यह तो बार-बार हुआ कि उनकी कविताओं में किसी छोटे से सरल दिखने वाले वर्णन में किसी गहरे और बड़े अर्थ की गूँज सुनाई पड़े किंतु उनकी आधुनिकता इस बात की इजाजत नहीं देती कि वे आध्यात्मिक अनुभवों और अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय बनायें, परन्तु यह एक सुखद विडम्बना है । पहले तो ''अज्ञेय'' द्वारा आयोजित शिविरों और सांस्कृतिक यात्राओं के बारे में उनका कहना था कि तीस आदमियों को ऐसे शिविरों में ले जाने की तुलना में एक आदमी को अमेरिका की यात्रा करा देना अधिक सार्थक काम है । उनका ख्याल था कि एक बार आधुनिक विश्व के केन्द्रों को नजदीक से देखकर संसार के रहस्यों को अधिक गहराई से समझा जा सकता है । बामुकाविले वृन्दावन या वैष्णव देवी में शिविर करने में या अयोध्या अथवा चित्रकूट आदि में घूमने के । किन्तु यह संयोग ही था कि विपिन अग्रवाल को दक्षिण भारत के मंदिरों की यात्रा करने का अवसर मिला और मदुराई की मीनाक्षी मंदिर आदि की कला-साधना का उन्होंने गहराई से परीक्षण किया । उसके बाद उनकी सम्पूर्ण चेतना में एक विचित्र बदलाव आया और उस बदलाव की सर्जनात्मक परिणति उनकी लम्बी कविता ''आदिहीन अनन्त यात्रा'' में स्पष्ट दिखायी पड़ती है, जहाँ वे लिखते हैं कि -

''जाना है ऊपर तक
जहाँ नीला आकाश
स्पर्श करता
सौर कर से
धरती के उठे उरोज
परखूँ कौन सी दिशा
कौन सा सत्य
पढ़ो यह शिलालेख

कभी परिचित थी भाषा इसकी
मानो हो मेरी ही लिखी हुई ।[1]

यहाँ से शुरू होती है "विपिन अग्रवाल" की "आदिहीन अनन्त यात्रा" जहाँ उन्हें प्रेरणा मिलती है, नीले आकाश की ऊँचाइयों में झाँकने की, नयी दिशाओं को परखने की नये सत्यों को परखने की और इस क्रम में उन्हें लगने लगता है कि पहचानी हुई जगहें कितनी अपरिचित हो जाती हैं और अपरिचित जगहें कितनी सदियों की पहचानी प्रतीत होती हैं -

"वही जगह
वही पर्वत
वही सत्य
मेरा अपना परिचित जंगल
पार की मैने कितनी बार
सहस्त्र धार
आज भी हिलता है
लकड़ी का पुल
जैसे हिलता था
जब चलते थे
मेरे चाचा इस पर
कुछ पीकर
घूमते पैर चढ़ जाते हैं
हर हिमालय पर
सभी नदियां जाती हैं प्रयाग ।"[2]

इस लम्बी कविता के प्रथम चरण में जिसे वे 'गति एक सत्य' कहते हैं । सत्य की पहचान वे इन पंक्तियों में करते हैं -

"सत्य से युक्त असत्यों मध्य
मेरा जीवन है यज्ञ
करता दस किरणों वाली

1- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - सत्य - पृ० - 92
2- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - पृ० - 13 - 15

उषाओं को उत्पन्न
पर्वतों से उतार बहाता
सात नदियां
सत्य के मार्ग पर
मैं हूं इन्द्र
वृद्ध होता जाता अपने घर में
खोजता निरंतर
चुराई गई उन गऊओं को ।''[1]

इन पंक्तियों में जो बिम्ब है, उनके आधार मिथकीय हैं, किंतु उनमें व्यंजना विपिन अग्रवाल ने उनके मिथक संदर्भों से अलग करके भरी हैं । विपिन ऐसे मिथकीय बिम्बों के साथ कुछ ऐसे ताजे संदर्भों को पिरो देते हैं, जिसमें पंक्तियों का सारा अर्थ एक नई ताजगी से परिपूर्ण हो जाता है । यह उनकी मौलिकता है, परंतु इस कविता में जगह-जगह से बिम्ब हैं, जिनमें एक लोकोत्तर अनुभूति का तत्व निहित है, जैसे सीधी-सादी इन पंक्तियों को देखा जा सकता है -

''पर क्या तुमने कभी जाना है
क्या होता है
जाने के लिए किसी जगह का न होना ।''[2]

इसी प्रकार काल और अनुभव को संगठित करते हुए उनकी ये पंक्तियां कितनी व्यंजनापूर्ण हैं -

''लम्बी - उम्र की सब करते कामना
पल-पल जीने की कोई नहीं ।''[3]

इन पंक्तियों में जिस अनुभव संपृक्ति से काल के प्रत्येक पल को जोड़ने की बात कही गई है वह सहसा अज्ञेय की याद दिलाती है । विपिन इस कविता में अपनी आध्यात्मिक चेतना को बड़े नए, सुन्दर और ताजे बिम्बों में व्यक्त करते हैं -

---

1- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - सत्य
2- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - यात्रा - पृ० - 22
3- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - यात्रा - पृ० - 23

"मैं बूंद हूं समुद्र भी
प्रार्थना और कीर्तन भी
बहता जल हूं तो
अचल द्वीप भी
हर विलोम है मेरा प्रतिबिम्ब
मृत्यु से जन्मा
आदिहीन अनन्त हूं ।"[1]

यद्यपि यह शब्दावली पूरी तौर पर उपनिषदीय नहीं है, किंतु बहुत दूर तक यह उसके निकट है और विपिन कुमार अग्रवाल की चिर-परिचित काव्य-भाषा से यह उतनी ही दूर है, जितनी इस कविता की संवेदना उनकी पुरानी कविताओं की संवेदना से । इसी अंश में वे आगे कहते हैं -

"उठा लो मुझे तो फूल
जला दो तो दीप
खुशबू का दरिया हूं
जमीन का सूर्य
जो हूं उतना ही नहीं हूं
वह क्या है जो नहीं हूं ।"[2]

इन पंक्तियों से अह्म ब्रह्मासि अथवा 'रसौ वय सः' सब मिलकर देखा जा सकता है । इस लम्बी कविता में विपिन ने जगह-जगह ईश्वर को अपनी चिर-परिचित सामान्य स्वर से मिलाया है और नई भंगिमाएं उत्पन्न करने की कोशिश की है, परंतु यह सत्य निभ्रीत रूप से स्पष्ट है कि वे इसमें परिचित लोकभूमि से आगे चलकर वे लोकोत्तर भूमि की यात्राएं करते हैं, जिनका न कोई आदि है न अन्त । जो केवल यात्राएं हैं और यात्राएं बनी रहेंगी ।

1- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - संसार - पृ० - 28
2- विपिन कुमार अग्रवाल - आदिहीन अनन्त यात्रा - संसार - पृ० - 29

कुंवरनारायण :- नयी कविता आंदोलन से जुड़े कई कवियों में भी इस प्रकार की रुझान पायी जाती है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे इस दृश्य-जगत् में अव्यक्त रूप से क्रियाशील किसी परोक्ष सत्ता का अनुभव करते हैं और अपनी अनुभूति के इस पक्ष को ऐसे कवियों ने अपने सृजन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया है, इस दृष्टि से कुंवरनारायण धर्मवीर भारती के नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं ।

कुंवरनारायण को एक आध्यात्मिक कवि के रूप में रेखांकित करने का यह अर्थ कदापि नहीं है, कि वे इस संसार की चिंता कम करते हैं, अथवा सांसारिक अनुभव उन्हें कम प्रभावित करते हैं । सच ये है कि अपने सांसारिक अनुभवों में जीते हुए वे एक ऐसे आत्मिक संसार में भी जीते हैं, जिसका सारा दारोमदार केवल पार्थिव चिंताओं पर ही नहीं होता, एक अधिक गहरा सत्य उन्हें मथता रहता है । इस दृष्टि से उनकी ये पंक्तियां रेखांकित की जा सकती हैं -

''वस्तु का दर्पण, इधर सुनसान,
जो अपनों के बिना बिरान
इधर धूसर बुद्धि जो अति
जिंदगी के प्रति
उठाती स्वप्न की प्रतिध्वनि :
कुछ अवनि के अंक से आश्वस्त,
कुछ ऊंचाइयों से परस्त,
दृष्टियों में जन्म लेता व्यालः
दर्पण की सतह पर तैर आए
जिस तरह कोई निजी वन ।।''[1]

अवनि और आकाश के बीच का संचरण कुंवरनारायण की कविता में अनेक रूपों में देखा जा सकता है । इसे वे कहीं खुले और बेलाग भाव से व्यक्त करते हैं और कहीं सांकेतिक व्यंजनाओं से । इस दृष्टि से उनकी ये पंक्तियां भी द्रष्टव्य हैं -

''क्योंकि मुझमें पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली - सी उदासी
जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर कुछ
कुछ संबंध रखती उन पराई पंक्तियों से !

1- कुंवर नारायण - तीसरा सप्तक - दर्पण - पृ० - 240

और जिसका गांठभर मैं बांधता हूं
किसी विधि से
विविध छंदों की कलाओं से ।''[1]

इन पंक्तियों में कुंवरनारायण निर्ब्याज भाव से स्वीकार करते हैं कि उनके अंतर्तम में एक ऐसी उदासी (चिंता) अकेली बैठी हुई है, जो सारे सांसारिक सिलसिलों से दूर उनका संबंध कुछ ऐसी पराई पंक्तियों से (अदृश्य सत्ता से) जोड़ती है, जिसकी गांठ भर वे किसी प्रकार अपने विविध छंदों के कलाओं से बांध पाते हैं ।

ऐहिक सिलसिलों से दूर कि सच्चाइयों की तलाश वे अत्यंत गहराई से करते हैं और उस तलाश में आदि से अंत तक । अंत से अनन्त तक । और फिर पर्यन्त तक वे विचरण करते रहते हैं ।

उन्हें लगता है कि हमारा निजी जीवन एक विराट् जीवन की हलचलों से मिलकर एकाकार होना चाहता है । वे लिखते हैं -

''इन मुर्दा महलों की मीनारें हिल जाएं,
इन रोगी ख्यालों की सीमाएं धुल जाएं,
अंदर-से-बाहर आ सदियों कुंठाएं
बहुत बड़े जीवन की हलचल से मिल जाएं ।''[2]

कवि को यह महसूस होता है कि व्यक्ति के भीतर जो घुटन और कुण्ठाएं होती हैं, जब वह अपने बाहर के विराट् जीवन में उडेल देता है तो उसे एक निस्सीम आनंद की अनुभूति होती है । कुंवर नारायण प्रकृति के उदात्त साक्षात्कार के द्वारा भी इस विराट्ता की अनुभूति से सराबोर होते रहते हैं । उनकी प्रकृति की अनुभूति हम निम्न पंक्तियों में देख सकते हैं -

''प्राची के स्रोतों से
मीठी गरमाहट के
फव्वारे फूट रहे,

1- कुंवर नारायण - तीसरा सप्तक - ये पंक्तियां मेरे निकट - पृ० - 238
2- कुंवर नारायण - तीसरा सप्तक - खामोशी - हलचल - पृ० - 24

धूप के गुलाबी रंग
पेड़ों की गीली
हरियाली पर छूट रहे,
चांद कट पतंग - सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे गिरता जाता - - - -
किलकारी भर-भर खग
दौड़-दौड़ अम्बर में
किरण डोर लूट रहे
मैला तम चीर-फाड़
स्वर्ण ज्योति मचल रही,
डाह भरी, रजनी के
आभूषण कुचल रही
फेंक रही इधर-उधर
लत्ते - सा अंधकार ।''[1]

प्रकृति से ऐसे साक्षात्कार का दर्शन तीसरा सप्तक की ऐसी अनेक कविताओं में होता है, जैसे रात चितकबरी, वसंत की एक लहर आदि ।

कुंवरनारायण जब सामान्य अनुभव को भी अपनी कविता में व्यक्त करते हैं तो हमें लगता है कि उस अनुभव के माध्यम से वे किसी बड़े अनुभव से जुड़ने का प्रयास करते हैं और यह बड़ा अनुभव उनके भीतर लगातार कहीं-न-कहीं पकता रहता है । अपनी प्रसिद्ध कृति 'आत्मजयी' में कुंवरनारायण जीवन और मृत्यु के मौलिक अर्थों का संधान करना चाहते हैं । वे 'कठोपनिषद' के 'नचिकेता' प्रकरण को आधार बनाते हैं किंतु वस्तुतः इस पुराकथा के शाश्वत पक्ष को ही वे छेड़ते हैं । यद्यपि यह प्रश्न बड़े समाज को उतना नहीं चिंतित करता जितना थोड़े से चिंतनशील व्यक्तियों को किंतु समस्या मूलतः यह मनुष्य-मात्र की है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'आत्मजयी' पर टिप्पणी करते हुए लिखा है - ''इस माने में आत्मजयी अपने युग की केंद्रीय समस्या से जूझता है ।''[2] वास्तव में यह समस्या है, अमर-अर्थ में जी सकने की समस्या । इस

1- कुंवरनारायण - तीसरा सप्तक - जाड़ों की एक सुबह - पृ० - 245 - 246
2- कुंवरनारायण - आत्मजयी - पृ० - 13 - 14

कृति में निश्चय ही विचार अनुभूति के बीच का तनाव भी है और दर्शन तथा अनुभूति के बीच यह द्वन्द्व एक सनातन द्वन्द्व है । कुंवरनारायण की यह एक बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है कि उन्होंने इस विराट् दार्शनिक चिंता को अनुभूति के स्तर पर उतारने का सफल यत्न किया है । पुत्र का पिता से यह निवेदन द्रष्टव्य है -

''लेकिन यदि तुम्हारे अनुसरण से भिन्न भी
मेरी कोई सत्ता है,
तो उसे आक्रांत मत करो । अवसर दो
कि वह पनप सके प्रसन्न
खुली धूप और ताजी हवा में
उसे अपनी शक्ति से नष्ट मत करो
उससे शक्ति ग्रहण करो, क्योंकि तुम्हें
अभी उसके द्वारा भविष्य में भी जीना है
केवल उस तक ही समाप्त नहीं हो जाना है
जिसके आगे केवल मृत्यु है - जीवन नहीं ।''[1]

नचिकेता अपने उद्धत दिखने वाले आग्रह में एक ऐसे सत्य की ओर संकेत करता है जो जीवन की शाश्वतता, प्रवहमानता से जुड़ा हुआ है । व्यक्ति मर कर भी अपने संतान में जीता है और इस प्रकार जीवन अमर बना रहता है, मिटता नहीं ।

'आत्मजयी' कुंवरनारायण के दार्शनिक चिंतन को बड़े ही उन्मथित रूप में प्रस्तुत करता है । उनकी इन पंक्तियों को देखा जा सकता है -

''स्वयं अदृष्ट
इसी माया वस्तु को
बार-बार धारण करूं - इसी भोग सामग्री ग्रहण करूं
इससे छूटा रहकर ।
अपनी अपूर्व रचना में
एक कलाकार ईश्वर की तरह अनुपस्थित
अथाह समय में जियूं -
केवल आत्मा

1- कुंवर नारायण - आत्मजयी - पृ० - 13 - 14

अमरत्व
और आश्चर्य
महाशून्य में निर्वासित
अपने ही सपनों को बनाता मिटाता,
धातक श्रद्धाओं के बीच -
नैसर्गिक,
अनुपम !
अद्वितीय !''[1]

मुक्तिबोध से जुड़ी हुई यह चिंता कुंवरनारायण की वैचारिकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। उन्होंने स्वयं लिखा है - ''अस्तित्व की मैंने दो बुनियादी परिस्थितियां मानी हैं - एक तो, व्यक्ति और अज्ञात है । तथा दूसरी, व्यक्ति और उसका सामाजिक वातावरण । अस्तित्व की भयानक शून्यता से उपजती हैं । पाशकाल का यह वाक्य कि अनन्त विस्तार का अटूट मौन मुझे भयभीत करता है । उस वेदना का आरंभ है जहां मनुष्य अपने को मृत्यु की निश्चित और बाद की अनिश्चित संभावनाओं के बीच बिल्कुल अकेला पाता है जहां वह अपने अल्प और असार जीवन को आने वाले महाशून्य को संतुलन में विचारता है - जहां मैं क्या हूं ? मैं क्यों हूँ ? का चिर असंतुष्ट प्रश्न जीवन की हर आस्था को रौंदता रहता है ।

इससे भिन्न वह वस्तुवादी पक्ष है, जो परोक्ष के प्रति सर्वथा निर्पेक्ष रहकर सामाजिक यथार्थ को ही संपूर्ण सत्य मानकर चलता है : जिसके लिए व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता ही उसके जीवन की परम सार्थकता है जो जीवन के प्रत्यक्ष मूल्यों के आगे किसी अभौतिक रहस्य को नहीं मानता ।

मेरी कविताओं में उपर्युक्त दोनों ही पक्षों से जीवन तथा उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक आदि संचिक, असम्भाविक विवेचना मिलेगी ।''[2] दोनों पक्ष से जिस विवेचना की बात कुंवरनारायण ने कही है उसके बावजूद हम देखते हैं कि उनकी कविता में व्यक्ति और अज्ञात के रिश्ते की गूंज बार-बार सुनायी देती है । उनकी पंक्तियां इस दृष्टि से कितनी अर्थगर्भ हैं -

---

1- कुंवरनारायण - आत्मजयी - पृ० - 106, 107
2- कुंवरनारायण - तीसरा तारसप्तक - सम्पाती - पृ० - 233 - 234

''गर्म देह,
नीलनयन,
क्षितिज पार
उड्डयन
प्राणों में एक जलन :
उस ज्वलन्त आंधी की
स्मृतियां
फिर मिलन जायें - - - -
धीमा कर दो प्रकाश ।''[1]

सूर्य तक उड़ने और उसके ज्वलन्त पिण्ड को छूने की अदम्य आकांक्षा व्यक्ति चेतना में सदा से रही है । 'सम्पाती' तो उसका प्रतीक है, कुंवरनारायण जब भी किसी टूटते तारे को देखते हैं, उनके मन की गति सहसा तीव्र हो जाती है । 'टूटा तारा' शीर्षक कविता में उनकी अनुभूति का चित्रण बड़े ही स्पष्ट स्वरों में हुआ है और इस कविता के माध्यम से उनकी अनुभूति के रहस्य-पक्ष का हम निर्भ्रान्त दर्शन कर सकते हैं -

तारा दीखा :
तम के अथाह में वह नन्हीं सी ज्योति-शिखा
मन से कुछ नाता जोड़ गई ।
तारा चमका :
अजनबी परायी दुनिया से ममता आकर
कुछ मोह हृदय में छोड़ गयी ।
तारा टूटा :
आलोक विमज्जित स्फुलिंग की वह दरार
सहसा छाती को तोड़ गयी ।
तारा फूटा :
भू तक झपटी विह्वल चिनगी की दिव्य धार
तम के अलंघ्य को फोड़ गयी ।
तारा खोया :
पर गति उसकी मेरी जीवन गति सहसा
अज्ञात दिशा में मोड़ गयी ।''[2]

1- कुंवरनारायण - तीसरा सप्तक - सम्पाती - पृ० - 262
2- कुंवरनारायण - तीसरा सप्तक - टूटा तारा - पृ० - 263

विजयदेव नारायण साही के काव्य में आध्यात्मिकता

श्री विजय देव नारायण 'साही' नई कविता के दौर में कई अर्थों में एक अत्यन्त विशिश्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न कवि हैं । यद्यपि सप्तकों के क्रम मं उनका 'तीसरा सप्तक' प्रकाश में आया है । किंतु एक कवि विचारक और लेखक के रूप में वे बहुत से दूसरे सप्तक कवियों के समकालीन और सहसर्जक रहे हैं । प्रयाग से उठने वाले नई कविता के आंदोलन से वे गहराई से जुड़े रहे हैं, जहां एक ओर वे नई कविता से सम्बद्ध सक्रिय संस्था के प्रमुख सदस्य रहे, वहीं दूसरी ओर उनका व्यक्तित्व समाजवादी आंदोलन और समाजवादी विचारधारा से गहराई से जुड़ा रहा । वे 'नई कविता' नामक पत्रिका के सम्पादक द्वय में से भी एक रहे । प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य से प्राध्यापक होने के नाते उनका अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान भी अत्यन्त विशद् और आधुनिक रहा है । इन घोर विविध आयामी पक्षों को अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट किए हुए वे एक ऐसे कवि हुए हैं, जिनकी मूल दृष्टि भारतीय चिंता धारा के कुछ शाश्वत तत्वों से अपनी ऊर्जा ग्रहण करती रही है । इन तत्वों का जब हम गहराई से अनुशीलन करते हैं तो उनमें आध्यात्मिकता का रस प्रारंभ से ही देखने को मिलता है । जैसे दुःख और करुणा का एक स्त्रोता उनकी कविता में प्रारंभ से ही फूटता नजर आता है । यह एक ऐसा स्त्रोत है, जो उनकी कविता में कभी सूखता नहीं । दर्द को जिस पवित्र धरातल पर रखते हुए वे अपने जीवन में जीते हैं उसे साधारण सी चीज नहीं कही जा सकती । उन्होंने 'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में लिखा है – ''मेरी कविता का आधार आस्था है ।'' यूं तो वे हर दृष्टि से सांसारिक व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, किंतु उनके अंतःसंरचना में कुछ ऐसे सूत्र अवश्य हैं जो अध्यात्म के अनुभव से जुड़े हुए हैं । 'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में अध्यात्म को लेकर उन्होंने कुछ रोचक बातें कही हैं । ''बीसवां शीलः पश्चिम से छूटना असम्भव दीखता है । अध्यात्म के बिना विस्तार नहीं है, यह भी पश्चिम ने कहा है और बासी है । अध्यात्म और भौतिकवाद में समन्वय होना चाहिए, यह भी पश्चिम ने कहा है और यह भी बासी है । केवल भौतिकवाद में निस्तार है, यह भी पश्चिम ने कहा है । लेकिन नया है । इक्कीसवां शीलः कविता राग है । राग माया है । माया और अध्यात्म में बैर है । अतः आध्यात्मिक कविता असम्भव है, जो इसमें दुविधा करते हैं, उन्हें न माया मिलती है न राम । ऐसा हाल छायावादियों का हुआ । इससे शिक्षा लेनी चाहिए । इन पंक्तियों से जो ध्वनि निकलती है, वह ठीक वैसा ही नहीं है, जैसा साही का व्यक्तित्व था, उनके व्यक्तित्व में एक गहरे अध्यात्म का

समावेश गहरे स्तरों पर था, जिसे वे जीते थे और जो उनके सृजन में हठात् झलक आता था -

"अगर केवल प्यार ही होता,
तो उसे कह डालता !
यह अपरिमित ज्वार
जो तन तोड़ता, खिंचता, उमड़ता
विवश उठता और गिरता
मींजता है परिधि को
केवल सतह है यह
सतह है केवल !
इसके तले
अरे क्या डूबा हुआ है शान्त वह, असहाय,
जो इस महागति में
सिर्फ अपनी शान्ती से रह-रह करकता है ?
आह, जो रह-रह करकता है
क्या है ?
अगर केवल दर्द ही होता
तो उसे सह डालता ।"[1]

जो प्रश्न साही पूछते हैं कि सतह के बहुत नीचे गहरे तल में जो डूबा हुआ है, जो अत्यंत शांत और अहाय है किंतु जो इस महागति में अपनी शांति सह रह-रह करकता है वह क्या है ? और फिर साही लिखते हैं -

"यह अतल आघात से भी तीव्र,
यह अतीन्द्रिय आंधियों से भी अधिक उद्दीम
प्राणदायिनी ज्वाल !
स्वर्ग से उतर आयी जो आज मेरे भाल -
तिरोहाकुल, दुर्नियंत्रित, लक्ष्यहत, अविराम,
जिसको हर किनारा अग्निगर्भ
हर कगारा अतल है ।"[2]

1- विजयदेव नारायण साही - तीसरा सप्तक - दर्द की देवायगा - पृ० - 281

2- विजयदेव नारायण साही - तीसरा सप्तक - दर्द की देवायगा - पृ० - 282

यह एक ऐसा स्वर है जिसे हम सामान्य पार्थिव जीवन का स्वर नहीं कह सकते । यह मानवीय अनुभव का ऐसा धरातल है, जिसमें हम अपेक्षाकृत अधिक उदात्त, अधिक सार्वभौम और अधिक व्यापक अनुभव को रूपायित होते देखते हैं । ऐसा स्वर उनकी अन्य कविताओं में भी देखने को मिलता है -

> ''सच मानो प्रिय,
> इन आघातों से टूट-टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं,
> कितने कमरों में बंद हिमालय रोते हैं
> मेजों से लग कर सो जाते कितने पठार
> कितने सूरज गल रहे अंधेरे में छिप कर,
> हर आंसू कायरता की खीझ नहीं होता ।''[1]

इन पंक्तियों में यद्यपि कवि ने मानव जीवन के एक सहज अनुभव को व्यक्त किया है किंतु उसका स्तर सामान्य नहीं है । साही की कविता में यह जो एक अंतरवर्ती करुणा की धारा है, वह उन्हें एक नये प्रकार के अध्यात्म से संवंचित करती है । उनकी कविताओं का संकलन जो 'मछली घर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ उसमें और दूसरा सप्तक में संकलित बहुत सी कविताओं में एक उर्ध्वगामी स्वर है, जो उन्हें एक पार्थिव धरातल से काफी ऊंचाई पर ले जाता है । इन पंक्तियों में उस स्वर की स्पष्ट पहचान की जा सकती है -

> ''मुझे देखो :
> यह कि पूंजीभूत मैं अब भी बचा हूं आज ।
> मुझे देखो :
> यह कि इस दिशिहीनता को भेंटता - सा
> जगमगाता हुआ मैं अस्तित्व हूं निर्व्याज ।
> सिंधु से आहूत मैने दिया पूरा सिंधु,
> अग्नि से अभिभूत मैंने दी बराबर अग्नि,
> शक्ति से आविष्ट मैंने दी अनवरत शक्ति,
> किंतु फिर भी हर थकन पर
> और भी वत्सल स्वरों में
> क्या नहीं मैं याचता ही रहा हूं अनिमेष :
> और कितनी प्यास, कितनी प्यास है, प्यासे हुताशन, शेष ?''2

1- विजयदेव नारायण साही - तीसरा सप्तक - हिमालय के आंसू - पृ० - 285

2- विजयदेव नारायण साही - तीसरा सप्तक - विषकन्या के नाम - पृ० - 319

इन पंक्तियों में जो व्यंजनाएं हैं, जो संकेत हैं, हजार थकन के बाद भीजिस वत्सल स्वर का उद्‌घोष है, वह बिना एक आत्मवान् व्यक्तित्व के संभव नहीं है ।

'साही' की परवर्ती कविताओं का संकलन उनके मरणोपरांत 'साही' नाम से प्रकाशित हुआ । इस संकलन में अनेक कविताएं उनकी ऐसी व्यंजनाओं से भरी पड़ी हैं, जिनका धरातल पार्थिवता से बहुत ऊपर है, उनमें ऐसे स्वरों की अनुगूंज है, जो दिगंत व्यापी हैं, जो काल और देश का अतिक्रमण करते हैं, इतिहास जिनमें संस्कृति बनता नजर आता है । इन पंक्तियों में ऐसा ही एक स्वर सुनाई पड़ता है -

''मैंने बहुत पहले
सारे तन्तु काट दिये हैं
और इस अपर्याप्त शरीर में
सिर्फ दिमाग बनकर
उम्र गुजारता रहा हूं -
यह तवे की तरह तपता हुआ सर
कुम्हलायी हुई उंगलियां
और सिकुड़े हुए पैर -
अब इनमें केंचुल के अलावा
रह ही क्या गया है ?
मैं इस सबमे से
वैसे ही गुजर जाऊंगा
जैसे बांस के जंगलों
में से हवा गुजर जाती है ।''[1]

इन पंक्तियों में बांस में से गुजर जाने वाली हवा की भांति जिस 'मैं' की ओर इशारा किया गया है । यह 'मैं' बहुत अंशों में उपनिषदों में वर्णित आत्मा जैसी चीज ही तो है। यह 'मैं' अह्म से युक्त व्यक्ति का साधारण 'मैं' नहीं है । इस कविता का शीर्षक ही है, मृत्यु के लिए जैसे गीता में आत्मा के विषय में कहा गया ''वासांशि जीर्णाक यथा विहायः, नवानि गृहजात नरो परांणि ।

1- विजयदेव नारायण साही - साखी - मृत्यु के लिए - पृ० - 44

कुछ उसी प्रकार की व्यंजना इस में में निहित है, इस तरह की और अनेक कविताएं हैं, जिनमें एक आध्यात्मिक व्यक्ति का बेलौस स्वर गूंजता है । कविता के एक छोटे से अंश में रेखांकित किया जा रहा है -

''न जाने कितने घुमावों से निकलकर आया हूं मैं
हर घुमाव के बाद एक चौराहा है
और हर चौराहे पर थोड़ी देर के लिए
एक नया आसमान
प्रतिच्छायित होता है ।
और फिर उसके बाद रास्ता
जो हर हालत में घर पहुंचाता है
चाहे हम जिधर से चलना शुरू करें ।''[1]

इन पंक्तियों में जिस 'घर' की बात की गई है, वह घर कोई सामान्य घर नहीं है । वह एक ऐसा प्रतीक है जो आत्मा के गुही निवास की ओर संकेत करता है और इन पंक्तियों को पढ़ते हुए हमें सहसा 'अज्ञेय' की कविता 'आंगन के पार द्वार' और 'द्वार के पार आंगन' की याद आती है । न जाने कितने घुमाव के बाद एक चौराहा है और हर चौराहे पर थोड़ी देर के लिए एक नया आसमान प्रतिच्छायित होता है और फिर उसके बाद एक रास्ता 'अज्ञेय' की कविता 'सम्पराय' में भी कुछ इसी तरह की ध्वनियां हैं ।

अपनी प्रसिद्ध कविता - 'मेरे साथ कौन आता है ?'' में 'साही' लिखते हैं -

''मेरे साथ कौन आता है ?
मैं फिर उन कान्तारों की यात्रा करने जा रहा हूं
जहां बरसों मैं भटक चुका हूं ।
मैं मानता हूं कि वहां मेरे पदचिन्हों के अलावा
कुछ नहीं मिलेगा ।
लड़खड़ाते हुए मैंने जिस चट्टान पर हाथ टेका था
वहां मेरी जख्मी उंगलियों की छाप
अभी भी होगी

1- विजयदेव नारायण साही - साखी - सुवर्ण रेखा नदी - पृ० - 63

और वह पगडण्डी भी
जो कहीं ले नहीं जाती
सिर्फ जिसे हम जानते हैं
उससे परिचय थोड़ा और घना कर देता है ।
मेरे साथ कौन आता है ।''[1]

कान्तारों की यह भटकन 'साही' के व्यक्तित्व को एक ऐसा आयाम देती है, जहां वे बहुत अकेले भी दिखते हैं और बहुत भीड़ में बहुत गहरे जिज्ञासु भी सामान्य अवस्थाओं से हटकर कुछ गहरे प्रश्नों से टकराने वाला व्यक्ति ही यह चुनौती भरा सवाल उठा सकता है कि मेरे साथ कौन आता है ?

भाषा - शिल्प

प्रयोगवादी कवियों ने भाषा, छन्द प्रतीक, अप्रस्तुत आदि के क्षेत्रों में प्रयोग किए हैं । भाषा के क्षेत्र में इन कवियों ने अपने शब्द भण्डार की वृद्धि के लिए विज्ञान, मनोविज्ञान, देश-विदेश की चित्रकला, ग्रामीण और बजारू शब्दों का काव्य की भाषा में प्रयोग किया है । प्रयोगवादी कवि भाषा को अपने काव्य का प्रथम आयाम मानते हैं । भाषा के संबंध में इनकी यह मान्यता ठीक ही है कि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यर्थ के अतिरिक्त लक्षणाएं और व्यंजनाएं होती हैं, संस्कार और ध्वनियां भी होती हैं । किंतु यह कहना कि शब्द का वैयक्तिक प्रयाग भी होता है और प्रेरणा का माध्यम बनता है ठीक नहीं है ।[2]

प्रयोगवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने अपने काव्य की वस्तु और शिल्प द्वारा अनन्त संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त किया है ।

'कुछ और कविताओं' में पहले भूमिका बांधी गयी है, शमशेर भुवनेश्वर को सम्बोधित करते हुए भी खुद से ही ज्यादा बातें करते हुए दिखाई देते हैं । शब्दों के मितव्यय के बदले छोटा सा भाषण दे डाला है -

---

1- विजयदेव नारायण साही - साखी - मेरे साथ कौन आता है ? - पृ० - 79
2- डॉ० जगदीश नारायण त्रिपाठी - हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां - पृ० - 144 - 145

''न जाने कहां किस लोक में आज, जाने किस
सदाव्रत का हिसाब बैठे तुम लिख रहे होंगे (अपने भावों में)
जहां पता नहीं प्राप्त भी होगा
तुम्हें कोरी चाय या एक हरी पुड़िया का बल
भी ? - - - हिसाब; मसलन : ताड़ी कितने
की ? - - - कितने की देसी ? - - और, रम ? - - -
कितनी अधिक-से-अधिक, कितनी कम-से-
कम ? कितनी असली, कितनी - - - - ।

इस भूमिका के बाद - जिसकी वाक्य - रचना और विरामों में शिल्प का मुलम्मा है, निखार नहीं, - वह शुरू करते हैं - इंसान रोटी पर ही जिन्दा नहीं इत्यादि ।[1]

'अज्ञेय' की कविता भाषा का आधार बोल-चाल की भाषा है, जिसमें अलंकृति अथवा गरिमा नहीं है, लोक - जीवन की शब्दावली तथा मुहावरे हैं, शिल्प का रूखापन, खुरदरापन है --

''मेरा भाव - यंत्र
एक मचिया है सूखी घास - फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान --
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो ।''[2]

'अज्ञेय' की कविता की भाषा में यह 'नान-यू' तत्व (निम्न वर्गीय जीवन से लिया गया शब्द समूह) बराबर प्रधान रहा है । प्रतीकों, बिम्बों, अभिप्रायों के चयन और सामान्य शब्द प्रयोग में उनकी दृष्टि अधिकार लोक-जीवन की ओर उन्मुख दिखाई पड़ती है । 'ठाठ फकीरी', 'मंगनी', 'हुनरमंद', 'घुड़का', 'नंगी डाकिनी', 'कुलबुलाती', 'गाला हमने एक कुँआँ', 'झौंसी', 'मनियारी', 'लकदक', 'अंटी', 'टोये', 'डाँगर' भरसाते हैं', 'पहलेज', - प्रयोग' अरी ओ करूणा प्रभामय' में मिलते हैं -- पर जिन्हें 'शेखर' अथवा 'नदी के द्वीप' में ढूँढना कठिन होगा । 'औद्योबिम बस्ती' शीर्षक कविता का एक अंश है ।

1- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 88 - 89
2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 82

"बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर - सी
ठिलती चलती जाती है ।"[1]

यहाँ लदी मालगाड़ी के चित्र को कवि 'रँभाती अफराये डाँगर' के माध्यम से उभारना चाहता है । इससे पता चल जाता है कि औद्योगिक बस्ती तो है लेकिन किसी ठेठ देहाती इलाके में स्थित है । ऐसे बहुत से भाषा - प्रयोगों द्वारा अज्ञेय ने छायावाद से अपने आप को अलग किया है ।

" कविता की भाषा पाठक या श्रोता को बिम्बों अथवा भाव चित्रों का आधार प्रदान करती है, जिस पर भावात्मक ढाँचा वह (अर्थात पाठक) बहुत कुछ स्वयं बनाता है। इसीलिए कविता की भाषा का बहुशिल्पित होना दोष है ।"[2]

कविता की भाषा 'नान यू' तत्व के प्रयोग का एक कारण हम और देख सकते हैं । परंपरागत साहित्यिक संवेदना को तोड़ने के लिए 'अज्ञेय ने प्रथमतः कविता के माध्यम को तोड़ा । नवलेखन की स्थिति नयी कविता के माध्यम से संभव हो सकी है । छायावाद का प्रभाव क्षेत्र भी कविता था । छायावादी काव्यभाषा को तोड़ा जाना इस दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक था, किसी भी नये भाव-संचरण के लिए । 'अज्ञेय' ने इस स्थिति को समझा और भाषा का नया संस्कार दिया, ऐसा संस्कार जो बोल-चाल की भाषा का था । पर इस मौखिक भाषा को जनभाषा कह-समझ कर ही वे संतुष्ट नहीं रहे, वरन् उसके माध्यम से उन्होंने समूची काव्य-संवेदना का परिष्कार किया ।

"कुल मिलाकर 'अज्ञेय' की कविता भाषा सहज लोक प्रचलित तथा परम्परागत शिल्प प्रविधि से विहीन है और भाषा के क्रांतिकारी प्रयोग से उन्होंने कविता को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की है ।"3

कविता की भाषा का केन्द्रीय तत्व भावचित्रों अथवा बिम्बों का विधान है ।

1- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्यभाषा पर तीन निबंध - पृ० - 83
2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्यभाषा पर तीन निबंध - पृ० - 84
3- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्यभाषा पर तीन निबंध - पृ० - 85

''भाषा की प्रकृति अपने आप में अमूर्तन की है । शब्द अंततः किसी मूर्त वस्तु अथवा स्थिति के अमूर्त संकेत भर होते हैं । इस प्रकार सारी भाषा अमूर्तन और प्रतीकन की क्रिया है । यह प्रक्रिया जीवित और गतिशील रहे इसके लिए भाषा का साधारण प्रयोगकर्ता चिंतित नहीं रहता, जबकि कवि का संपूर्ण अस्तित्व इस प्रक्रिया के परिचालन पर निर्भर होता है । जन-साधारण के भाषा प्रयोग से जब शब्दों का चरम अर्थ प्रकट होता रहता है, तो कालान्तर में उन शब्दों की गहरी अर्थशक्ति का क्षय हो जाता है । उनका अर्थ रूढ़ हो जाता है । इस रूढ़ अर्थ को तोड़कर शब्दों के ऊपर अनवरत प्रयोग से जमी हुई परतों को फोड़कर कवि उन्हें फिर अमूर्त करता है । यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब-तक की सारी भाषा का ढांचा ही नये युग में पुराना न पड़ जाए । इस प्रकार भाषा का संस्कार और उसकी समृद्धि रचनाकारों द्वारा होती है ।''[1] 'रघुवीर सहाय' के संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका में श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने लिखा है कि ''काव्य के जो भी गुण बताये जाते या बताये जा सकते हैं, अन्ततोगत्वा भाषा के ही गुण हैं ।[2]

किसी नये शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नये अनुभव खण्ड अथवा वास्तविकता के किसी नये पहलू की खोज । 'रघुवीर सहाय' की 'नया शब्द' शीर्षक कविता जैसे इस काव्य-सत्य को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करती है -

> ''कोई और कोई और कोई और - और अब भाषा नहीं --
> शब्द, अब भी चाहता हूं
> पर वह कि जो जाये वहां, वहां होता हुआ
> तुम तक पहुंचे
> चीजों के आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
> स्वच्छन्द अर्थ दे
> मुझे दे । देता रहे जैसे छन्द केवल छन्द
> घुमड़-घुमड़कर भाषा का भास देता हुआ
> मुझको उठाकर निःशब्द दे देता हुआ ।''[3]

1- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्यभाषा पर तीन निबंध - पृ० - 88
2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 93
3- रामस्वरूप चतुर्वेदी - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 102

स्पष्टतः इन पंक्तियों में कोई नया शब्द नहीं है, फिर भी यह एहसास अवश्य होता है कि संकेत किसी नये अनुभव की ओर है ।

भाषा-सम्बन्धी खोज की छटपटाहट का एक और पहलू है, जो 'रघुवीर सहाय' की दूसरी कविता 'फिल्म के बाद चीख' की इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है --

''न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही
यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूं
आग
जब कि हर अभिव्यक्ति
व्यक्ति नहीं
अभिव्यक्ति
जली हुई लकड़ी है न कोयल न राख ।''[1]

यहा आकर भाषा की खोज 'आग' की खोज में बदल गयी है और कविता हाथ की छटपटाहट बन गयी है ।

यदि इस प्रसंग में श्री सुमित्रानंदन पंत की लम्बी कविता 'पुरुषोत्तम राम' की कुछ पंक्तियाँ सामने रखी जायें तो बात और स्पष्ट हो सकती है -

''महत् प्रयोजन सत्य को खो गया हो वाणी का,
आज घुणाक्षर - सी अमूर्त संहृत शैली में
बिम्ब प्रतीक उभरते खग-पग चिन्ह चित्र से
क्षण की करतल रेती में बन - मिट नगण्य से !
कथ्यहीन युग कविता कोरी अलंकरण - भर
जिसमें गूढ़ अरुप वेदना करती रोदन
व्यक्ति अहंता की, युग - स्थितियों से पद - मर्दित ।
मृगजल छाया - शोभा का प्यासा युग-कवि-मन !

1- नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 102

कविता की भ्रष्टता के साथ ही सामाजिक भ्रष्टता का एक दूसरा चित्र --

''धिक यह पद मद्, शक्ति मोह । कांग्रेस नेता भी ।
मुक्त नहीं इससे, -- कुत्तों से लड़ते कुत्सित
भारत माता की हड्डी हित ! आज राज्य भी
अगर उलट दे जनता, इतर विरोधी दल के
राजा इनसे अधिक श्रेष्ठ होंगे ? प्रश्नास्पद !
क्योंकि हमारे शोषित शोणित की यह नैतिक
जीर्ण व्याधि है ।''

भ्रष्टाचार के ये दोनों वर्णन एक ही कविता के अंग हैं, ''और प्रभु यह तुम्हारी दया नहीं तो और क्या है कि इनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं ।''[1]

आज के काव्य-शिल्प में व्यवहार में आती हुई भाषा की अन्तर्मुक्त लय को, यथार्थ में अंतःसंचरित सत्य से जोड़ना ही मुख्य उद्देश्य है । बात-चीत की घनीभूत लय अनुभूति की इसी शर्त के साथ हमारे लिए उपयोगी है ।''[2]

इस सन्दर्भ में 'धर्मवीर भारती' की कविता बात-चीत का एक टुकड़ा 'और' 'विजय देव नारायण साही' की कविता 'एक आत्मीय बातचीत की याद' की तुलना रोचक हो सकती है । भारती की कविता में बातचीत को हुबहू नकलियाने की जगह उसके घनीभूत रूप को 'एकालाप' में ही व्यक्त करती है । कविता की गम्भीर अर्थवत्ता का कुछ आभास इन पंक्तियों से चल सकता है --

''सचमुच जब मैं बातें कर रहा था
तब तुम भी नहीं थे --
सिर्फ वे शब्द थे
जो मुझे तराशते चले जा रहे थे
और तब मैं तुम्हें नहीं, खुद को भी नहीं
उस तीसरे को देख रहा था
जो अक्सर मेरी मृत्यु के भीतर से

1- नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 103
2- नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 106

अनायास उदभुत् होने लगता है ।
और जब - तक मैं बोलता रहा
कलाकृति की तरह
वह निर्मित हो रहा
फिर जब मैं चुप हो गया
बाजीगर की गेंदों की तरह
वह लुंज - पुंज
न जाने किस खोखल में समा गया ।''[1]

बातचीत की प्रक्रिया में कलाकृति की तरह निर्मित होने वाले तीसरे व्यक्ति के सामान ही सम्भवतः घनीभूत लयवाली काव्यकृति का निर्माण होता है, जिसका विशेषण भी भाषा के भीतर से निचुड़ते हुए रक्त की तलाश है ।

शब्द - चयन की दृष्टि से मुक्तिबोध की काव्य - भाषा काफी ऊबड़ खाबड़ लगती है । बोल-चाल के साधारण शब्दों के बीच कुछ इतने अजनबी समासबद्ध संस्कृतनिष्ठ शब्द आ जाते हैं कि जबान लड़खड़ा जाती है । इसीलिए जैसा क़ि केदारनाथ सिंह ने कहा है, ''मुक्तिबोध की भाषा की आधुनिकता पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है ।''[2] निराला की आरम्भिक कविताओं के समान मुक्तिबोध की आरम्भिक कविताओं में भी बिदकाने वाली ऊबड़-खाबड़ भाषा मिलती है, जिसकी आवृत्ति आगे चलकर निराला के 'बेला', 'नये पत्ते' के प्रयोग काल में भी दिखायी पड़ती है । किन्तु इस अटपटेपन के बीच ही निराला ने एक ओर 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' की रचना की तो मुक्तिबोध ने 'चम्बल की घाटी' में 'और 'अन्धेरे में' की । इसमें एक रीतिबद्ध भाषा की चमक, लालित्य, प्रसन्नता आदि गुण भले ही न हों, किन्तु वह प्राणशक्ति असन्दिग्ध है जो सृजनशीलता की अनिवार्य शर्त है । भाषा की प्राणशक्ति का सम्बन्ध भाषा के नाटकीय प्रयोग से है और कहना न होगा कि मुक्तिबोध की प्राणवान् काव्य - भाषा उनके प्राणवान् कथ्य की प्रतिध्वनि है ।

1- नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 106

2- नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 107

बिम्ब - योजना :- छायावाद के अंत में प्रतिक्रिया स्वरूप जब कविता भाव से विचार की ओर और कल्पना से वास्तविकता की ओर मुड़ी तो एकबारगी कविता में वक्तव्य देने की बाढ़ आ गयी । छायावादी चित्र-मोह से मुक्त होकर कविता विचारों के बौद्धिक आलेख में बदल गयी । पंत की 'युगवाणी' इस संक्रमण का ऐतिहासिक दस्तावेज है । यह परिवर्तन आचार्य शुक्ल की आंखों के सामने घटित हुआ । किंतु आश्चर्य है कि इस अवसर पर उन्होंने अपनी मूर्तिमत्ता की कसौटी इस्तेमाल करने में वैसी मुस्तैदी न दिखायी । 'युगवाणी' में पंत की लोक-मंगल-भावना से आचार्य शुक्ल इतने प्रभावित हुए कि औरों को खटकने वाली बौद्धिकता को भी वे साफ अनदेखा कर गये । इस संक्रमण काल में वक्तव्यवादी कविताओं का व्यापक चलन था, यहां तक कि, 'तारसप्तक' की प्रयोगशीलता भी इससे मुक्त नहीं है । आगे चलकर 'नयी कविता' को जब 'लघु मानव' और 'क्षण' के दर्शन के सहारे कविता में 'नये मानव' और 'नये मूल्यों' की प्रतिष्ठा का गम्भीर दायित्व निभाने की जरूरत महसूस हुई तो एक बार फिर वक्तव्यवादी कविताओं की बाढ़-सी आ गयी । यही वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है, जिसमें 'तीसरा सप्तक' के अंतर्गत केदारनाथ सिंह को घोषणा के स्वर में कहना पड़ा कि कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूं बिम्ब अवधान पर । बिम्ब-विधान का संबंध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी । विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त ।[1] तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था, आज की कविता में वही स्थान 'बिम्ब' अथवा 'इमेज' का है ।

प्रयोगवादी तथा नयी कविता का बिम्ब-विधान जीवन के व्यापकतर क्षेत्रों से विकसित होता है । 'अज्ञेय' के बिम्ब अधिक जटिल हुए । ''नदी के द्वीप'' जैसी प्रभावशाली कविता का बिम्ब एक स्तर पर सामान्य प्रकृति क्षेत्र से लिए जाने पर भी स्वयं प्रकृति के अपने संघटन को एक नये स्तर पर परिभाषित करता है और जिस स्थिति के लिए यह बिम्ब है वे तो अपने में एक नयी जीवन-समस्या ही है । व्यक्ति और समाज की अंतर्प्रक्रिया, जो आज के जीवन की एक मुख्य चिंतन है, इस कविता में मानवीय अनुभव के रूप में व्याख्यायित होती है ।''[2]

1- नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 111 - 112

2- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 128

काव्य-बिम्ब की चर्चा का आरंभ हम सबसे पहले उदाहरण स्वरूप एक कविता- और वह भी स्वयं केदारनाथ सिंह की 'अनागत', जो प्रसंगात 'तीसरा सप्तक' में उनके संकलन की पहली कविता है से आरंभ करते हैं -

''इस अनागत को करें क्या ? --
जो कि अक्सर बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है ।''[1]

स्पष्ट है कि अनागत अमूर्त है किंतु कवि-दृष्टि उसकी आहट को अपने आस-पास के वातावरण में देख लेती है और वातावरण के मूर्त संदर्भों के द्वारा अर्मूत अनागत को मूर्त करने का प्रयास करती है । जीवन्त संदर्भों के कारण अनागत एक निराकार भविष्य के स्थान पर जीवित सत्ता मालूम होता है । एक प्रेत-छाया की भांति कभी वह किताबों में घूमता प्रतीत होता है तो कभी रात की वीरान गलियां - पार गाता हुआ । इसी तरह खिड़कियों के बंद शीशों को टूटते, किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटते और बिस्तरों पर पड़ी छाप देखकर उसके आने का एहसास ड़ोता है । उसका आना इतना अप्रत्याशित और रहस्यमय है कि ''हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है ।'' अतः आसपास के वातावरण से चुनी हुयी ये वस्तुएं मन में उस निराकार अनागत की हरकतों का एक मूर्त रूप प्रस्तुत करती हैं । किंतु इन अतिपरिचित चित्रों की लड़ी को छोड़कर कविता सहसा बिंब निर्माण के लिए दूसरे सोपान की ओर अग्रसर होती है -

''फूल जैसे अंधेरे में दूर से ही चीखता हो;
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है ।''2

यहां दो बिम्बों का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से आमने-सामने रखकर एक प्रकार की सायास जटिलता उत्पन्न की गयी है । एक ओर 'अंधेरे में फूल का चीखना' और दूसरी ओर 'दरपनों में उसका कौंध जाना' ! निरसन्देह अपनी ओर से कवि ने यह सबसे जटिल और संभवतः ताजा बिम्ब देने का प्रयास किया है ।

अज्ञेय और नयी कविता के अन्य कवियों के बिम्ब-विधान में क्रमशः प्रस्तुत पक्ष का उल्लेख कम होता जाता है, फलतः रचना की निर्भरता, बिम्ब प्रक्रिया पर बढ़ जाती

1- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 113
2- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 113

है । उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' की 'बावरा अहेरी' में पहली पंक्ति में 'भोर' का उल्लेख आता है, उसके बाद तो भोर का बावरा अहेरी बिम्ब रूप में समूची कविता में परिव्याप्त हो जाता है । एक दूसरी कविता में प्रस्तुत सिर्फ शीर्षक में है, कविता बिम्ब से बनी है। शीर्षक है 'दूज का चांद' ।

> "मेरे छोटे घर-कुटीर का दीया
> तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आंगन में
> सहमा-सा रख दिया गया ।"[1]

छोटे-छोटे बिम्बों से बनी ऐसी प्रकृति कविताएं 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में मिलकर एक विराट् पर आत्मीय प्रकृति चित्र उपस्थित करती है । इस श्रृंखला की एक कविता है - 'धूप' -

> "सूप - सूप भर
> धूम - कनक
> यह सूने नभ में गई बिखर ।
> चौंधाया
> बीन रहा है
> उसे अकेला एक कुरर ।"[2]

'अज्ञेय' के ऐसे सामान्य-साधारण जीवन से लिए गए बिम्ब (जो प्रसाद के सूक्ष्म सौंदर्य-विधायक बिम्बों से साफ तौर पर अलग देखे जा सकते हैं) साधारण मानव - जीवन की प्रक्रिया और अनुभव को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं । बिम्बों के आधार पर निर्मित कविता तथा कविता के विन्यास में यथास्थान सायास बिम्ब-योजना परिणाम यह हुआ कि आलोचकों का ध्यान समूची कविता पर न जा कर कुछ चमकते हुए बिम्बों पर ही केंद्रित हो गया । ऐसा नहीं कि यह आलोचकों का ही अपना दृष्टि-दोष हो, स्वयं कवियों की ओर से ही इस प्रवृत्ति को जैसे बढ़ावा मिला । उदाहरण स्वरूप हम 'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना' की 'वह खिड़की' शीर्षक कविता अपने सारे कथ्य के बावजूद मुख्य रूप से पाठक के मन पर दो बिम्ब छोड़ जाती है -

1- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 128
2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 128 - 129

(क) ''जिंदगी मरा हुआ चूहा नहीं है
जिसे मुख में दबाये
बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाये ।
और मुंडेर पर
कुछ खून के दाग छोड़ जाये ।
(ख) लोकतंत्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाये
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाये ।''[1]

स्पष्टतः ये दोनों बिम्ब अपने-आप में पूर्ण हैं और किसी संदर्भ की अपेक्षा नहीं रखते ।

नयी कविता की इस बिम्ब-प्रक्रिया का बड़ा सुकुमार विकास शमशेर की कविताओं में होता है, जिसमें कहीं-कहीं 'प्रसाद' से अधिक सूक्ष्म विधान और 'अज्ञेय' से अधिक मितकथन देखा जा सकता है । प्रकृति और मानवीय अनुभव की अंतर्प्रक्रिया उनका मूल स्वर है, जिसे वे अपने बहुत से स्पष्ट और कुछ कलात्मक रीति से अस्पष्ट बिम्बों के सहारे परिचालित करते हैं । वस्तुतः शमशेर में बिम्ब से कविता नहीं बनती, वरन् बिम्ब और कविता एकाकार हो जाते हैं -

''एक नीला आइना
बेठोस सी यह चांदनी
और अंदर चल रहा हूं मैं
उसी के महातल के मौन में
मौन में इतिहास
कन किरन जीवित, एक, बस ।
और कविता का अंत होता है -
रह गया सा एक सीधा बिम्ब
चल रहा जो
शांत इंगित सा
न जाने किधर ।''[2]

1- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 125
2- डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 129

गतिमयता के साथ बिम्ब-रचना का सफल रूप प्रायः छोटी कविताओं में सुलभ होता है। चौथे दशक से ही शमशेर बहादुर सिंह इस प्रकार की छोटी बिम्बवादी कविताएं लिखते आ रहे हैं । उदाहरण स्वरूप 1939 की लिखी निम्न कविता -

"सूना-सूना पथ है, उदास झरना
एक धुंधली बादल - रेखा पर टिका हुआ
आसमान
जहां वह काली युवती हंसी थी ।"[1]

आगे चलकर इस बिम्बवादी प्रवृत्ति में और भी सघनता आयी, जिसका उदाहरण है 1956-1958 के बीच लिखी 'सुबह' शीर्षक कविता -

"जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
सजग होकर पसरने लगा
आप से आप ।"[2]

इस प्रसंग में एक और उपेक्षित से कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविता पुस्तक 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में संकलित 1956 से 64 के बीच की छोटी कविताएं टटके बिम्बों की ताजगी के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । जिसका उदाहरण निम्न कविता है-

'जल रहा है,
जवान होकर गुलाब
खोलकर होठ
जैसे आग
गा रही है फाग ।"[3]

एक से अधिक भावों और विचारों की जटिल स्थिति को व्यंजित कर जाते हैं -

नयी कविता के अपने विकास में बिम्ब का क्षेत्र आसमान से लेकर घर के खपरैल तक व्याप्त हो जाता है । 'गजानन माधव मुक्तिबोध', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, और लक्ष्मी कांत वर्मा के प्रयोग नयी कविता की भंगिमा को निखारते हैं । यों प्रगतिवाद दौर में केदारनाथ अग्रवाल के ऐसे प्रयोग विशेष रूप से आकर्षक रहे हैं -

---

1- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 117
2- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 117
3- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 117

"धूप चमकती है चांदी की साड़ी पहिने
मैके में आई बेटीकी तरह मगन है ।"[1]

मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत का बिम्ब विधान रचनात्मक दष्टि से बहुत अलग न होने पर भी संवेदनात्मक विस्तार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । मुक्तिबोध के बिम्बों में भय और आत्मीयता का एक विचित्र मिश्रण है, जो उनके लिए आज की औसत भारतीय निम्न-मध्यवर्गीय जिंदगी का असली रूप है । मध्यवर्गीय जीवन का अंकन वे सामान्य व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में करते हैं । घास काटने की मशीन या लैटरबॉक्स या राख का स्तूप में नयी कविता के साधारण जीवन की पहचान साफ देखी जा सकती है । इन कवियों के बिम्ब-प्रयोग आत्मीय बोध के साथ-साथ मानवीय अनुभव के समकालीन तनाव और बेचैनी को पूरी क्षमता के साथ अंकित करते हैं ।

बिम्ब-विधान के कुछ नये रूप 'रघुवीर सहाय' की कविताओं में विकसित हुए हैं ! 'रघुवीर सहाय' की कविताओं में वर्णन-बिम्ब का अभेद कैसे संभव होता है, यह समझने के लिए निम्न उदाहरण हम दे सकते हैं -

"सिंहासन ऊंचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुंह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष ।"[2] (मेरा प्रतिनिधि)

"एक गरीबी, ऊबी, पीली रोशनी, बीबी
रोशनी, धुंध, जाला, यमन, हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबंद शोर
गाती गला भींच आकाशवाणी
अंत में टड़ंग ।"[3]

(आत्महत्या के विरूद्ध)

1- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 130
2- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 131
3- डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 131

जहां तक मूर्तिमत्ता का प्रश्न है, वह तथा कथित 'बिम्बवादी' काव्य सिद्धांत को अपनाये बिना भी संभव है, जैसा कि कुछ प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवियों की सफल काव्य-कृतियों में दिखायी पड़ता है । उदाहरण स्वरूप 'नागार्जुन' की 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक कविता -

"कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोयी उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त ।
दाने आये घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुंआ उठा आंगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर-भर की आंखें कई दिनों के बाद
कौऐ ने खुजलायी पांखें कई दिनों के बाद ।"[1]

चूल्हा, चक्की, छिपकलियों, चूहों, कौए के अलावा दाने और धुंआ-जैसी रोज की जानी-पहचानी मामूली चीजों के द्वारा दो विरोधी स्थितियों को जिस प्रकार मूर्त किया गया है, वह साधारण कवि - कौशल नहीं है ।

आधुनिक बिम्ब प्रक्रिया में प्रस्तुत अप्रस्तुत अभेद हो जाते हैं । मानव जीवन और अनुभव अपने में जटिल संश्लिष्ट तथा गतिशील प्रक्रिया है, इस अनुभूति को खण्डित होने दिये बिना कविता उसकी पुनर्रचना करती है । और सर्जन का सूक्ष्मतम रूप, यह संश्लिष्ट पुनर्रचना माणिक संरचना या कि काव्यभाषा में सबसे अधिक संभव होती है, बिम्ब-प्रक्रिया से जो अपनी प्रकृति में अर्थ के द्वन्द्व को परिचालित करती हुई भी अर्थ और अनुभव के अद्वैत की ओर उन्मुख है ।

"बिम्ब से साहित्यकों का तात्पर्य प्रायः दृश्य-बिम्ब से होता है; अर्थात् मस्तिष्कगत चित्र लेकिन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सभी एन्द्रिय बोधों और मांसपेशियों की क्रियाओं के बिम्ब होते हैं । इसलिए आप अपने पैरों के चित्र की धारण के बिना भी साइकिल पर सवारी करने का ख्वाब देख सकते हैं । एम्पसन के अनुसार कविता पाठ के लिए मांसपेशियों की ऊर्जा सबसे महत्वपूर्ण है । कविता में बहस केवल मानसिक

1- डॉ० नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - पृ० - 131

नहीं, बल्कि मांसपेशियों की गति के रूप में भी महसूस होती है । 'अतः' का प्रयोग पाठक की नाक पर एक घूंसे के समान है । 'बौद्धिक' कविता को चाहे जितना अवास्तविक और बासी नहीं है । इसलिए यदि 'उषा' बासी नहीं है तो 'अतः' भी बासी नहीं है और उसमें भी उतनी ही बिम्बमयता है ।''

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कविता बिम्ब का पर्याय नहीं है, सामान्यतः जिसे 'बिम्ब' कहा जाता है उसके बिना भी कविताएं लिखी गयी हैं और वे बिम्बधर्मी कविताओं से किसी भी तरह कम अच्छी नहीं कही जा सकती । कविता में बिम्ब-रचना सदैव वास्तविकता को मूर्त ही नहीं करती, कभी-कभी वह वास्तविकता का अमूर्तन भी करती है (वैसे, 'मूर्त' और 'अमूर्त' शब्दों का प्रयोग पर्याप्त अनिश्चित अर्थों में होता है)। कविता में बिम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता, प्रायः वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है । बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर हटी है, बोलचाल की सहज लय खण्डित हुई है, वाक्यविन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अंतर्गत क्रियाएं उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य कथ्य की ताकत कम हुई है ।

प्रतीक-चेतना :- 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में हुआ है । उससे अर्थ ग्रहण करते हुए बालगंगाधर तिलक ने इसका अर्थापन अपने ढंग से किया है --'प्रतीक' (प्रति+इक) का धात्वर्थ यह है - 'प्रतिः' अपनी ओर, 'इक' झुका हुका । जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो; और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को 'प्रतीक' कहते हैं । इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी ईश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिन्ह्, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है ।

''शुक्ल'' जी का कहना है कि प्रतीक सर्वदा अपने से इतर संकेत देता है । समुद्र, चातक आदि की अर्थवत्ता स्वयं इनमें नहीं है, बल्कि इनके द्वारा संकेतिक विशिष्ट अर्थ में है । प्रतीक, रूपक, बिम्ब और मिथक से भिन्न है । रूपक में सादृश्य का भाव रहता है । लेकिन प्रतीक सादृश्य के आगे भावना जगाने का कार्य करता है । प्रतीक द्वारा अदृश्य सारतत्व की अभिव्यक्ति होती है । बार-बार प्रयुक्त होने पर बिम्ब प्रतीक बन जाते हैं । मिथ में कथा-तत्व होता है, प्रतीक में नहीं ।''[1]

''प्रतीक'' की स्थिति लक्षणा और मेटाफर दोनों से ही भिन्न है । 'प्रतीक' किसी एक शब्द के द्वारा व्यापक भाव को व्यक्त करता है या कहिए उस भाव-विशेष का अर्मूतन है । 'प्रतीक' के रूप में 'बौना' का अर्थ हो जाएगा, किसी विकास का अवरुद्ध हो जाना शारीरिक विकास रूढ़ अर्थ में होता है, पर जातीय अथवा राष्ट्रीय संवेदना का विकास रुक जाना 'बौना' का प्रतीकार्थ होगा ।''[2]

प्रतीकों की सामान्यतः दो कोटियां निश्चित हो गयी हैं - परम्परागत प्रतीक और वैयक्तिक प्रतीक । परंपरागत प्रतीक हजारों वर्षों से मनुष्य के भावों, विचारों और कल्पनाओं को वहन करते आये हैं । क्योंकि अलग'अलग देशों की अलग-अलग परम्पराएं होती हैं इसलिए उनके परम्परागत प्रतीक भी अलग-अलग होते हैं । जैसे कि वरुण, त्रिशूल, चेतक, सिंह, चक्रव्यूह आदि इस देश के पारम्परिक प्रतीक हैं तो बुलबुल, गुलशन, शमा आदि अरब देशों के, और मोर, चील, क्रास पश्चिमी देशों के । प्राकृतिक प्रतीक भी देशानुरूप होते हैं - श्यामघटा इस देश के माहौल में एक अर्थ देगी और यूरोप में दूसरा । पारम्परिक प्रतीकों के अतिरिक्त वैयक्तिक प्रतीक भी होते हैं ।

1- बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द - पृ० - 62

2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबंध - पृ० - 92

हिन्दी में 'अज्ञेय' की रचनाओं में प्रतीकों का बाहुल्य है । सागर, मछली, सूर्य आदि को उन्होंने वैयक्तिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है ।

अप्रैल 39 के 'हंस' में 'अज्ञेय' की एक कविता छपी है - 'रहस्यवाद' इसके आरंभ में उन्होंने कहा है, मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर नहीं है । ईश्वर का नाम लेने न लेने से कोई फर्क नहीं पड़ता । मूल बात यह है कि 'अज्ञेय' अपने सीमित अह्म की शक्ति को असीम शक्ति से जोड़ देना चाहते हैं -

''शक्ति असीम है,
मैं शक्ति का एक अणु हूं,
मैं भी असीम हूं ।
एक असीम बूंद -
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है,
एक असीम अणु -
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है ।''[1]

'अज्ञेय' का हुनर शब्दों की सजावट में ही नहीं, प्रतीकों और उपमानों के चुनाव में भी दिखायी पड़ता है -

''ये उपमान मैले हो गए हैं ।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच ।''[2]

'अज्ञेय' की कविताओं में प्रतीक और उपमान सब नए हैं और अधिकांश परम्परागत हैं । कबीरदास के समय से भांवरे पड़ने, डोली पर चढ़कर दुलहिन के जाने की विशेष चर्चा हुई । अज्ञेय कहते हैं ''अरी ओ आत्मा री, कन्या भोली कवांरी, महाशून्य के साथ भांवरे तेरी रची गयी'' । (आंगन के पार द्वार) - चढ़ डोले पर चढ़ी जा रही काल की दुलहिन (इन्द्रधनु)''।[3]

1- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्वाद - पृ० - ~~74~~ 71
2- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्वाद - पृ० - 74
3- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्वाद - पृ० - 74

"रवीन्द्रनाथ' ने निर्झर वाले प्रतीक को खूब लोकप्रिय बना दिया ।" "निझरेर स्वप्न - भंग" में उनका निर्झर शिलाखण्डों का भार व्यर्थ करके अंधकार से प्रकाश में बह निकलता है । 'अज्ञेय' कहते हैं - तुम पर्वत हो अभ्रभेदी शिला - खण्डों के वरीष्ठ पुंज, चापे इस निर्झर को रहो । यह नये रहस्यवाद की विशेषता है । पुराने रास्यवादियों का निर्झर पत्थरों को तोड़कर बह निकलता था । इससे तूलनीय है यह आकांक्षा कि आलोक की अनी कवि के खण्डहर की शिराएं छेद दे (बावरा अहेरी) अथवा यह कुण्ठा भाव कि जो न दे पाया, उसी की नोक बेबस सालती रह जाएगी बिद्ध जीवन की अनी से (इन्द्रधनु)" ।[1]

"सर्वेश्वर में प्रतीक-विधान के लिए एक मोह है, जो बहुत बार मोह में बदल जाता है । बहुसंख्यक प्रतीक बहुत बार प्रयुक्त होने पर सामान्य भाषा की तरह ही हो जाते हैं, उनके अर्थ रूढ़ और पूर्वनिश्चित हो चुकते हैं । 'दो अगर की बत्तियां', 'तांबे के फूल', 'घास काटने की मशीन', 'थरमस', 'सरकंडे की गाड़ी', 'काठ की घंटियां', 'सूरज नट', 'रूप की यह धूप', 'एक बूंद', गोबरैले आतद अनेक ऐसी कविताएं हैं जो पूरे तौर पर प्रतीक विधान से बनी हैं । जहां प्रतीक जितने गहरे फूटता है कविता उतनी सघन होती है । वस्तुतः प्रतीक की बड़ी संख्या यदि बिम्बों के रूप में संक्रांत नहीं हो पाती तो उनमें से अधिकांश प्रतीक अभिप्राय मात्र बन कर रह जाते हैं, जैसी कि इस समय हिन्दी की समकालीन कविता की स्थिति है, जहां ढेर-के-ढेर बौने, मुखौटे, हिमालय, खाली बोतलें और नारंगी के छिलके डूब-उतरा रहे हैं ।"[2]

सर्वेश्वर की कविता लिखने की दो प्रक्रियाएं हैं । एक तरह की कविताएं वे हैं, जहां किसी सामान्य अनुभव खण्ड को पकड़कर वे उसे नयी अर्थवत्ता देते हैं जैसे 'लिपटा रजाई में', 'खाली समय में', 'समर्पण', या कभी-कभी लगता है । दूसरे तरह की कविताएं प्रतीक विधान में से किसी विचार को अनुभव में संक्रांत करना चाहती है ।

प्रतीक जहां किसी एक विशेष भाव को जागृत करता है, वहां बिम्ब अनेक भावों को संश्लेष और उनके विविध स्तरों को अनुभव में एकबारगी संक्रामित करता है । प्रतीक का तात्कालिक प्रभाव इस दृष्टि से तीव्र अधिक होता है, जब कि बिम्ब धीरे-धीरे अर्थ खोलता है और अपनी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में उसे अंतहीन कर देता है ।

1- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 74

2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - नयी कविताएं एक साक्ष्य - पृ० - 23 - 24

इसी प्रकार लक्ष्मीकांत की अच्छी कविताएं वहां बनी हैं जहां व्यंग और सहानुभूति की अंतरप्रक्रिया संतुलन का निर्वाह कर सकी है । मध्यवर्गीय जीवन के प्रति यह सहानुभूति समकालीन भारतीयता की एक बड़ी पहचान कही जा सकती है, लक्ष्मीकांत में जिसके प्रतीक खाली चूल्हा, गीली लकड़ी और उबली खिचड़ी से लेकर ठंडा स्टोव तक हैं । इन प्रतीकों के बीच उभरने वाला व्यंग हंसी को नहीं करुणा को जागृत करता है । और इन प्रतीकों को यदि जाने-अनजाने हँसी का उपकरण मान भी लिया जाए तो यह लक्ष्मीकांत और उनकी कविता के प्रति अन्याय होगा । 'निराला' और 'अज्ञेय' ने अपने उत्तरकाल में अध्यात्म कविताएँ और भक्तिगीत लिखे, क्योंकि उनके मन में भारतीय विराट्ता और उदात्तता की धारणा के प्रति समर्पण था । भारतीय देव-माला में मुक्तिबोध का लगाव भैरों से या कि लक्ष्मीकांत का हनुमान से देखा जा सकता है जो कि सामान्य मध्यवर्गीय जीवन के निष्ठा प्रतीक हैं । इन्हें अपने भक्तों से किसी विशेष स्तवन की अपेक्षा नहीं, वे स्वयं शीरस्थ भारतीय देवी-देवताओं के सेवक-भक्त हैं । भैरों या हनुमान से लगाव आत्मीयता का जितना है उतना श्रद्धा या महानता का नहीं । शायद यही कारण है कि मुक्तिबोध ने भक्ति-गीत नहीं लिखे और लक्ष्मीकांत ने भी अपनी व्यक्तिगत पूजा-निष्ठा के बावजूद अभी तक अध्यात्म काव्य नहीं लिखा है ।

लक्ष्मीकांत की कविताओं में प्रतीक का सुन्दर रूप निम्न कविता में देखने को मिलता है -

''स्टोव आज ठंडा है
हलकी सतरंगी चूड़ियों की छाया
धानिया चूनर में लिपटी तुम्हारी कायाः लक्ष्मी, सावित्री, दमयंती,
बेटर हाफ
केश विच्छिन्नःआद्रा के बादल सेःनभ सीले, घर ऊपर ऑफ
धुँए से भरी आँखेंःस्वाती सा नलकों में कृपालुःहंस के पंखों पर
साफ-साफ
पसीने की बूँदों में लिपटा सुहाग-टीकाःउषा-मंजूषा, जैसे अरुण
हिम गल जाय
माँग की सिन्दूरी लकीरःप्रवाल द्वीप जैसे पिघल जाय ।''[1]

1- रामस्वरूप चतुर्वेदी - नयी कविताएंः एक साक्ष्य - पृ० - 57

मुक्तिबोध ने वैदिक आर्यों के बारे में लिखा था कि उन्होंने सृष्टि की शक्तियों में देवरूप देखा- ''आगे चलकर उन्होंने कण-कण में समाये परमात्मा की भावना की ।''[1] कण-कण में परमात्मा समाया हुआ है, यह ज्ञान वैदिक आर्यों को साम्राज्यवाद के सागर (या नदी) में डुबकी लगाने से प्राप्त हुआ ।

नामवर सिंह की एक स्थापना यह है कि सागर का प्रतीक गतिशील है, ''हर नये स्वप्न-चित्र में वह अपना रूप बदलता जाता है ।''[2] इस प्रकार सागर यदि रूप बदलकर नदी हो जाये तो क्या आश्चर्य ? केवल वह उपचेतन का प्रतीक नहीं हो सकता । नामवर सिंह के अनुसार मुक्तिबोध पूर्णज्ञान की खोज नहीं करते, उन्हें विकासमान ज्ञान चाहिए । ज्ञानी पूर्वज को जो पत्थर मिला, वह उतना ही ऐतिहासिक है जितना सागर । कभी उस पत्थर का रूप धार्मिक था, लेकिन आज भी उसका धार्मिक होना आवश्यक नहीं है ।''[3] रूप बदलते रहते हैं मूल ज्ञान-तत्व अपनी जगह अटल, अपरिवर्तित बना रहता है । आत्मा अविनश्वर है, केवल शरीर बदलता रहता है। पत्थर का रूप धार्मिक था, आन्तरिक तत्व नहीं । पहले यह रूप धार्मिक था, अब धर्म का रूप उतारकर वह अधिक उद्भासित हो उठा है । जो कुछ इतिहास में घटित होता है वह सब ऐतिहासिक है । बड़े से बड़ा रहस्यवादी भी पैदा होता है और मरता है, इसलिए वह भी इतिहास के बाहर नहीं है । इस हिसाब से वह जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है, वह भी ऐतिहासिक है । मुक्तिबोध ने जिस तरह के ज्ञान को पाने की लालसा 'एक स्वप्न कथा' में व्यक्त की है, वह उक्त पद्धति से ऐतिहासिक कहा जा सकता है, किंतु उसका ऐतिहासिक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

मुक्तिबोध कहते हैं -

''सम्भव है, वह पत्थर
मेरा ही नहीं वरन्
पूरे ब्रह्माण्ड की केन्द्र-क्रियाओं का तेजस्वी अंश हो ।
सम्भव है,
सभी कुछ दिखता हो उसमें से,
दूर-दूर देशों में क्या हुआ,

1- मुक्तिबोध - भारतः इतिहास और संस्कृति - पृ० - 17
2- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 218
3- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 218 -219

क्यों हुआ, किस तरह, कहाँ हुआ !!
इतने में कोई आ कानों में कहता है --
ऐसा यह ज्ञानमणि
मरने से मिलता है ।''[1]

यह पत्थर यह नहीं दिखाता कि दूर-दूर देशों में क्या हुआ, वरन् वह पूरे ब्रह्माण्ड की केन्द्र - क्रियाओं का तेजस्वी अंश भी है, वैसे ही जैसे 'कल जो हमने चर्चा की थी' कविता में आत्मा धुले सूर्य का छोटा सा कण, रवि-अन्तर के साक्षात्कारी क्षोभ केन्द्र से सम्बन्धित है, वैसे ही जैसे 'सुमित्रानंदन पंत' : एक विश्लेषण में ऐतिहासिक अनुभूति मनुष्य का सम्बन्ध सूर्य के विस्फोटकारी केन्द्र से स्थापित कर देती है ।

मुक्तिबोध की कवितओं में बाहर की दुनिया हमेशा उनकी भावदशा के अनुकूल रूप बदलकर नहीं आती । अनेक कविताओं में वह तटस्थ होकर बाह्य संसार का चित्रण करते हैं । उनकी बहुत सी कविताएँ प्रतीक योजना के कारण यथार्थ चित्रण में कमजोर पड़ती है । प्रतीकवाद की यह विशेषता है कि वह वस्तु विशेष को किसी अन्य वस्तु का प्रतीक बनाकर उससे यथार्थ महत्व को कम कर देता है । किन्तु इससे भिन्न अनेक रचनाओं में बाहर की दुनिया का वस्तुगत चित्रण मिलता है । 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में कारखाने, उसकी चिमनियों बड़े पुलों, पथरीले नालों, हरिजन बस्ती की गलियों का चित्रण ऐसा ही है । तारसप्तक में 'पूँजीवादी समाज के प्रति' वे अपनी कविता में कहते हैं -

''तम है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ ।''[2]

इसी तरह 'अंधेरे में' कविता में वे कहते हैं -

''कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूं
वर्तमान समाज में (ये) चल नहीं सकता ।
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातुत्रय व्यक्ति का वादी

1- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 219
2- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 230

छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को ।''[1]

परन्तु उन्हें कविता में कहने की आदत है और अधिकतर बिम्ब-योजना द्वारा प्रतीकों की सहायता से, वह पूंजीवादी समाज की आलोचना करते हैं । 'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता में वह हमें एक परी-कथाओं के संसार में ले जाते हैं, जहां कुंआ डसता है, जहां ब्रह्म राक्षसों ने गांधी जी की टूटी चप्पल पहनी है । वसुदेव और कंस की पौराणिक कथा, पन्ना धाय और उसके शिशु की कथा शिवाजी के बंदीगृह से निकलने की कथा प्रतीक-योजना में घुलमिल जाती हैं ।

'विपिन अग्रवाल' की 'नंगे पैर' कविता एक कविता गुच्छ है, जिसमें दर्शन की एक नयी घरेलू भंगिमा उजागर होती है । तत्व एक है जिसका विनाश संभव नहीं और रचना भी नहीं - गीता में आत्मा की व्याख्या और आधुनिक भौतिकी में भूत तत्व की समझ इस बिंदु पर एक है । विपिन यहां विज्ञान और दर्शन को समीकृत करते हुए सोचते हैं कि तत्व विराट् रूप में वैसे ही है, जैसे कि जीवन के लघु रूपों में । बोलचाल की भाषा में बोलचाल का दर्शन और घरेलू जीवन का अंकन उनके यहां एकाकार हो उठते हैं । नयी कविता की इस मूल प्रतिज्ञा को वे बिना किसी दीखावट के चरितार्थ करना चाहते हैं । स्पष्ट ही सरल-से लगते भाषा-रूप और जीवन को कविता रचना उतना ही कठिन है । पहली कविता 'स्थिति' घरेलू जीवन के प्रतीकतम वाक्य से खुलती है - ''सुनती हो'' और फिर दर्शन की व्याख्या में घूम जाती है -

''जो चलता है और नहीं चलता
जो दूर है और पास भी
जो इस सबके भीतर है और
इस सब के बाहर भी
वही वह है जो मैं हूं
जो ज्ञानी है और अज्ञानी भी
जो परिचित है और अपरिचित भी
जो दीखता है और ओझल हो जाता है
जो छूने पर शरीर है वैसे आत्मा
वही वह है जो तुम हो ।''[2]

1- रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद - पृ० - 230
2- रामस्वरूप चतुर्वेदी - नयी कविताएं : एक साक्ष्य - पृ० - 119 - 120

यह एक तरह से अद्वैत - दर्शन का जन - संस्करण है ।

प्रतीक जो काव्य-भाषा के सबसे तेजस्वी तत्व माने जाते हैं, एक सीमा के बाद उत्पात करने लगते हैं । प्रतीकों की बड़ी संख्या यदि भाव-चित्रों के रूप में संक्रात नहीं हो पाती तो उनमें से अधिकांश प्रतीक कथानक रूढ़ि या अभिप्राय (मेटिफ) बनकर रह जाते हैं । जैसी असमय हिन्दी की नयी कविता की स्थिति है, जहां ढ़ेर-के-ढ़ेर बौने, मुखौटे, हिमालय, खाली बोतलें और नारंगी के छिलके डूब-उतरा रहे हैं । इस प्रकार के लावारिस प्रतीक किसी भी काव्य-भाषा और अंततः साहित्य के लिए बड़े ह्रासशील तत्व साबित होते हैं क्योंकि उनका रूप वैसा ही जड़ और निश्चित हो जाता है जैसा कि सामान्य शब्दों का होता है, जिन्हें कवि अमूर्त करने की प्रक्रिया में सबसे पहले कच्चे माल के रूप में उठाता है ।

उपसंहार

अनंतकाल से सूक्ष्म सत्य की खोज के लिए हमारे मनीषी चिंतन और मनन करते रहे हैं, वह सत्य कभी दृश्य रूप में और कभी अदृश्य रूप में हमारे विचारों के अन्तर्मन का मंथन करता रहा है । इसी खोज ने नई-नई चिंतन प्रणालियां विकसित कीं। अनेक शास्त्रकारों ने समय-समय पर सृष्टि के प्रमुख उपादानों की खोज में और उनके सत्य और असत्यों को परिभाषित करने में अपनी सारी सामर्थ्य लगा दी । आध्यात्मिक चिंतन भी हमारे मनीषियों की उसी विचार-श्रृंखला का एक सबसे महत्वपूर्ण शब्द है, जिसे अनेक बार अनेक तरह से परिभाषित करने का यत्न किया गया है । सृष्टि के विकास में समय का जो परिवर्तन आया है उससे जुड़कर अनेक शब्द और दार्शनिक मत अपने अर्थ में विस्तृत और संकुचित हुए हैं । आध्यात्मिक चिंतन का अर्थ करते हुए समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने हमें उस पर सोचने के लिए विवश किया है। यदि हम उसके शाब्दिक बनावट पर विचार करते हैं तो एक सामान्य सा अर्थ निकलता है - अधि + आत्म अर्थात् ''अन्तर्मुखी होना'' और इसी के आधार पर विचारकों ने यह मान लिया कि इस प्रक्रिया से की गई साधना चिंतन तथा विचार प्रणाली को आध्यात्मिक-चिंतन कहा जा सकता है । अर्थात् उस ब्रह्म-तत्व की जिज्ञासा और उसे जानने अथवा प्राप्त करने के लिए किया गया चिंतन आध्यात्मिक चिंतन कहा गया ।

भारतीय-चिंतन के इतिहास में वेदों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । जहां वह वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न प्रतीकों के प्रति अपने को पूजाभाव से समर्पित करता है, कहीं उषा के सौंदर्य को भी देखता है और कहीं वह अज्ञात काल-पुरुष की प्रार्थनों में विभिन्न मंत्रों का उच्चार करता है । उसकी कल्पना में बार-बार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, उषा और संध्या आकार ग्रहण करते हैं, किंतु इतने से वह संतुष्ट नहीं, उसे बार-बार लगा कि यह व्यक्त-प्रतीक निश्चय ही किसी अव्यक्त सत्ता के नाना रूप हैं और स्वतः ही वह उस अव्यक्त के चिंतन में अपने को आत्मलीन करता गया ।

औपनिषदिक चिंतक इसके सबसे बड़े उद्भावक कहे गए और भारतीय उपनिषद् आध्यात्मिक चिंतन के सार माने गए, जहां जीवन, जगत् और ब्रह्म से संबंधित निगूढ़ प्रश्नों से टकराने की बार-बार कोशिश की गई । अनेक सूत्र वाक्यों में कहा गया उपनिषद् आत्मा-परमात्मा की अंतः संबंधों की व्याख्या हैं । उपनिषद्कार ने सृष्टि के कण-कण में ब्रह्म का निवास माना, मूलतः अद्वैत वाद के गूढ़ तत्वों का प्रस्फुटन यहीं से हुआ । ईश्वर में विश्वास उसके प्रति जिज्ञासा आध्यात्मिक-चिंतन की अनिवार्यता थी ।

जीव और परमात्मा के अंतः संबंध के अथवा एकत्व पर सारा अध्यात्म-चिंतन केंद्रित है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म, आत्मा ही एक मात्र मूल तत्व और अंतिम तत्व भी है ।

श्रीमद्भागवत् में यह आत्म और परमात्व तत्व विस्तार से व्याख्यायित किया गया। ब्रह्म का घट-घट व्यापी होना हर पदार्थ में उसी का अंश होना अथवा सब कुछ भगवत् शक्ति से ही निश्क्रिय और संचालित होना उसके चिंतन का मुख्य विषय था । आगे आने वाले प्रायः सभी मुख्य दार्शनिक मतवादों में इसी तर्क और चिंतन की प्रधानता रही । ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, अथवा वेदान्त सब जगह आत्मा-परमात्मा के इस संबंध अथवा सत्य को दृष्टिगत कराने के लिए इसी आध्यात्मिक चिंतन का सहारा लिया गया ।

शास्त्रीय-चिंतन के साथ-साथ व्यावहारिक-चिंतन, ज्ञान को प्रश्रय मिला । हिन्दी साहित्य की भक्ति कालीन कविता आध्यात्मिक-चिंतन की एक प्रकार से व्यावहारिक आधार भूमि है, जहां कवि साधकों ने दार्शनिक आचार्यों द्वारा प्रदत्त सूत्रों, परिभाषाओं और मंत्रों को व्यावहारिक धरातल पर जन-सुलभ बनाने की चेष्टा की है । निर्गुण और सगुण दोनों मार्ग के अनुयायी साधक आध्यात्मिकता की खोज में रत दिखायी देते हैं । इस प्रश्न को लेकर कहीं कोई विवाद नहीं है, किंतु परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में जिस रीति कालीन काव्य का उदय हुआ वह आध्यात्मिक अवधारणा की एक अत्यंत विकसित परम्परा से विच्छिन्न हो चुका था । स्त्री और उसका सौंदर्य, श्रृंगार और अलंकार ही काव्य का विशेष रूप बन गया था, जिसके चलते आध्यात्मिक-चिंतन जैसे गंभीर विषय को इस काल की कविता में स्थान मिलता संभव नहीं हो सका।

उन्नीसवीं शताब्दी में आकर हिन्दी कविता अपने प्रारंभिक काल में भक्ति श्रृंगार और आधुनिकता इन तीनों प्रवृत्तियों को एक साथ लेकर चली, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस काल की प्रारंभिक रचनाओं में रीति और श्रृंगारिकता का बाहुल्य था किंतु स्थान-स्थान पर कृष्ण के बहाने भक्ति अथवा आध्यात्मिक चिंतन का प्रभाव डालने की कोशिश भी की गई, किंतु दूसरी ओर कुछ ऐसी भक्ति परक रचनाएं भी की गई, जिनमें सूर, तुलसी, कबीर और मीरा के भावनागत् निश्च्छलता और समर्पण भी दिखायी पड़ा । इन रचनाओं के प्रतिपाद्य भी प्रायः राम और कृष्ण ही थे, जहां भाषा परिवर्तन के

अलावा आस्था, प्रतीति और विश्वास का वही सघन रूप देखने को मिलता है जो भक्ति कालीन कवियों की कविता में है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में नवजागरण एक अविस्मरणीय महान संदर्भ है । जहां समकालीन परिस्थितियों के दबाव के फलस्वरूप प्राचीन मान्यताएं बदल रही थीं अतः साहित्य के विषय भी परिवर्तित हुए । ब्रह्म के प्रति आध्यात्मिक जिज्ञासा अथवा चिंतन से थोड़ा सा हटकर मनुष्य की समस्याओं की ओर रचनाकार का ध्यान जाने लगा था, परिणामतः भौतिक जीवन के मूल्य और मापदण्डों के पीछे परम्परित और आधुनिक चिंतन भी अपने स्वरूप में बदलाव के लिए विवश हुआ । इस युग के सबसे बड़े रचनाकार 'भारतेंदु' हुए । जहां भारतीय संस्कृति में प्राचीनता और राष्ट्रीयता के प्रति मानव-जाति में एक अंध श्रद्धा जागृत थी, वहीं दूसरी ओर सामाजिक विकारों के प्रति भी कवि के मन में चिंता ने जन्म लिया, आदर्श और यथार्थ, तथा प्राचीनता और नवीनता के प्रति कवि स्पष्ट नीति बनाने को विवश हुआ लोक जीवन से सम्पर्क और उनकी समस्याओं का अवलोकन और निदान की खोज भारतेंदु युग की चिंता का मुख्य विषय बना । यह युग राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संघर्षों और विचार क्रांति का समय था । आगे चलकर साहित्य की बदलती हुई विभिन्न विधाओं पर इसका प्रभाव पड़ा ।

द्विवेदी-युग की कविता में इसका विकसित रूप देखा जा सकता है । राष्ट्रीयता ही इस युग की सबसे बड़ी चिंता थी । मैथिलीकरण गुप्त, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी आदि कवियों ने अपनी कविता में राष्ट्र-प्रेम की गंभीरता और सरस तथा सरल कविताएं लिखीं । सामाजिक परिवर्तन के चलते एक नया दृष्टिकोण विकसित हुआ । ईश्वर के अवतारी रूप को विभिन्न महापुरुषों के रूप में देखा गया । भक्ति-धर्म और चिंतन की बाह्य मान्यताएं तथा कर्मकाण्ड कम हो गए । व्यक्ति के पारस्परिक संबंध अधिक व्यापक हुए और उसी वास्तविक आध्यात्मिकता के दर्शन किए जाने लगे । मानव में ही ईश्वरत्व की अवतारणा हुई । 'मैथिलीशरण गुप्त' और हरिऔध जैसे महान कवियों ने 'राम' और 'कृष्ण' को एक शक्ति सम्पन्न किंतु एक साधारण मानव के रूप में चित्रित किया अर्थात् इस युग तक आते-आते खड़ी बोली कविता के विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक-चिंतन से संबंधित रूप में भी परिवर्तन आया । आध्यात्मिकता को सूक्ष्म-चेतना से संबद्ध किया गया।

छायावादी कवियों ने तो जिस आध्यात्मिक चिंतना की कल्पना की है, उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं । उन्नयन है, दमन नहीं । इन कवियों ने जीवन के वास्तविक सौंदर्य को पहचानने की बात की है । धर्म का वह दृष्टिकोण नहीं रह गया, जो अंधविश्वास को जन्म दे । इन कवियों ने काव्य-वस्तु के रूप में उस चिंतन की व्याख्या करने अथवा उससे संबंधित प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की है । भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य अथवा विज्ञान एवं दर्शन के समन्वय द्वारा मानव की वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा करने की ही चेष्टा की गई है । मध्य युगीन संतों की तरह छायावादी कवि आत्म ब्रह्म और आत्म परिष्कार की खोज न करके अवश्वात्मा तथा विश्व जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुआ । कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों का व्यापक संघर्ष इसी की अभिव्यक्ति का संघर्ष था । इन कवियों के समक्ष आत्ममुक्ति से बढ़कर मानव-मुक्ति की सम्भावना और उसके प्रयत्न ज्यादा महत्वपूर्ण थे । अनुभव को प्रखर करने के लिए वेदना अथवा पीड़ा और 'सम्वेदन तथा बोध' को महत्व दिया इसीलिए इन कवियों ने अधिक व्यापक जीवन दृष्टि उपस्थित करने की चेष्टा की ।

वर्तमान वैज्ञानिक युग ईश्वर के प्रचलित नाम रूप लीलाधाम से पूर्णतः संतुष्ट नहीं हो सका बल्कि उसे मानव जीवन के संदर्भ से संलग्न करके उसकी सार्थकता को जानने अथवा व्यक्त करने की चेष्टा की । सन् 36 के आस-पास जिस साहित्य का उदय हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई । व्यापक अर्थ में दलित मानव का पक्ष लेने वाले सभी साहित्य को प्रगतिशील कहा गया । इसी विचारधारा से जुड़े हुए मार्क्सवादी विचारकों ने सामाजिक सम्प्रक्ति को ही प्रगतिवाद कहा । इस काल में भौतिक परिस्थितियों के विकास के साथ-साथ मानव की आध्यात्मिकता चेतना का भी विकास हुआ । यद्यपि इस काल में धर्म और ईश्वर के प्रति एक गहरी उदासीनता अथवा क्षोभ का स्वर ही गहरा था क्योंकि इनका विचार था कि धर्म शोषक वर्गों का वह अस्त्र है जिसके सहारे वे युग-युग से दलितों और पीड़ितों का शोषण करते आये हैं । इसीलिए अध्यात्म संबंधी उनका विचार भी बहुत स्पष्ट है । मनुष्य से अलग किसी भी सत्ता को न मानना अथवा किसी भी दैविक शक्ति पर उनकी आस्था न होना, उनकी निजी मान्यताओं का परिणाम था । यह सत्य उनके काव्य में पूरी तरह प्रस्तुत है । नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, शमशेर, आदि इस परम्परा के विशेष कवि हैं । इन्हीं चिंतन परक अवधारणाओं के चलते इस काल में आध्यात्मिक चिंतन का पूर्णतः बहिष्कार है । उसे एक मोहक आवरण मानकर बाहर निकलने का प्रयत्न है ।

आधुनिक कविता के विकास में आध्यात्मिक चिंतन से संबंधित बदलती हुई मान्यताओं का आधार जहां समकालीन परिस्थितियां रही हैं वहीं भाषा ने भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है । खड़ी बोली में कविता में, उसके वस्तु और शिल्प में अनंत संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त किया है । इन्हीं संभावनाओं के आधार पर काव्य के प्रतीक और बिम्ब भी बदले हैं । अंततः यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि आधुनिक काल कवि पौराणिकता और आधुनिकता के बीच कहीं आध्यात्मिकता की खोज तो करता है किंतु आधुनिक हिन्दी कविता मूलतः आध्यात्मिक-चिंतन की कविता नहीं है जिस अर्थ में आध्यात्मिक-चिंतन को हमारे प्राचीन मनीषियों ने व्याख्यायित किया है ।

हिन्दी ग्रन्थ सूची

''अ''

श्री अरविन्द का जीवन - इन्द्रसेन

अथर्ववेद - श्री राम शर्मा आचार्य - प्रथम संस्करण 1960 - गायत्री प्रकाशन, गायत्री तपोभूमि, मथुरा

अपरा - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - द्वितीय संस्करण सं० 2009 वि० साहित्यकार संसद, प्रयाग

अनामिका - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - तृतीय संस्करण सं० 2005 वि० भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहबाद

अणिमा - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, नवीन संस्करण 1971 ई०, लोक भारती प्रकाशन प्रकाशन, 15-ए, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद

अन्वेषण - माधुरी भाग I, खण्ड-I, संख्या-I राम नरेश त्रिपाठी

''आ''

आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धांत - सुरेशचंद गुप्त - प्रथम संस्करण जुलाई, 1930, रामकृष्णशर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली - 6

आदिहीन अनंत यात्रा - डॉ० विपिन अग्रवाल

आत्मजयी - कुंवरनारायण - प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी-1965

आंगन के पार द्वार - सच्चिदानंद हिरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, प्रथम संस्करण, 1961 भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

आधुनिक कविता में विषय और शैली - रांगेय राघव - प्रथम संस्करण, मई 1962, राजपाल एण्ड सन्स, पोस्ट बाक्स 1064, दिल्ली - 6

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - डॉ० नामवर सिंह - 1962 - लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग - इलाहाबाद

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० बच्चन सिंह - प्रथम संस्करण 1978, लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, इलाहाबाद

आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द - डॉ० बच्चन सिंह - प्रथम संस्करण, 1983, राधाकृष्ण प्रकाशन

आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान - केदारनाथ सिंह - प्रथम संस्करण, 1971 - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

आंसू - जयशंकर प्रसाद - प्रथम वि० 1993 में प्रकाशित, प्रसाद मंदिर, संस्करण द्वितीय-1975, प्रसाद प्रकाशन प्रसाद मंदिर, गोवर्द्धन सराय, वाराणसी-1

आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां - डॉ० नगेन्द्र - चतुर्थ संस्करण 1974 - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली-110006

आधुनिक साहित्य - नंद दुलारे बाजपेयी - द्वितीय संस्करण संवत् 2013 वि०-भारती भंडार, लीडर, प्रेस, इलाहाबाद

आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा - राम कुमार सिंह - नवम्बर 1965, ग्रंथम, रामबाग, कानपुर

''इ''

इशोपनिषद्भाष्य -

इत्यलम् - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय - प्रथम 1946 - प्रतीक प्रकाशन केन्द्र पोस्ट बाक्स नं० - 62 दिल्ली

''उ''

उत्सवा - नरेश मेहता -

उदयाचल - शम्भूनाथ सिंह - एजुकेशनल पब्लिशिंग कंपनी, चारबाग, लखनऊ

उद्धव शतक - जगन्नाथ दास रत्नाकर - इंडियन प्रेस (पब्लिकेशन) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग

''ए''

एकान्त संगीत - हरिवंश राय बच्चन - पांचवां संस्करण 1954 सेंट्रल बुक डिपो - इलाहाबाद

''ऋ''

ऋग्वेद - श्रीराम शर्मा आचार्य

''क''

कामायनी की भाषा - रमेशचंद्र गुप्त - प्रथम 1964 - अशोक प्रकाशन नई सड़क, दिल्ली

कविता के नये प्रतिमान - डॉ० नामवर सिंह - प्रथम 1968 - राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002

काव्य भाषा पर तीन निबंध - रामस्वरूप चर्तुवेदी -

कंचनमृग - लक्ष्मीकांत वर्मा - प्रथम 1981 - लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी, मार्ग - इलाहाबाद-1

कनुप्रिया - धर्मवीर भारती - प्रथम 1959 - भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व - नरेश मेहता - प्रथम संस्करण - 1972, लोक भारती प्रकाशन - इलाहाबाद

क्योंकि मैं उसे जानता हूं - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय प्रथम 1970, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रधान कार्यालय, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता - 26

कितनी नांव में कितनी बार - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय 1967, प्रथम, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग - वाराणसी

कामायनी एक पुनर्विचार - गजानन माधव मुक्तिबोध - 1973 - साहित्य भारती, 113/4, दिल्ली-110051

काव्य और कला तथा अन्य निबंध - जयशंकर प्रसाद - 1986 भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग

काव्य बिम्ब - डॉ० नगेन्द्र

कामायनी - जयशंकर प्रसाद - प्रथम संस्करण, वि० 93, भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद

काव्य में रहस्यवाद - रामचंद्र शुक्ल -

काबा और कर्बला - मैथिलीशरण गुप्त - द्वितीय संस्करण - साहित्य सदन - झांसी

''ग''

गीता रहस्य - बाल गंगाधर तिलक

ग्रंथि - सुमित्रानंदन पंत - 1939 ई०, इंडियन प्रेस लि० प्रयाग

गुंजन - सुमित्रानंदन पंत - प्रथम संस्करण, भारती भण्डार, रामघाट बनारस सिटी

गीतिका - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - तृतीय संस्करण वि० 2005 भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

''च''

चित्ररेखा - रामकुमार वर्मा - चतुर्थ संस्करण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

चिदम्बरा - सुमित्रानंदन पंत - 1959 ई० - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

चयन - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - 2014 वि०, पटना, बिहार

''छ''

छान्दोग्य उपनिषद -

छायालोक - शम्भूनाथ सिंह - युग मंदिर, उन्नाव

छायावाद की भाषा - रमेशचंद्र गुप्त, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, प्रवीण प्रकाशन

छायावाद के गौरव चिन्ह् - प्रो० क्षेम, प्रथम संस्करण 1100 नवम्बर, 1965, ओम प्रकाश बेरी, ज्ञानवाणी - बनारस

छायावाद : पुनर्मूल्यांकन - सुमित्रानंदन पंत - प्रथम संस्करण 20 मई, 1965, लोक-भारती प्रकाशन 15-ए, इलाहाबाद

छायावाद और उसके चार स्तम्भ - प्रो० कृष्णदेव झारी - 1958, साहित्य प्रकाशन लक्कड़ बाजार, अम्बाला, छावनी

''ज''

जयशंकर प्रसाद - नंददुलारे बाजपेयी - सं० 2015 वि०, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

''ठ''

ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएं - धर्मवीर भारती - प्रथम संस्करण 1952, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद

''त''

तैत्तिरीय उपनिषद्

तीसरा सप्तक - विजय देव नारायण साही - (संपादक) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

तीसरा सप्तक - कुंवर नारायण - (संपादक) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

तीसरा पक्ष - लक्ष्मीकांत वर्मा - प्रथम 1975, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

तारसप्तक - (संकलन कर्ता एवं सम्पादक) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय - द्वितीय संस्करण 1966, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रधान कार्यालय, 9 अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता-27

''द''

दूसरा सप्तक - विजय देव नारायण साही - (संपादक) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

दूसरा सप्तक - (संकलन कर्ता एवं सम्पादक) - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

दूसरा सप्तक - धर्मवीर भारती - (संपादक) -सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

दीपशिखा - महादेवी वर्मा - 1942 - किताबिस्तान इलाहाबाद

द्विवेदी युग का हिंदी काव्य - राम सकल राय शर्मा - सितम्बर 1966, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर - 3

द्विवेदी काव्यमाला - महावीर प्रसाद द्विवेदी

''ध''

धरती - त्रिलोचन शास्त्री

''न''

नयी कविताएं : एक साक्ष्य - रामस्वरूप चतुर्वेदी - 1976 लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग - इलाहाबाद - 1

नयी कविता और अस्तित्ववाद - प्रथम संस्करण 1978 - राजकमल प्रकाशन, प्रा० ल० 8 नेताजी सुभाष मार्ग नयी दिल्ली - 110002

नींद के बादल - केदारनाथ अग्रवाल -

नया हिंदी काव्य - डॉ० शिवकुमार मिश्र - 15 अक्टूबर, 1962 अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर - कानपुर

निराला : नवमूल्यांकन - रामरतन भटनागर - प्रथम संस्करण 1973 ई० - स्मृति प्रकाशन, 61 महाजनी टोला, प्रयाग

निहार - महादेवी वर्मा - सप्तमावृत्ति 1971 - साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड

नीरजा - महादेवी वर्मा - 1936 ई०, इंडियन प्रेस प्रयोग

निराला आत्हन्ता आस्था - दूधनाथ सिंह - प्रथम संस्करण 1972 - नीलाभ प्रकाशन, 5 - खुसरोबाग रोड - इलाहाबाद

निराला ग्रंथावली भाग - दो - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - प्रथम संस्करण, गंगा दशहरा सं० 2030 - न्यू बिल्डिंग अमीनाबाद - लखनऊ

निराला की साहित्य साधना भाग - 2 - रामविलास शर्मा प्रथम 1972 - राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, 8 फैज बाजार, दरियागंज, दिल्ली-6

''प''

प्रेमधन सर्वस्व - प्रथम भाग - बदरी नारायण - उपाध्याय प्रेमधन - प्रथम संस्करण, 1996 वि० प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन

प्रेम प्रसाद- ब्राह्मण खण्ड - श्री प्रताप नारायण मिश्र -

प्रताप लहरी (जागो भाई जागो) प्रताप नारायण मिश्र प्रथम संस्करण 1949 ई०, भीष्म एण्ड ब्रदर्स - कानपुर

प्रतापनारायण ग्रंथावली - भाग - । - प्रताप नारायण मिश्र 2014 वि० - नागरी प्रचारिणी सभा - काशी

पृथ्वीपुत्र - मैथिलीशरण गुप्त - प्रथमावृत्ति 2007 वि० चिरगांव, साहित्य सदन

प्रियप्रवास - अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध - सप्तम संस्करण, सं० 2008 वि० हिन्दी साहित्य कुटीर - बनारस

प्रबन्ध - पद्म - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - तृतीय वृत्ति, सन् 1960 ई० श्री दुलारे लाल भार्गव, अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला

परिमल - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला - प्रथमावृत्ति सं० 1986 वि० गंगा पुस्तकमाला- लखनऊ

पल्लव - सुमित्रानंदन पंत - तृतीय वृत्ति - इंडियन प्रेस लिमिटेड - प्रयाग

पंत काव्य में श्री अरविंद की परिभाषिक शब्दावली - मीरा श्रीवास्तव

प्रेम पथिक - जयशंकर प्रसाद -

परिमल(पंचवटी-प्रसंग) सूर्यकांत त्रिपाठी निराला- 1986 - गंगा पुस्तकमाला 5 लखनऊ

पलाशवन - नरेन्द्र शर्मा - प्रथम संस्करण 1940 ई० द्वितीय संस्करण 1946 ई०, ग्रंथ संख्या-116 - भारती भण्डार, लिडर प्रेस - इलाहाबाद

प्रसाद का काव्य - डॉ० प्रेमशंकर - तृतीय (संशोधित) संस्करण, सन् 1970 भारती भण्डार लीडर प्रेस - इलाहाबाद

प्रगतिशील आलोचना - रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव - 1962, साहित्य भवन प्रा० लि० - इलाहाबाद

प्रयोगवाद और अज्ञेय - शैल सिन्हा - 1969
पंत का काव्य और युग - यशदेव - किताब महल - इलाहाबद

''ब''

बच्चन रचनावली - हरिवंश राय बच्चन - प्रथम संस्करण - 1983 राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नयी दिल्ली-110002
ब्रह्मसूत्र -

''भ''

भारतेंदु युग - रामविलास शर्मा - तृतीय संस्करण जनवरी 1956 - विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड - आगरा
भारतेंदु और अन्य सहयोगी कवि - किशोरी लाल गुप्त - प्रथम संस्करण 1200, 1956 - ओम प्रकाश बेरी, ज्ञानवाणी - बनारस
भारतेंदु हरिश्चन्द्र - श्री ब्रजरत्नदास - तृतीय 2100, 1962 ई० हिन्दुस्तान एकेडेमी- इलाहाबाद
भारतेंदु कालीन हिंदी साहित्स की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - डॉ० कमला कनोडिया - प्रथम संस्करण 1971, विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी चौक - वाराणसी
भारतेंदु ग्रंथावली (भाग - 2) - भारतेंदु हरिश्चन्द्र - दूसरा संस्करण 2000 नागरी प्रचारिणी सभा - काशी
भारतेंदु हरिश्चन्द्र - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - द्वितीय संस्करण 1956 ई० हिन्दी साहित्य प्रेस - इलाहाबद
भारतेंदु और उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवि - किशोरी लाल गुप्त - प्रथम संस्करण, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
भारतेंदु और भारतीय नवजागरण - (संपादक) शंभुनाथ - अशोक जोशी, प्रथम संस्करण 1986 - आनेवाला कल प्रकाशन, 63 राधा बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता-700001
भाषा, युगबोध और कविता - रामविलास शर्मा - प्रथम संस्करण 1981 - वाणी प्रकाशन दिल्ली-110007
भक्ति कालीन कवियों के काव्य सिद्धांत - डॉ० सुरेश चंद्र गुप्त - प्रथम संस्करण 1971- नयी दिल्ली आर्य बुक डिपो

भारती का काव्य - रघुवंश -

भारतीय चिंतन परम्परा - के० दामोदरन - छठा संशोधित संस्करण मई 1960 - हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, प्रा० लि० - बम्बई - 4

भारतीय दर्शन- प्र० बलदेव उपाध्याय - प्रथम संस्करण 1971, वाराणसी शारदा मंदिर

भारतेंदु काव्यामृत - प्रा० रामचंद्र श्रीवास्तव 'चंद्र', डॉ० कैलाश चंद्र अग्रवाल - द्वितीय संस्करण 1973 रवि प्रकाशन - आगरा

भारत : इतिहास और संस्कृति - मुक्तिबोध -

''म''

महाबीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग - उदयभानु सिंह - लखनऊ विश्वविद्यालय

मेरी कहानी- जवाहर लाल नेहरू- सातवीं बार 1985 - सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

महाकवि निराला - संस्मरण श्रद्धांजलियां - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला -

महीयसी महादेवी - प्रो० गंगा प्रसाद पाण्डेय - प्रथम संस्करण, नाग पंचमी 1969 लोक भारती प्रकाशन 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग-इलाहाबाद

महादेवी की रहस्य साधना - विश्वम्भर मानव - प्रथम संस्करण 1944 - किताब महल, जीरो रोड - इलाहाबाद

महाकवि हरिऔध - गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' - तृतीय संस्करण, रामनारायण लाल प्रकाशन तथा पुस्तक विक्रेता - इलाहाबाद

मैथिलशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के व्याख्याता उमाकान्त - प्रथम संस्करण 1958- नेशनल पब्लिशिंग हाउस - दिल्ली

मर्यादा, भाग - 15, संख्या-2 - गया प्रसाद शुक्ल सनेही --

महावीर प्रसाद द्विवेदी और नवजागरण काल - रामविलास शर्मा --

मिलन यामिनी - हरिवंश राय बच्चन - पहला - 5000 जुलाई 1950 भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड - वाराणसी

मधुबाला - हरिवंश राय बच्चन - 1934 - 35 - भारती भण्डार - इलाहाबाद

''य''

यामा - महादेवी वर्मा - किताबिस्तान

युगान्त - सुमित्रानंदन पंत - इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अल्मोड़ा

युग कवि पंत की काव्य साधना - विनय कुमार शर्मा - प्रथम संस्करण 3 अक्तूबर - 1962 हिन्दी साहित्य संसार - दिल्ली

युगपथ - सुमित्रानंदन पंत - भारती भण्डार, लीडर प्रेस - प्रयाग
युगवाणी - सुमित्रानंदन पंत - द्वितीय संस्करण - भारती भण्डार, लीडर प्रेस-इलाहाबाद
युग की गंगा - केदारनाथ अग्रवाल - 1947 ई० बम्बई हिन्दी ज्ञान मंदिर लि०
युगधारा - नागार्जुन

''र''

रश्मि - महादेवी वर्मा - 1932 ई०
रामचरित मानस - गो० तुलसीदार
रसमीमांसा - आचार्य रामचंद्र शुक्त - चतुर्थ संस्करण संवत 2023 वि० - नागरी प्रचारिणी सभा - काशी
रश्मिबंध- सुमित्रानंदन पंत- प्रथम संस्करण 1958, 20वां 1977, राजकमल प्रकाशन
रत्नाकर और उनका काव्य - उषा जायसवाल - द्वितीय संस्करण - ओमप्रकाश बेरी हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पो बॉक्स नं० 70, ज्ञानवाणी - बनारस

''ल''

लहर - जयशंकर प्रसाद - प्रथम बार 1992, भारती भण्डार - प्रयाग
लोकायतन - सुमित्रानंदन पंत - 1964 - राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, दिल्ली-6 - शाखा पटना-6

''व''

विवेकानंद साहित्य - द्वितीय खण्ड - स्वामी विवेकानंद
वृहदारण्यक उपनिषद -
विसर्जन - प्रताप नारायण मिश्र
वैदेही - वनवास - अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध - 1996 - हिन्दी साहित्य कुटीर - बनारस

''स''

साहित्य - नवनीत (कंसवध) - अम्बिका दत्त व्यास -
साहित्य - सुमन - बालकृष्ण भट्ट -
साकेत - मैथिलीशरण गुप्त - 2031 वि० - साहित्य सदन, चिरगांव - झांसी
समाधिता - सुमित्रानंदन पंत - प्रथम संस्करण 1973 - राजकमल प्रकाशन - दिल्ली

सांध्यगीत - महादेवी वर्मा - 1936 ई० - टेम्पुल ऑफ मिनिस्टसिज्म - प्रयाग
सुमित्रानंदन पंत - विश्वम्भर मानव - प्रथम 1951 - किताब महल, जीरो रोड - इलाहाबाद
स्वर्ण किरण - सुमित्रानंदन पंत - 2004 वि० - भारती भण्डार - प्रयाग
साहित्यकार की आस्था और अन्य निबंध - महादेवी वर्मा 1962, इलाहाबाद - लोक भारती प्रकाशन
सागर मुद्रा - सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' - प्रथम संस्करण 1970, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट - दिल्ली
सात गीत वर्ष - धर्मवीर भारती - प्रथम संस्करण 1959 - भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड - वाराणसी
साखी - विजयदेव नारायण साही - प्रथम संस्करण 1983 ईस्टर्न मीडिया सर्विसेज प्रा० लि० के प्रकाशन-विभाग सातवाहन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-110065

''श''

श्वेताश्वतर उपनिषद् -
शिल्प और दर्शन - सुमित्रानंदन पंत - प्रयाग, राम ना० बेनी० - 61

''ह''

हजारी प्रसाद द्विवेदी - कबीर - छठवां संशोधित संस्करण मई 1960, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, प्रा० लि०, बम्बई - 4
हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद - विजय शंकर मल्ल - 1947 सरस्वती मंदिर - बनारस
हंस - आरसी प्रसाद सिंह - जून 1938
हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां - डॉ० जगदीश नारायण त्रिपाठी - हिमालय पाकेट बुक्स प्रा० लि० 5 - नेताजी सुभाष मार्ग - दिल्ली-6
हिन्दी साहित्य का इतिहास - आ० रामचंद्र शुक्ल - संवत् 2025 वि० - नागरी प्रचारिणी सभा - काशी
हिन्दी साहित्य और संवेदना विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रथम 1986 - लोक भारती प्रकाशन - इलाहाबाद
हिन्द - वन्दना - श्रीधर पाठक -

अंग्रेजी की पुस्तकें

इंडियन फिलॉसफी - डॉ० राधाकृष्णन
एसे ऑन दि कर्मयोग - अरविंद घोष
क्रियेटिव यूनिटी - रवीन्द्रनाथ ठाकुर
कम्पलीट वर्क्स, खण्ड - दो - स्वामी विवेकानंद
दि प्रबुद्ध भारत - अगस्त 1957, पी०टी० राजू
दि महात्मा, खण्ड - दो - तेंदुलकर
दि मैन इज हिज वर्ड, गणेश - लाला लाजपतराय
दि गास्पेल ऑफ बुद्धा - कारुस
दि प्रिंसिपल उपनिषद्स - डॉ० राधाकृष्णन
प्रैक्टिकल वेदान्त - स्वामी विवेकानंद
पर्सनैलिटी - रवीन्द्रनाथ ठाकुर
योग एण्ड इट्स आब्जेक्ट्स - अरविंद घोष
लाइफ डिवाइन - अरविंद घोष
सेलेक्शन्स फ्रॉम स्वामी विवेकानंद - स्वामी विवेकानंद

अंग्रेजी पत्र - पत्रिकाएं

प्रार्थना समाज रिपोर्ट, 1911 - 12, जे०एन० फर्कुहार द्वारा मार्डन रिलीजस, मूवमेन्ट्स इन इंडिया
यंग इंडिया - 4 अप्रैल, 1920
यंग इंडिया - 3 मार्च, 1925

पत्र - पत्रिकाएं

1 - नया साहित्य - नवम्बर - 1950

2 - कल्पना - जुलाई - 1963

3 - हरिजन, 29 अगस्त, 1936 - एम०के० गांधी

4 - हरिजन, 27 नवम्बर

5 - सरस्वती - महावीर प्रसाद द्विवेदी

6 - सरस्वती, भाग 19, खण्ड-2 मैथिलीशरण गुप्त

विभिन्न भाषाणों के कुछ अंश

1 - स्वामी विवेकानंद - दि वेदान्त - लाहौर में दिया गया भाषण
2 - लाजपत राय - राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज - खण्ड - एक - दिल्ली - 1966, पृ०-48
3 - तृतीय हिन्दी - सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग
4 - पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण, लखनऊ - प्रथम भाँग
5 - भारती भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेश के अवसर पर सभापति के पद से दिए गए रत्नाकर जी के भाषण का अंश